

BIBLIOTHECA INDICA

COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, NOS. 1201, 1202, 1213, 1237, 1255.

THE CATAPATHA BRĀHMANA
OF THE WHITE YAJURVEDA
WITH THE
COMMENTARY OF ŚĀYANA CR. YA

EDITED BY

ĀCHĀRYA SATYAVRATA SĀMASRAMĪ. F. A. S. B. (HONY.)

*Lecturer and M. A. Examiner of the Vedas in the University
of Calcutta. Honourary Member and Member of the
Philological Committee of the Asiatic Society
of Bengal, Member and Moderator of the Vedic
and the Philosophical Examinations of
the Board of Sanskrit Examinations,
Bengal, Behar & Orissa, Editor,
Author, Commentator, Anno-
tator, Compiler, Translator.
& Publisher of different
Vedic Works &c. &c.*

VOL. VII. KĀṆDA VII.

~~~~~  
CALCUTTA :

Printed by Hitavrata Chāttopādhyāya,  
at the Satya Press, 27, Ghose Lane,

1910.

2170



# ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

। शुक्लयजुर्वेदस्य माध्वन्दिनशास्त्रीयम् ।

श्रीमत्सायणाचार्यकृत-‘विदार्थप्रकाश’-नामभाष्येण  
सहितम् ।



वङ्गदेशीयाख्यायितिककर्मितेरनुमत्या व्ययेन च,  
सामग्र्यमीतियज्ञोनामाचार्यसम्बन्धतश्चर्म्भणा  
यथामति संशोध् सष्टीक्य च सम्पादितम् ।

॥ ७ भा० । ७ का० ॥

( सप्तमपाठ्यात्मकः •दशमो भागः )



2170

कलिकाता-राजन्वत्याम् ;

१८६७-संवत्समायं सत्ययज्ञेषु पठतो मुद्रितम् ॥



BI 145

## ॥ अथ सम्पादकोक्तिः ॥



अथेतस्य सप्तमकाण्डस्याभिधानं हस्तिघट मिति । क्वचित् पुस्तके 'हस्तिघट'-इति च दृश्यते । त मनुस्मृत्युक्ता ०-वेवर्-  
महादयेन स्वकृतैतत्काण्डीयस्यभूमिज्ञायाष्टोपन्यां लिखितं हस्तिघटशब्दबोधनम्, तद्यथा—

"The name of this kānda is rather questionable the one above mentioned is taken from M. as the best authority. The other manuscripts in the Mādhyandina as well as the Kāuva Cākhā call it Hastighata. Is hastin = one ? hastishat = seven ?"

परं न तत्र किं अपि प्रमाणां दर्शितम्, नापि किञ्चित् फलं तादृशपाठस्य प्रकाशितम् । षष्ठे काण्डे भस्मावहरणान्त सुखासम्भरणं विहितम्, विधास्यति चाष्टमे सोमयागशेषभूतं चयनव्यापारम्, इह तु सप्तमे सन्ति व्युद्घनादीनि चयन-पूर्वकत्वानि ।

तानीमानि तैत्तिरीयकसंहितायाः पञ्चमकाण्डीय-द्वितीय-प्रपाठकस्य द्वितीयाद्यनुवाकेषु द्रष्टव्यानि, तत्तद्वाङ्मयेषु च विशेषतः ।

तस्यैतस्य सप्तमकाण्डस्य पाठान्तरादिसम्पादनाय सङ्गृहीतानां मादशंपुस्तकानां मेवं नामधेयानि कल्पितानि—

क = संवत्-१६८०-लिखितं २३-पत्रात्मकं पुस्तकं पूर्णम् ।

ख = स्वात्मपुस्तकसमकालिकम् हीनाम्यकतिपय मपरपुस्तकम् ।

ग = डा०-वेबर-सम्पादितं ( ख० १८४८-सुद्धितम् ) पूर्णम् ।

घ = आजमेर-प्रकाशितम् ( सं० १८५८-सुद्धितम् ) पूर्णम् ।

ङ = पा० स० पु०, १६८१-संबन्धितम्, १११-पत्रात्मकम् पूर्णम् ।

च = पा० स० पु०, ४८-पत्रात्मकम् , सं० १८६८-सि०, पूर्णम् ।

छ = पाश्चायतिकसमितितो लब्धं (ग०६०)८८-पत्रात्मकं पूर्णम् ।

ज = डा०-वेबरेखाविलुताक्षराणि विचित्र ग-पुस्तके समाहृतम् ।

एष्वष्टस्रादयंपुस्तकेषु प्रथमचतुष्कं मूलस्यापरचतुष्कं भाष्यस्येति  
विशेषः ॥

काशीकोटा-राजन्वती ।

सं० १६६७। ख० १४१०।

श्रीसत्यव्रतशर्मा ।

( भावसथः, वामधर्मी, व्याचार्यकः )

# शतपथब्राह्मणसप्तमकाण्डीय- सूचीपत्राणि ।

## ॥ अथ प्रपाठकसूची ॥

|                                           |                    |      |
|-------------------------------------------|--------------------|------|
| अथ प्रथमः प्रपाठकः ( गार्हपत्यवेचनम्—     | १ अ० १ ब्रा० ) ... | १ ४० |
| अथ द्वितीयः प्रपाठकः ( अथ दर्भस्तम्भसुप—  | २ अ० ३ ब्रा० ) ... | १२३  |
| अथ तृतीयः प्रपाठकः ( आत्मन्नमिं युञ्जीति— | ३ अ० १ ब्रा० ) ... | २२७  |
| अथ चतुर्थः प्रपाठकः ( क्रूर्मं सुपदधाति—  | ५ अ० १ ब्रा० ) ... | ३२५  |

## ॥ अथाध्यायसूची ॥

|                                         |                  |          |
|-----------------------------------------|------------------|----------|
| अथ प्रथमाध्यायः ( गार्हपत्यं चेष्वन्—   | १ प्र० १ ब्रा० ) | ... १ ४० |
| अथ द्वितीयाध्यायः ( अथातो वैश्वतीर्—    | १ प्र० ३ ब्रा० ) | ... ७६   |
| अथ तृतीयाध्यायः ( चितो गार्हपत्यो—      | २ प्र० २ ब्रा० ) | ... १५१  |
| अथ चतुर्थाध्यायः ( आत्मन्नमिं युञ्जीति— | ३ प्र० १ ब्रा० ) | ... २२७  |
| अथ पञ्चमाध्यायः ( क्रूर्मं सुपदधाति—    | ४ प्र० १ ब्रा० ) | ... ३२५  |

## ॥ अथ ब्राह्मणसूची ॥



| संख्या | ब्राह्मणनाम.               | प्र० | ब्रा० | अ० | ब्रा० | पृष्ठे |
|--------|----------------------------|------|-------|----|-------|--------|
| १      | यजुर्वेदब्राह्मणम्.        | १    | १     | १  | १     | १      |
| २      | प्रजापतिविक्षिपत्रा०       | १    | २     | १  | २     | ४६     |
| ३      | मैत्रेयब्राह्मणम्.         | १    | ३     | २  | १     | ७६     |
| ४      | प्रायश्चित्तब्राह्मणम्.    | १    | ४     | २  | २     | ६८     |
| ५      | दर्भस्तम्बब्राह्मणम्.      | २    | १     | २  | ३     | १२३    |
| ६      | उद्वेगसत्रब्राह्मणम्.      | २    | २     | २  | ४     | १३३    |
| ७      | सोमब्राह्मणम्.             | २    | ३     | ३  | १     | १५१    |
| ८      | व्यातिथ्यब्राह्मणम्.       | २    | ४     | ३  | २     | २००    |
| ९      | अग्निग्रहणब्राह्मणम्.      | ३    | १     | ४  | १     | २२७    |
| १०     | उपधानब्राह्मणम्.           | ३    | २     | ४  | २     | २७८    |
| ११     | तद्वैषी                    | ४    | १     | ५  | १     | ३२५    |
| १२     | पशुश्रीर्षोपधानब्राह्मणम्. | ४    | २     | ५  | २     | ३६७    |

## ॥ ऋषिनामसूची ॥



| ऋषिनाम.    | प्र. | ब्रा. | क.  | पृष्ठे |
|------------|------|-------|-----|--------|
| बामकदायणः  | १.   | २.    | ११. | ५२     |
| शाङ्खिल्यः | ३.   | २.    | ४२. | ३८४    |

## ॥ अथ कर्णिककासूची ॥

| कणिकाप्रतीकम्.                     | पृष्ठं | कणिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठं |
|------------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| अक्रान्तिमं पितरो लोकं ... २       |        | अथ पुरुषशीर्षं मभिलुहोति ३७५        |        |
| अग्ने तव अगो वय इति ... १५६        |        | अथ पुरुषशीर्षं सुहृद्भ्राति ... ३७१ |        |
| अग्ने दिवो अर्थं मच्छा जिगासीति ८  |        | अथ पुष्करपर्णं सुपद्धाति ... २२६    |        |
| अग्ने यत्ते दिवि वर्चं इति ... ७   |        | अथ पूर्वाङ्गं न दक्षिणाम् ... १०१   |        |
| अग्ने युद्धवा हि ये तव ... ३३६     |        | अथ प्रायश्चीयं निर्वपति ... ६८      |        |
| अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीष मसीति ४ |        | अथ यदन्तराहवनीयं च ... ५३           |        |
| अथ मार्हपत्य एवोषा ... १५२         |        | अथ याः पञ्चोत्तराः ... ३८३          |        |
| अथ गोः। इमं साहस्रं ३७८            |        | अथ ये एते हे यजुषी ... ५५           |        |
| अथ जघनाङ्गे नोदीचीम् ... १००       |        | अथ रुक्म सुपद्धाति ... २३०          |        |
| अथ जघनेन परीत्व। उत्तरतो ६         |        | अथ रेतस्विना उपद्धाति २८५           |        |
| अथ तेनैव पुनः परीत्व ... १०        |        | अथ रत्नं उपद्धाति ... २८८           |        |
| अथ दक्षिणतः। अभ्यावर्त्तस्व १५६    |        | अथ लोकम्पृष्ठा सुपद्धाति ... ११     |        |
| अथ दक्षिणतो गाम् ... ३७३           |        | अथ लोमेष्टका उपद्धाति ... १५४       |        |
| अथ दक्षिणतोऽजम् ... ३७४            |        | अथ विन्ध्योतिष सुपद्धाति २८७        |        |
| अथ दर्भस्तम्ब सुपद्धाति ... १२३    |        | अथ सत्यं साम गायति ... २२८          |        |
| अथ दूर्बेष्टका सुपद्धाति ... २८१   |        | अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत इमे ... २३६    |        |
| अथ द्वियजुष सुपद्धाति ... २८३      |        | अथ सर्वाँषधं इवपति। एतद्दे १३५      |        |
| अथ पञ्चात्। अग्ने यत्ते ... १५७    |        | अथ साम गायति। एतद्दे ... २३५        |        |
| अथ पुरीषं निवपति ... १२            |        | अथ सिकता निवपति ... ४               |        |
| अथ पुरुष सुपद्धाति ... २३२         |        | अथ सूचा उपद्धाति ... २४०            |        |

| कणिकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठे | कणिकाप्रतीकम्.                   | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|----------------------------------|--------|
| अथाजस्य । अथो ह्यमि ...           | ३८०    | अथैन मेजयति ...                  | ३२८    |
| अथातः सम्पदेव । एकविंशति-         |        | अथैनं परिश्रिद्धिः परिश्रयति ४   |        |
| रिष्टका नव यजूश्चि ...            | ५४     | अथैनं प्रसज्यावर्त्तयति ...      | ३३७    |
| अथातः सम्पदेव । चतस्रो ...        | १६६    | अथेना व्याप्यानवनीभ्यां ...      | १५५    |
| अथातोऽधिरोहणस्यैव ...             | २०६    | अथेनां विमुञ्चति । अप्रदाहाय १४  |        |
| अथातो निरुक्तानिरुक्ताणां मेव     | १३६    | अथेनान् विमुञ्चति । आप्ना तं १०३ |        |
| अथातो नैर्ऋतीर्हरन्ति ...         | ७६     | अथेनाहुपदधाति ...                | ३७१    |
| अथात्मानं विह्वयति ...            | १०२    | अथेना मभिवृद्धोति ...            | ३५५    |
| अथान्तरेषोदत्तमर्षं निनयति        | ८१     | अथेनौ सन्निवपति ...              | १३     |
| अथावेः । इम मूर्णाद्यु-           | ३७६    | अथैषु हिरण्यप्रकलान् ...         | ३६६    |
| अथान्श्च शुक्लं पुरस्तात्प्रयन्ति | २०३    | अथोखा सुपदधाति ...               | ३३४    |
| अथान्श्च । इमं मा हिंसी-          | ३७८    | अथोत्तरतः । इव मूर्ध्नि महं      | १५७    |
| अथाघाटा सुपदधाति ...              | २८६    | अथोत्तरतोऽविम् । वरुर्नी ...     | ३७४    |
| अथासन्दीश् शिक्वश्च ...           | ८०     | अथोत्तरतोऽश्वम् । वातस्य ...     | ३७२    |
| अथास्याश्च विक्रता आवपति          | १३     | अथोत्तर मर्द्ध्नि महुद्वय ...    | ३७१    |
| अथास्यां पय आनयति ...             | १४     | अथोत्तरवेदिं निवपति ...          | १५६    |
| अथाहवनीय ऽएव पुष्करपर्णं          | १५३    | अथोत्तराम् । अयं ते योनिः ...    | ६      |
| अथाहवनीय ऽएवाप्यानवतीभ्यां        | १५४    | अथोत्तरार्द्धेन प्राचीम् ...     | १०१    |
| अथाहाभिभ्यः प्रद्वियमाख्येभ्यः    | २०१    | अथोत्तमैरुपतिष्ठते ...           | ३७६    |
| अथैतश्च साये भूतेऽन्नं ...        | २०६    | अथोदत्तमसाग्निनयति ...           | १३३    |
| अथैते हे यजुषी ...                | ५५     | अथोपश्रयां शिष्टा ...            | ३३४    |
| अथैनं विह्वयति ...                | ६६     | अथोलखलसुसले ऽउपदधाति             | ३२६    |
| अथैन मनश्चिनोति ...               | ६      | अथोषान्निवपति । अयं वे ...       | ३      |
| अथैन मभिवृद्धोति ...              | १२४    | अथौदुम्बरी सुत्तरं उपदधाति ।     |        |
| अथैन सुपविश्यामिभिवृद्धोति ...    | २३८    | अन्धस्य त्वौजसा ...              | २४२    |

| कश्चि काप्रतीकम्.               | पृष्ठं |
|---------------------------------|--------|
| अथौदुम्बरी सुत्तरत उपदधाति      |        |
| जगत् रस उदुम्बर ...             | २४१    |
| अदाद्यभोऽवसानं पृथिव्या ...     | २      |
| अपां गम्भन्त्सोदैति । एतद्वापां | ३२७    |
| अपां त्वा ऋचे सादयामीति         | ३८६    |
| अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति    | ३८५    |
| अपां त्वा पाथसि सादयामीति       | ३८७    |
| अपां त्वा पुरीषे सादयामीति      | ३८७    |
| अपां त्वा भस्मन्सादयामीति       | ३८५    |
| अपां त्वायने सादयामीति ...      | ३८५    |
| अपां त्वा योगौ सादयामीति        | ३८७    |
| अपां त्वा सद्ने सादयामीति       | ३८६    |
| अपां त्वा सधस्यौ सादयामीति      | ३८७    |
| अपां त्वा सधिषि सादयामीति       | ३८६    |
| अपां त्वेमन्त्सादयामीति ...     | ३८४    |
| अपां त्वाद्वान्सादयामीति ...    | ३८५    |
| अपाम्पृष्ठ मसि योनिरधे ...      | २३०    |
| अपेत वीत वि च सर्पतात इति       | १      |
| अयथ सोऽग्निः । यस्मिन्त्सोमं .  | ७      |
| अयथैवे त्वा सद्ने सादयामीति     | ३८५    |
| अयथं चाविं चोत्तरत । एतस्यां    | ३७१    |
| अथाटासि सङ्गमानेति ...          | २६१    |
| अष्टाविष्टका उपदधाति ...        | ११     |
| असुन्वन्त मयजमानं मिच्छेति      | ७८     |
| अस्थीनि वै परिभ्रितः ...        | ५      |

| कश्चि काप्रतीकम्.               | पृष्ठं |
|---------------------------------|--------|
| आग्नीधीरन्वाह ,... ..           | २०३    |
| आग्नीं न जुहोति ....            | २३६    |
| आत्मन्नपिं यंङ्गीते चेष्यन् ... | २२७    |
| आप्यागवतीभ्या मभिन्वश्य ...     | २००    |
| आप्यायस्व समेतु ते ...          | १६६    |
| आरुह्यापिं जघनेन स्वयमाह्वसां   | ३८२    |
| इरष्यन्नमे प्रथयस्व जन्तुभिः    | १६१    |
| इवे राये रमस्व ... ..           | ३३५    |
| इष्कर्त्तार मङ्गरस्य प्रचेतसं   | १६१    |
| उत्तान सुप्रदधाति ... ..        | २३३    |
| उदचमन्तां भवन्ति ... ..         | १३३    |
| उदरसुखा । योगैरुत्सुखलम्        | ३३७    |
| जर्ष्मं गृहीतायाम् ... ..       | ३३१    |
| जर्ष्मोऽगपाञ्जातवेदः ... ..     | १६०    |
| ऋचे त्वितीह । प्राथो वा ...     | ३७०    |
| ऋतावान् मिति ... ..             | १६२    |
| ऐक्यविश्वानिर्वेव परिभ्रितः ।   |        |
| यजुर्द्वाविश्वं ... ..          | ५४     |
| एकविश्वानिर्वेव परिभ्रितः ।     |        |
| इदं प्र मासा. पञ्च ...          | १५     |



| कण्डिकाप्रतीकम्.                  | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठं |
|-----------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| एतयोरुभयोर्गृहीतयोः ...           | ३३१    | तश्च रत्नमप्युपदधाति । असौ          | २३३    |
| श्रीदम्बरं भवति । ऊर्ध्वं ...     | ६८     | तं वा उपपास्तमयमादित्यस्य           | २०७    |
| श्रीदम्बरे भवतः । ऊर्ध्वं ...     | ३३०    | तं वा एतम् । अत्र पञ्चपुष्क-        | ६      |
| काष्ठात् काष्ठात् प्ररोहन्ती      | २८२    | तं वा एतम् । इत् ऊर्ध्वं प्राचं     | ३३७    |
| काश्र्यमयी दक्षिणत उप-            | २४०    | तं वै पञ्चपुष्कवन्नमेव सन्नम्       | ७      |
| कूर्ममुपदधाति । ...               | ३२५    | तश्च द्वैके त्रिचिंतं चिन्वन्ति ... | ५४     |
| गां चार्जं च दक्षिणत ...          | ३७२    | त एतत् सत्त्वसामपुरस्ताद्           | २२८    |
| गायत्रेण त्वा हृन्त्सा साद्यामि   | ३८७    | त एतानि सर्पनामान्यपश्यन्           | २३६    |
| गार्हपत्यं चैष्यन् पलाश-          | १      | त एते पश्यवः । तान्नागोप-           | ३७५    |
| चतस्रः सीता यजुषा जघति ।          |        | त एते सर्वे प्राणा यद्वाटा          | २६०    |
| तद्य इमे शीर्षं चत्वारो ...       | १०३    | तत् प्रादेशमानं भवति ...            | ३३२    |
| चतस्रः सीता यजुषा जघति ।          | •      | तथै वैतव्यजमानः । आत्मानं           | ७७     |
| तद्यच्चतस्रसु ...                 | १०२    | तथै वैतव्यजमानः । यत् सत्त्वश्च     | २२८    |
| चतुर्भिः सन्निवपति । तद्य         | १३     | तद्यैश्च गार्हपत्यम् ...            | २००    |
| चित्तं स्थिति । चिन्वति स्त्रिणाः | ५      | तदाहुः । कथं मस्यैता अहो-           |        |
| चित्तो गार्हपत्यो भवति ...        | १५१    | रात्राभ्यामुपहिता ...               | १६३    |
| चित्रं देवाना मुद्गादनीकं         | ३७६    | तदाहुः । कथं मस्यैता अहो-           |        |
| तं यत्र देवाः समस्तुर्वन् ।       | •      | रात्रः सम्यन्ना अन्धूना ...         | १६३    |
| तदस्मिन्नितु सर्वं ...            | ३३३    | तदाहुः । कथं मस्यैतावात्मानौ        | २८४    |
| तं यत्र देवाः समस्तुर्वन् ।       | •      | तदाहुः । कथं मस्यैताः पक्षाः        | १५८    |
| तदस्मिन्नितं प्राचं ...           | २८२    | तदाहुः । कथं मस्यैताः प्रथक्        | १६३    |
|                                   |        | तदाहुः । कथं मस्यैताः सर्वेः        | १६४    |
|                                   |        | तदाहुः । कथं मस्यैताः पक्षा         | ३३४    |
|                                   |        | तदाहुः । कथं मेधं पुरुषः ...        | २८१    |
|                                   |        | तदाहुः । कस्यादभिस्यमात्स्य         | २६१    |

| कडिकाप्रतीकम्.                       | पृष्ठे | कडिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठे |
|--------------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| तदाहुः । केतासा मवञ्जातिनां १६४      |        | ०—० शु तत् ब्रमः ७६                 |        |
| तदाहुः । नैतस्य पुरुषस्य ... २४४     |        | तदाऽएतत् क्रियते । यद्देवा          |        |
| तदाहुः । यत् प्रजा विश्वव्योतिः २६१  |        | ०—० शुं तानि ... २०२                |        |
| तदाहुः । यत् प्रथमा मेव ... २०१      |        | तद्दे योनिः परिश्रितः । उख-         | ६      |
| तदाहुः । यदयं लोको गार्हपत्यो ५६     |        | तं देवा अपौ प्रावञ्जन् ... ५०       |        |
| तदाहुः । यद्सावेव ... २८२            |        | त मभ्यनक्ति । दधा मधुना ... ३२६     |        |
| तदाहुः । यदाग्ने रितः ... १६२        |        | त मुत्तरीर्ह्वनाभिः अन्तरेण २०४     |        |
| तदाहुः । यदिमा आप एतानि ३८३          |        | तं पुष्करपर्शं ऽज्यदधाति ... २३१    |        |
| तदाहुः । यद्योनिः परिश्रितो १५३      |        | तं प्रत्यधं यन्तम् । एतां ... २०४   |        |
| तदाहुः । यद्गतः सिकता ... १६२        |        | तस्य गार्हपत्य एवायं लोकः ५२        |        |
| तदाहुः । यां वै तत् प्रजा ... ३८२    |        | तस्य यद्धरं कपालम् अयंश्च ३२५       |        |
| तदेतदन्नं खट्वा । पुरस्तात् ३६६      |        | तस्य शिर एवाह्ववनीयः । अथ ५३        |        |
| तद्देव झोकोऽभ्युक्तः । तद्दे ... ३३१ |        | तस्याय मेवं लोकः प्रतिष्ठा ५०       |        |
| तद्देवा वै सा प्रतिष्ठा । यां ... ५१ |        | तां वै प्रजापतिनीपदधाति ... २७६     |        |
| तद्देके । उभयत्रैव पलाश्र ... १५२    |        | ता उत्तरवेदौ निवपति । योनि १५६      |        |
| तद्देके ऽन्वाहुः । पुरीष्यासो २०२    |        | ता उभय्य एकविंशतिः सम्यदन्ति १२     |        |
| तद्देकेऽपि । यद्योकिः ... ३७०        |        | ता उभय्यः षोडश्र सम्यदन्ति १०२      |        |
| तद्देके । यं य मेव पशु स्रप० ३७६     |        | ता एता अङ्गुलयः ... ३८८             |        |
| तदात् तत् सत्यम् । आप ... २२६        |        | ता एता एकयास्थानाः ... १३६          |        |
| तदादग्निभ्य इति । बह्वो ... २०२      |        | ता एता दिशः । ताः सर्वत- १५८        |        |
| तदादेते ऽब्यनोपदधाति ... २८८         |        | दा एता यजुष्य इटकाः ... १६५         |        |
| तदाः पञ्चदशपूर्वाः । ता अपस्या ३८२   |        | ता एता यजुष्य इटकाः ... १५८         |        |
| तदा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा          |        | ता नाना मन्त्राभ्यां द्विवपति १५३   |        |
| ०—० शु अस्मात् ते ... २६८            |        | तां न रिक्तां मधेक्षित नेदिक्तां १३ |        |
| तदा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा          |        | तान् पुरस्तात् प्रतीच उपदधाति ३६८   |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठं  | कण्डिकाप्रतीकम्.                | पृष्ठं  |
|-------------------------------------|---------|---------------------------------|---------|
| तान्मेतान्मेतान्मेतान् यद्हीतानि    | ३३१     | यथास्मिन् पुरुषे                | ... २२५ |
| ताभिरेतां दिशं यन्ति                | ... ७८  | तेऽनुवन् । उपतप्त्वाणीत यथेष्टं |         |
| वा मयौ प्रवृत्तानि । यथैवेनं        | ... ५१  | तमः पाप्मान- ...                | ... ७६  |
| तावन्नवीवन् । उप मेतं               | ... २४१ | ते रेतस्त्रिचोर्वलयोपदधाति      | ३२६     |
| तावस्थेताविन्नायी ऽएव वाहू          | २४३     | ते हेके तिरश्चा ऽउपदधाति        | २४२     |
| ता वा ऽएतास्त्रिसोऽनुष्टुभः         | ५५      | त्रयोदशैता यान्तयो भवन्ति       | १२६     |
| ता वै सायं प्रार्तरादधाति           | ... ५२  | त्रिभिरपतिष्ठते । अथ इमे लोका   | २३८     |
| ता हेके परस्त्रादवीचीरुपदधाति       | ८०      | त्रिभिरुपदधाति । अथ इमे         | ३२६     |
| तिष्ठभिः कष्टे चाकष्टे च वपति ।     |         | चीन् कष्टे चाकष्टे च निनयति ।   |         |
| ०—० एतद्ग्नं दधाति                  | ... १३६ | ०—० अपो दधाति                   | ... १३५ |
| तिष्ठभिः कष्टे चाकष्टे च वपति ।     |         | चीन् कष्टे चाकष्टे च निनयति ।   |         |
| ०—० एतद् भिष्वयति                   | १३८     | ०—० वृष्टिं दधाति               | ... १३४ |
| तिष्ठभिस्त्रिष्ठभिर्ऋग्भिर्वपति ।   |         | त्रींस्त्रीशुद्धमवाग्निनयति ।   |         |
| ०—० एतद्ग्नं दधाति                  | १३६     | ०—० अपो दधाति                   | ... १३४ |
| तिष्ठभिस्त्रिष्ठभिर्ऋग्भिर्वपति ।   |         | त्रींस्त्रीशुद्धमवाग्निनयति ।   |         |
| ०—० एतद् भिष्वयति                   | १३७     | ०—० वृष्टिं दधाति               | ... १३३ |
| तिस्र इष्टका उपदधाति । त्रिष्टद्    | ८०      | त्वं यविष्ठ दाशुष इति ।         |         |
| तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्ही        | ८१      | यजमानो                          | ... ३८२ |
| तिस्रस्त्रिसः सीताः कषति            | १०२     | ०                               |         |
| तेऽभि मनुवन् । न वा ऽइतोऽन्या       | ४६      | दशमस्कन्द पृथिवी मनु            | ... २१४ |
| ते चेतयमानाः । एतत् सामा०           | २३५     | दादशभिर्ऋग्भिः कष्टे वपति ।     |         |
| ते चेतयमानाः । एता इष्टका           | ७६      | ०—० एतद्ग्नं दधाति              | ... १३६ |
| ते देवा अनुवन् । न वा ऽइतोऽन्या     | ४६      | दादशभिर्ऋग्भिः कष्टे वपति ।     |         |
| तेऽनुवन् । अन्नं वा ऽअयं प्रेषापतिः | ४६      | ०—० एतद् भिष्वयति               | १३७     |
| तेऽनुवन् । उप तप्त्वाणीत            |         | दादशसीताऽनुष्टुभ्यो कषति        | १०२     |

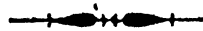
| कठिकाप्रतीकम्.                             | पृष्ठं | कठिकाप्रतीकम्.                          | पृष्ठं |
|--------------------------------------------|--------|-----------------------------------------|--------|
| वाद्ग्रोदचमसान् कष्टे निनयति ।             |        | पुरीष्वासोऽव्यय इति ...                 | ८      |
| ०—० अपो दधाति ...                          | १३४    | पुरुषस्य प्रथमं सुत्सृजति ...           | ३७७    |
| वाद्ग्रोदचमसान् कष्टे निनयति ।             |        | प्रजापतिः प्रजा अद्वजत ...              | ४६     |
| ०—० वृष्टिं दधाति ...                      | १३३    | प्रजापतिरेवोऽग्निः । उभयं ...           | १३६    |
| वाभ्या सुपदधाति । दिपावज-                  | २३     | प्रजापतिष्वा साद्यत्विति । ०—०          |        |
|                                            |        | समुद्रस्येमन्निवर्षां हीमं              | २७६    |
| ध्रुवास्त्रि भरुयेति । तस्योक्तो बन्धुः ३३ |        | प्रजापतिष्वा साद्यत्विति । ०—०          |        |
|                                            |        | पृथिव्या ष्योतिश्मती मिति               | २८७    |
| नमः सु ते निरृते तिग्मतेज इति ७६           |        | प्रत्वेत्वा प्रायश्चीयेनं प्रचरति ...   | ६८     |
| नमोऽस्तु सर्पोभ्यो ये के च ...             | २३७    | प्रत्वेत्वाग्नि सुपतिष्ठते । एतद्वा     |        |
| नानोपदधाति । वे नानाकामा                   | ६५     | ०—० सामिचित एतां ...                    | ८२     |
| निवेशनः सङ्गमनो वक्ष्णा मिति ८२            |        | प्रत्वेत्वाग्नि सुपतिष्ठते । एतद्वा ०—० |        |
| नोपसृशति । पाप्मा वे निरृतिः ८०            |        | सामिचिते वहिर्वेदेति ...                | ३८१    |
|                                            |        | प्रादेशमात्रे भक्षतः । प्रादेश-         | ३३०    |
| पञ्चदशोदचमसान्निनयति ।                     |        | प्राथ्ये यद्द्वीतेऽस्मादन्नसुदचिन्न-    | ३३१    |
| पञ्चदशभिर्हर्गभिर् ...                     | १३८    |                                         |        |
| पञ्चदशोदचमसान्निनयति ।                     |        | वह्निर्वेदिरियं वे वेदिः । आमा          | १५५    |
| पञ्चदशो वे वपः ...                         | १३५    | वह्निर्वेदिरियं वे वेदिः । आपो          | १५५    |
| पवसि पुरुष सुपदधाति ...                    | ३७९    | वाङ्मव्यस्येते । ते नानोपदधाति          | १०     |
| पलाशशाखया अङ्गुष्ठति ...                   | २      | वाङ्मेनाग्नि माहुरति । आमा              | १५४    |
| पशुरेष यदग्निः । सोऽन्नैव ...              | ३३६    | वाङ्मेनाग्नि भीहुरति । आपो वा           | १५५    |
| पशुप्रीर्षाय्युपदधाति पशवो                 | ३६७    | वाङ्मेनेवाग्नि सुत्सृजेत् । इमे ...     | ३७७    |
| पञ्चादग्नेः प्राणालीन. ...                 | २४०    | ब्रह्म जज्ञीर्षं प्रथमं पुरस्तादिति     | २३२    |
| पादमात्रो भवन्ति । अधस्तादं                | ७७     |                                         |        |
| पावकवर्षाः सुक्तावर्षा इति ...             | १६०    | भूरसीति । भूर्हीयं भूमिरसीति            | २८०    |

| कठिकाप्रतीकम्.                          | पृष्ठं | कठिकाप्रतीकम्.                            | पृष्ठं |
|-----------------------------------------|--------|-------------------------------------------|--------|
| मधुवाता ऋतुयुत इति ...                  | ३२६    | यद्देव अतिवर्जति । ०—० प्राणः १५२         |        |
| मही दौः पृथिवी च न इति ...              | ३२८    | यद्देव अतिवर्जति । ०—० रसः १५२            |        |
| मातेव पुत्रं पृथिवीं पुरीष्मि मिति १४   |        | यद्देव सर्वनामैरुपतिष्ठत ... २३७          |        |
| सुखे प्रथमं प्रव्यस्यति ...             | ३७०    | यद्देव सर्वोषधं वपति । एतद्वा १३७         |        |
| यद्दपस्याः पञ्चपुरस्तात्पद्धाति २६०     |        | यद्देव सिकता निवपति । अग्ने ४             |        |
| यद्देव क्रूर्मं सुपद्धाति । प्राणो ३२७  |        | यद्देव सिकता निवपति । प्रजा- १६४          |        |
| यद्देव चित्ते गार्हपत्ये ०—० प्राणः १५१ |        | यद्देव सुचा उपद्धाति ... २४१              |        |
| यद्देव । चित्ते गार्हपत्ये ०—० रसः १५१  |        | यद्देव खयामाहसा सुपद्धाति ।               |        |
| यद्देव । दर्भेक्ष्म सुपद्धाति १२३       |        | प्रजापतिं ... २७८                         |        |
| यद्देव । दूर्वेष्टका सुपद्धाति २८१      |        | यद्देव खयमाहसा सुपद्धाति ।                |        |
| यद्देव पशुश्रीर्षाण्युपद्धाति ।         |        | प्राणो वै ... २७८                         |        |
| प्रजापतिर्वा ... ३६८                    |        | यद्देव वात्मानं विज्जवति । य इत्ये- १०३   |        |
| • यद्देव पशुश्रीर्षाण्युपद्धाति ।       |        | यद्देव वापस्या उपद्धाति ... ३८४           |        |
| या वै ताः ... ३६७                       |        | • यद्देव वावन्नापयति । अग्निर्देवेभ्य २०५ |        |
| यद्देव पुरुष सुपद्धाति ... २२३          |        | यद्देव वावन्नापयति । असौ वा २०५           |        |
| यद्देव पुष्करपर्ण उपद्धाति ।            |        | यद्देव वावाडा सुपद्धाति । वावा २८६        |        |
| इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा ... २३१         |        | यद्देव वेता नैर्ऋतीर्हरन्ति । प्रजा- ७७   |        |
| यद्देव पुष्करपर्ण उपद्धाति ।            |        | यद्देव वेते अचोपद्धाति ... २८८            |        |
| प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णमियं २६१         |        | यद्देव वेनं विज्जवति । एतद्वा ... १०३     |        |
| यद्देव पुष्करपर्ण सुपद्धाति २२६         |        | • यद्देव वेन मभि जुहोति । श्रीर्षे ३७५    |        |
| यद्देव प्रोक्षति । हविर्वा एतत् २०१     |        | यद्देव वेन मभिकुहोति । एतद् वै            |        |
| यद्देव रेतस्त्रिषा उपद्धाति २६६         |        | देवा अविभयुः ... १२५                      |        |
| यद्देव लोमेष्टका उपद्धाति १५५           |        | • यद्देव वेन मभिकुहोति । एतद् वै          |        |
| यद्देव विन्धञ्चोतिष सुपद्धाति २७७       |        | देवा एतमात्मान ... २३८                    |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                       | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम्.                       | पृष्ठं |
|----------------------------------------|--------|----------------------------------------|--------|
| यद्वेवेन मभिलुहोति । एतद् वे           |        | विश्वस्ने प्राणायामनाय ।               |        |
| यत्तं प्राणाः ... .. १२४               |        | यानायादानायति ... २८०                  |        |
| यद्वेवेन मभिलुहोति । एतद् वे           |        | विष्णोः कर्माणि पश्यतेति ३३३           |        |
| यान्तेतस्मिन्नपौ ... १२५               |        | याममात्री भवति । याममात्रो १३          |        |
| यद्वेवेन परिश्रद्धिः परिश्रयति ४       |        | शतं वे ऽव्यम् धामानि ... १३८           |        |
| यद्वेवोखा मपदधाति । यो वे स ३३४        |        | स एषाऽग्निरेव वैश्वानरः ... १६२        |        |
| यद्वेवोखायाम् । योनिर्वा ... ३६७       |        | स काश्यपस्योर्दक्षिणत- ... २४२         |        |
| यद्वेवोद्वचमसान्नियति । एतद् १३४       |        | सकथावस्यैते । ते नानापदधाति १०         |        |
| यद्वेवोपतिष्ठते । अयं वै लोको ८२       |        | स यज्ञाति । मयि यज्ञान्यत्रे २२७       |        |
| यद्वेवोखलमसले ऽउपदधाति ३३०             |        | स चतस्रः पूर्वा उपदधाति आत्मा ७        |        |
| यद्वेवोघान्नियति । प्रजापतिः ३         |        | स चतस्रः प्राचीरुपदधाति ६              |        |
| यस्यास्ति घोर ऽव्यासन् लुहोमीति ७      |        | स जूरब्द इति क्षितिः ... १२५           |        |
| या इधवे यातुधानाना मिति २३७            |        | स ज्ञान मसीति । समजानत ३               |        |
| या ओषधीः पूर्वा जाताः ... १३८          |        | स दक्षिण मेवाग्रे युनक्ति । अथ ६६      |        |
| या श्रुतेन प्रतनोषि । सहस्रेण २८२      |        | स दक्षिणाङ्गनाग्रेः अन्तरेण १००        |        |
| यास्ते ऽव्यमि स्वर्ग्ये रुचा ... २८५   |        | स पुरस्तादाहरति ... १५५                |        |
| युनक्त सीरा वि युगा तनुधं ६६           |        | सप्त प्रत्यस्यति । सप्त वै श्रौषन् ३६६ |        |
| ये वामी रोचने दिवो ... २३७             |        | समुद्रेत्वा सद्ने सादयामीति ३२५        |        |
| राजानं क्रीत्वा पर्युञ्ज । अथास्मा १५२ |        | स यः स कूर्मोऽसौ स व्यादितः ३२७        |        |
| विपरिक्राम मु ष्टके ऽउपतिष्ठन् ३७७     |        | स यः स प्रजापतिर्ब्रह्मसत् ।           |        |
| विराड् ज्योतिरधारयदिति २८५             |        | ः १-१० अथ या अस्मात् ता ३८४            |        |
| विश्वस्ने प्राणायामनाय ।               |        | स यः स प्रजापतिर्ब्रह्मसत् ०-०         |        |
| २ यानायति प्राणो वै ... २८८            |        | ० अथ या सा प्रतिष्ठे वा २७६            |        |

| कठिकाप्रतीकम्.                       | पृष्ठ | कठिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठ |
|--------------------------------------|-------|-------------------------------------|-------|
| स यः स प्रजापतिर्षस्रसत ।            |       | स शुक्लः स्यात् । तदधीतस्य १०६      |       |
| —०— तद्यद्विषाखा ... ५१              |       | स होवाच । यस्मानेन ... २०५          |       |
| स यत् क्रुन्मीं नाम । एतद् ... ३६२   |       | सा यद्वाटा नाम । देवाणां २८८        |       |
| सन्धदम् मेवोपदध्यात् ... २८४         |       | सीतासमरः । वाग्वी सीतासमरः १२४      |       |
| स यदि संवत्सरभृतः स्यात् । ३३६       |       | स्यं कामभृत् । प्राणा वै ... २६०    |       |
| स यज्ञानूपदध्यात् । न ह्येतं ... २८४ |       | संघा चिघा विहित्वा । वागनुष्टुप् ५६ |       |
| स योऽस्मात् प्राणो मध्यत उद्क्रा- ५० |       | संघा वृद्धत्वेव । ये वै हि ... ५६   |       |
| हरिरेत्वा सद्ने सादयामीति ३८६        |       | सोऽप्रेर्हृन्निगाय श्रीणिम् ... ६८  |       |
| सर्वौषधं भवति । सर्वं मेतद् १३७      |       | सोऽन्नवीत् । अयं वाव मा घूर्वो २८२  |       |
| सर्वौषधं भवति । सर्वं मेव १३५        |       | सोऽन्नवीत् । अयं वाव मा             |       |
| स वैऽब्राह्मण मेव विज्ञवति १००       |       | सर्वस्मात् ३३२                      |       |
| स वै ह्यष्टे निनयति । तस्मात् १३३    |       | स्कीनाहरति । वस्त्रो वैस्कीना १५५   |       |
| स वै ह्यष्टे निनयति । प्राणेषु १३४   |       | खयमाहसा मुपदधाति ... २७८            |       |
| स वै ह्यष्टे वपति । तस्मात् ... १३६  |       |                                     |       |
| स वै ह्यष्टे वपति । प्राणान् ... १३७ |       | हिरण्यगर्भः समवर्त्ततायै ... २३४    |       |

## ॥ स्मर्त्तव्यालोच्यवचनसूची ॥



अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् सोऽपः प्राविशत्. २का०. ५प्र०. १४जा०.  
अग्निर्वै महिषः. २. ३. २३.

- अग्निर्वै यम इयं यन्वाभ्यां ह्रीदं सर्वं यतम्. १. ३. १०.  
अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य भस्म, यत् सिकता. १. १. ६.  
अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य देतो यत् सिकता. १. १. १०.  
अग्निर्दिक्षं वा अपां सधस्वम्. ४. २. ५७.  
अन्नं वा अपां पायः. ४. २. ६०.  
अन्नजीवनं ह्रीदं सर्वम्. ४. १. २०.  
अन्नं वा अपां भस्म. ४. २. ४८.  
अमृतं हिरण्यं ममृतं मग्निः. ३. १. १५.  
अश्वं चाविं चोत्तरतः। एतस्यां तद्दिश्येती पशू दधाति;  
तस्मादेतस्यां दिश्येती पशू भूयिषी. ४. २. १५.  
आग्नेयं वै वृत्तम्. ३. १. ४१.  
आत्मन्मग्निं गृह्णीत. २. ४. १७.  
आत्मा ह्येवाग्रे सम्भवतः सम्भवति. १. १. २१.  
आपो वै पुष्करं तासा मियं पर्षम्. ३. १. ८.  
इमे वै लाकाः सर्पाः, ते जग्नेन सर्वेषु सर्पन्ति यदिदं किञ्च,  
३. १. २५.  
इयं वा अपा मयनम्. ४. २. ५०.  
जन्वो रस उदुम्बरः. ३. १. ३८.  
ऋतवो वै विश्वेदेवाः. १. १. ४३.



एतद्दे रूपं (कूर्मरूपं) कृत्वा प्रजापतिः प्रजा अष्टजत , यदष्टजता-  
करोत् , तद्यदकरोत् तस्मात् कूर्मः. ४. १. ५.

एष उभे पृथक्किं,—धूमिनामूँ वृष्ट्यिमाम्. २. ३. १०.

पृषा वै नैर्ऋतोर्दिङ् , नैर्ऋत्या मिव हि तद्दिशि निर्ऋतिं दधाति  
स यत्र स्वस्रतं धरिणं श्रभ्रपदरो वा स्यात् , तदेना उप-  
दध्याद् । यत्र वा अस्या अशदीर्यते , यत्र वास्या ओषधयो  
न जायन्ते , निर्ऋतिर्हास्यै तद् गृह्णाति. १. ३. ८.

ओषधयो वा अपा मोक्ष. ४. २. ४७.

क्षत्रं वै यमः. १. १. ३.

कश्यपो वै कूर्मस्रस्त्रादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति. ४. १. ५.  
किम्पुरुषो वै मयुः ०—० गौर मारण्यम् ०—० गवय मारण्यम्  
०—० उद्गमारण्यम् ०—० शरभ मारण्यम् ०—० त एत  
उत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयज्ञियास्तेषां ब्राह्मणो नाश्रीयात्.

४. २. ३२—३७.

कौतासा मसङ्घातानां सङ्घाति ? हे इति ब्रूयात् ; हे हि सिकते,

शुक्रा च कृष्णा च. २. ३. ४२.

खो हि तद् वेद, यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः. १. ४. २.

नास्त्राविष्णु दक्षिणतः । एतस्त्रां तद्दिश्येती पशू दधाति ; तस्त्रा-

देतस्त्रां दिश्येती पशू भृयिष्ठौ. ४. २. १६.

गा मविं प्रफ्यंश्च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहन मित्येतच्चि सर्वे सीतो-

हपति. १. ४. ११.

सद्युर्वा अपां चयः, ४, २, ५४.

ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निः, ३, १, १५.

तत्र गच्छेत् यत्र पूर्वं परेता इति, ४, १, ८.

तेषां मेका मन्नं सुहरेत् तस्य नाश्रीयाद्यावज्जीवम्, २, २, १४.

त्रीन्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गानितीमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकाः,

४, १, ८.

द्यौर्वा अपां सदनम्, ४, २, ५६.

द्राघीयो हि देवायुषं ऋसीयो मनुष्यायुषम्, २, ३, १०.

द्वाभ्यां युनक्ति ०—० षड्गवं भवति, द्वादशगवं वा, १, ४, ६.

हे वै योनी इति ब्रूयाद्, देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः,

३, २, ४०.

पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशुस्तिष्ठन् गर्भं धित्वानूपविश्य विजायते,

३, १, २.

पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशोः सुहितस्योत्तरः कुञ्चिरन्नततरो

भवति, ४, १, ३८.

सुहवस्य प्रथमं सुहृजति ०—० द्विपादा एष पशुर्यत् पुरुषः,

४, २, ३२.

प्रजापतिर्वा इदं मय आसीदेक एव, सोऽकामयतां सृजय प्रजा-

वेयेति स प्राणिभ्यं एवाधि पशून् निरमिमोत्, ४, २, ६.

प्रजापतिर्विश्वकर्मा, १, १, ४३.

प्रजापतेर्विस्त्रस्तस्य यानि लोमान्दशीयन्त, ता इमाः ( कूर्वाः )

शोषधवोऽभवन्. ३. २. ११.

प्राचीप्रजनना वै देवाः, प्रतीचीनप्रजनना मनुष्याः, ३. २. ४०.

प्राची वा अर्णवः, ४. २. ५१.

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति. ३. १. १४.

ब्रह्म वै पलायः, १. १. ५.

ब्रह्म वै मन्त्रः, १. १. ५.

मनुष्या वा आपचन्द्राः, २. ३. २०.

मनो वै समुद्रः, ४. २. ५२.

य एषेषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तीभ्य एतन्नमस्करोति, ३. १. २८.

• यदिमा आप एतानि मांसानि ०—० पक्षं वाक पयोस्वक्,

पक्षं लोम. ४. २. ४३.

या शोषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेति, २. २. २४.

ये विद्वांसस्ते कवयः, ते सीरश्च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते,

१. ४. ४.

येन रूपेण यत् कर्म कृत्वा विष्णुरादीऽभवत्, तेन रूपेण तत्

कर्म कृत्वाबादोऽसानीति, ४. १. १२.

रसो वै कूर्मः ०—० यो वै स यथा लोकाणा मसु प्रविधानं

पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स एव कूर्मः, ४. १. १.

रसो वै दधि, ३. १. ३८.

- बन्धो वा अण्वम् ३. १. ३४.  
बायुर्वा अपा जेम. ४. २. ४६.  
विद्युद्वा अपां ज्योतिः. ४. २. ४८.  
विद्येः पितरः १. १. १.  
शिरो वै प्राणानां योनिः. ४. १. २२.  
ओत्रं वा अपां सधिः. ४. २. ५८.  
सत्वः साम गण्यति. २. ४. १७; ३. १. ३.  
समुद्रो वा अपां योनिः. ४. २. ५८.  
समुद्रो ह्यीमा मभितः पिब्यते. ३. १. ८.  
स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः. ४. १. ६.  
सर्वेषां तु ह्येष देवानां मात्मा यदग्निः. ३. १. २५.  
सह ह्येवमावधे लोकावासतुः, तयोर्वियतोर्याऽन्तरिणाकाश आसीत्,  
तदन्तरि च सभवत्. १. २. २३.  
सिकता वा अपाम्पुरीषम्. ४. २. ५८.  
सोऽन्नवीत्— अयं वाव मा धूर्वीदिति, यदन्नवीदधूर्वीन्नेति  
तस्माद् धूर्वा; धूर्वा इ वै ता दूर्वेत्याचक्षते परोक्षम्. ३. २. १२.  
द्विरण्यं इ वै तद्विरण्यं मित्स्वपचक्षते. ३. १. १६:
-

## ॥ अथ विषयसूची ॥

|                                                                           |     |     |           |     |     |
|---------------------------------------------------------------------------|-----|-----|-----------|-----|-----|
| अग्निचयनारम्भः                                                            | ... | ... | १. १. १.  | ... | १५  |
| अजशिरस उपधानमन्त्रस्तद्वाख्यानादि.                                        |     |     | ४. २. २१. | ... | ४०२ |
| अजस्य शोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्.                                         | ... |     | ४. २. ३६. | ... | ४१० |
| अगङ्गुष्मोचनमन्त्रतद्वाख्याने.                                            | ... |     | १. ४. २१. | ... | १२२ |
| अगुह्यैश्यानां मयुप्रष्टनीनां प्रमूनां ब्राह्मणा-<br>भक्त्यातिरूपवर्णनम्. | ... | ... | ४. २. ३७. | ... | ४११ |
| अगुमन्त्राभिमन्त्रणलक्षणं ( भाष्ये )                                      | ... |     | १. ४. ४.  | ... | १०७ |
| अगुष्टुपसम्यद्वर्णनम्.                                                    | ... | ... | १. २. १६. | ... | ६७  |
| अपस्याना मङ्गुल्यात्मकत्वसमाश्चानम्.                                      | ... |     | ४. २. ६२. | ... | ४२२ |
| अपस्यानां पञ्चदशैकानामुपधानसूचनादि.                                       |     |     | ४. २. ४०. | ... | ४१४ |
| अपस्यैकानां मन्त्रस्तद्वाख्यानादिकथं.                                     |     |     | ४. २. ४६. | ... | ४१८ |
| अभिमर्शनमन्त्रद्वयविधियाख्यानादि.                                         | ... |     | २. ३. ४६. | ... | १६८ |
| अभिमर्शनस्य हृद्ददोहसाधिवदनात्मत्ववर्णनम्.                                |     |     | २. ३. ४५. | ... | १६८ |
| अभिहोममन्त्रादयवानां आहुतिरूपत्वम्.                                       |     |     | २. १. ६.  | ... | १३१ |
| अमन्त्रकं कर्षणविधादि.                                                    | ... | ... | १. ४. १४. | ... | ११७ |
| अविशिरस उपधानमन्त्रस्तद्वाख्यादि क.                                       |     |     | ४. २. २०. | ... | ४०१ |
| अवेः शोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्.                                          | ... |     | ४. २. ३५. | ... | ४१० |
| अशशिरस उपधानमन्त्रस्तद्वाख्यादि च.                                        |     |     | ४. २. १८. | ... | ३६६ |
| अशस्य शोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्.                                         | ... |     | ४. २. ३३. | ... | ४०६ |
| अषाढैकया उपधानविधादि.                                                     | ... |     | ३. २. ३२. | ... | ३१८ |
| अषाढोपधाग्नमन्त्रविधियाख्याने.                                            | ... |     | ३. २. ३६. | ... | ३२२ |
| आभिकर्षौभिकयोः अतिषड्गप्रदर्शनम्.                                         | ... |     | २. ४. १.  | ... | २०७ |

|                                                                                                     |           |     |     |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| आतिथ्यहविष्कृदन्नि आहवनीयचित्ति-<br>संस्कारविधिः. ... ..                                            | २. ३. ४.  | ... | १६८ |
| आत्मन्वयिण्यहयप्रकारोपदेशादि. ...                                                                   | ३. १. १.  | ... | २४४ |
| आहवनीयचित्तावृषाणां निवपनविधिः.                                                                     | २. ३. ८.  | ... | १७० |
| आहवनीयचित्तौ पुष्करपर्णोपधानविधिः.                                                                  | २. ३. ६.  | ... | १७७ |
| आहवनीयचित्तौ सिकतानिवपनविधिः ...                                                                    | २. ३. ११. | ... | १७३ |
| दृष्टकाश्चतुष्टयोपधानमन्त्राणां विधियाख्याने                                                        | १. १. २२. | ... | २६  |
| दृष्टकासन्धिषु पुरीषनिवपनविध्यादि ...                                                               | १. १. ३६. | ... | ४२  |
| दृष्टकाहरणसमये श्वेतस्यान्वस्य पुरतो नयनादि.                                                        | २. ४. १०. | ... | २१६ |
| उखोपधानविध्यादि. ... ..                                                                             | ४. १. २६. | ... | ३५७ |
| उखोपधाने मन्त्रविधिस्तद्वाख्यानञ्च. ...                                                             | ४. १. ३०. | ... | ३५६ |
| उख्यरूपेण संस्कृतस्यासौर्विराट् रूपप्रणा-<br>पत्वात्मकताप्रतिपादनारम्भः. ...                        | १. २. १.  | ... | ५७  |
| उख्यासौर्गाहपत्न्यतिमिधे निवपनविध्यादि.                                                             | १. १. ३८. | ... | ४५  |
| उत्तरवेदिनिवपनाद्युपदेश. ... ..                                                                     | २. ३. २७. | ... | १८४ |
| उपसर्गानसादनसूदोहसां नेर्द्धतौषु निधिः.                                                             | १. ३. १२. | ... | ६१  |
| उपहितपुरुषशिरस्यभिहोमविध्यादि.                                                                      | ४. २. २३. | ... | ४०३ |
| उपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशुशिरसां सुत्सर्गनामके-<br>मन्त्रैरुपस्थानविधिस्तन्मन्त्रविध्यादि च. | ४. २. २८. | ... | ४०६ |
| उलूखलसुसलयोरुपधानविध्यादि. ...                                                                      | ४. १. १२. | ... | ३४६ |
| ऊषाणां निवपनविधिः. ... ..                                                                           | १. १. १६. | ... | १६  |
| ऊषाविधानस्य मन्त्रविधिश्चाख्याने. ...                                                               | १. १. ८.  | ... | २०  |
| ऋग्यजुस्सामलक्षणे प्रदर्शनम् ( भाष्ये ) ...                                                         | ३. २. १६. | ... | ३०६ |
| ऋतथयोरिष्टकयोरुपधानविधिः. ...                                                                       | ३. २. २६. | ... | ३१५ |

|                                                                                                                                               |           |     |     |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| सतसोपधानस्य मन्त्रविधिवाख्यानम्. ...                                                                                                          | ३. २. २६. | ... | ३१५ |
| सर्वविधिर्वात्स्यकारीपदेशश्च. ...                                                                                                             | १. ४. ६.  | ... | १११ |
| सर्वस्य मन्त्रविधिवाख्यानम्. ...                                                                                                              | १. ४. १३. | ... | ११६ |
| सूर्माञ्जनमन्त्राद्युपदेशः. ...                                                                                                               | ४. १. ३.  | ... | ३३६ |
| सूर्मेष्टकोपधानविधादि. ...                                                                                                                    | ४. १. १.  | ... | ३३८ |
| सूर्मोपधानमन्त्रविधिसप्तदशवाख्यानानि. ...                                                                                                     | ४. १. ८.  | ... | ३४४ |
| सप्तप्रदेशेषु (पां) निगयवानन्तरं षड्विधिः                                                                                                     | २. २. १६. | ... | १४३ |
| सप्तै स्तेनै उदसंभसकरविधादि. ...                                                                                                              | २. २. १.  | ... | १४० |
| गार्हपत्यचितेः परिमाणविधानानि. ...                                                                                                            | १. १. ३७. | ... | ४३  |
| गार्हपत्यापीथीयाहवनीयानां क्रमेणैव पृथिव्यन्त-<br>रिच्छद्युक्तोक्तकत्वात् क्रमेणैव संस्कारस्य<br>युक्तत्वेऽपि युक्तक्रमेणानुष्ठानस्योपपादनम्. | १. २. २३. | ... | ७३  |
| गार्हपत्योपस्थानविधिः. ...                                                                                                                    | १. ३. १६. | ... | ६६  |
| गार्हपत्योपस्थानमन्त्रवाख्यानम्. ...                                                                                                          | १. ३. २०. | ... | ६७  |
| गोः श्लोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्. ...                                                                                                         | ४. २. ३४. | ... | ४०६ |
| गोशिरस उपधानमन्त्रसप्तदशवाख्यानानि च. ...                                                                                                     | ४. २. १६. | ... | ४०० |
| चयननिव्यक्तये दृशकानां सुपधानप्रकारोपदेशः                                                                                                     | १. १. १८. | ... | २७  |
| चितिप्र. चत्वादिविधानम्. ...                                                                                                                  | २. ४. ४.  | ... | २११ |
| चित्वादिश्लेषमध्ये विकर्षणविधादि. ...                                                                                                         | १. ४. ७.  | ... | १११ |
| चित्वादिभिरूपप्रजापतेः निरुक्तानिरुक्तरूपेण<br>परिमितापरिमितरूपेण च वैकल्पवर्णनम्.                                                            | २. २. ३०. | ... | १४८ |
| चित्वाग्नेः स्वयमाहस्यादिषु त्रयोदशखिलिकासु<br>सप्तसप्तशकारत्वसंख्यादि. ...                                                                   | ४. १. ३५. | ... | ३६४ |
| हृन्द्स्याख्यानां पचेष्टकानां वर्णानादि. ...                                                                                                  | ४. २. ४२. | ... | ४१५ |

|                                               |           |     |     |
|-----------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| दर्भक्षत्वाभिधानविधादि. ... ..                | २. १. ४.  | ... | १५८ |
| दर्भक्षत्वाभिधानविधादि ... ..                 | २. १. १.  | ... | १२६ |
| दूर्वेष्टकोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने ... ..  | ३. २. १४. | ... | ३०३ |
| दूर्वेष्टकोपधानविधादि. ... ..                 | ३. २. १०. | ... | ३०१ |
| द्वियजुर्नामेष्टकाया उपधानविधादि. ... ..      | ३. २. १६. | ... | ३०५ |
| द्वियजुरुपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. ... ..   | ३. २. २१. | ... | ३०८ |
|                                               |           |     |     |
| निवपनमन्त्राणां विधियाख्याने. ... ..          | २. ३. २८. | ... | १८५ |
| नेष्टंतीष्टकामन्त्राणां विधियाख्याने. ... ..  | १. ३. ६.  | ... | ८७  |
| नेष्टंतीष्टकासु आसन्त्यादीनां विधानम्. ... .. | १. ३. १५. | ... | ६२  |
| नेष्टंतीष्टकासूक्तकनियनयनम्. ... ..           | १. ३. १७. | ... | ६४  |
| नेष्टंतीष्टकाहरणप्रकारादि. ... ..             | १. ३. १.  | ... | ८३  |
| नेष्टंतीष्टकोपधानप्रकारादि. ... ..            | १. ३. ८.  | ... | ८६  |
| नेष्टंतीष्टकोपधानाख्यायिका. ... ..            | १. ३. १.  | ... | ८३  |
|                                               |           |     |     |
| परिभ्रयणमन्त्रविधियाख्याने. ... ..            | १. १. १४. | ... | २४  |
| परिसर्पणप्रकारोपदेशादि. ... ..                | ३. १. ३५. | ... | २७० |
| मलाश्रयाख्या व्यूहणम्. ... ..                 | २. ३. ७.  | ... | १६६ |
| मशुसुखादौ शकलप्रक्षेपविषयः. ... ..            | ४. २. ११. | ... | ३६३ |
| मशुशीर्षसु सुवर्षशलाकाप्रक्षेपादि. ... ..     | ४. २. ८.  | ... | ३६२ |
| मशुशीर्षाणां उपधानविधादि. ... ..              | ४. २. १.  | ... | ३८८ |
| पुरुषशिरस उदयदृष्ट्यादिकम्. ... ..            | ४. २. १३. | ... | ३६६ |
| पुरुषोपधानाङ्गत्वेन सामगानविधिः. ... ..       | ३. १. २२. | ... | २६२ |
| पुष्करपर्षस्थोपधानविधादि. ... ..              | २. ४. १७. | ... | २२३ |
| पुष्करपर्षे रक्तोपधानस्तुत्यादि. ... ..       | ३. १. १२. | ... | २५३ |
| पुष्करपर्षोपधानविधिसंज्ञनादि. ... ..          | ३. १. ७.  | ... | २४८ |



|                                               |           |     |     |
|-----------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| पुष्करपत्रोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने ...     | ३. १. ६५  | ... | ३५० |
| पुष्करपत्रिप्रियाम्बोज्ञाहास्त्रप्रतिपादनम्.  | १. २. ६.  | ... | ३१  |
| पुष्करपत्रिप्ररीरविशेषप्रतिपादनम्. ...        | १. २. १.  | ... | ५७  |
| पुष्करपत्रेराध्यात्मिकाधियज्ञिकरूपत्ववर्णनम्. | १. २. १३. | ... | ६५  |
| प्रक्षुपस्थानस्य विधितन्त्रतद्व्याख्यादि.     | ४. २. ३८. | ... | ४१२ |
| प्राञ्जलेष्टकाद्योपधानमन्त्रयोर्विधियाख्याने. | १. १. २८. | ... | ३५  |
| प्राञ्जलविषयकमन्त्रपाठसहाय्याख्यानेषु.        | ४. २. २१. | ... | ३५४ |
| प्राञ्जलीयेष्टिविधानम्. ... ..                | १. ४. १.  | ... | १०४ |
| दृष्टीसम्यद्वर्णनम्. ... ..                   | ३. २. २२. | ... | ७१  |
| रक्तमध्ये हिरण्यपुरुषोपधानविधादि.             | ३. १. १५. | ... | २५६ |
| रक्तोपधानमन्त्रविधियाख्याने. ...              | ३. १. १४. | ... | २५४ |
| रेतस्त्रिगुणोपधानमन्त्रविधियाख्याने. ...      | ३. २. २३. | ... | ३११ |
| रेतस्त्रिचोरुपधानविधादि. ... ..               | ३. २. २२. | ... | ३१० |
| लोकमृगाख्याया इष्टकाया उपधानविधिः.            | १. १. ३३. | ... | ३६  |
| लोकमृगादीष्टकाना सुपधान मन्त्रविचारदि.        | १. १. ३४. | ... | ४१  |
| लोकैष्टकाना सुपधानविधादि. ... ..              | २. ३. १३. | ... | १७४ |
| लोकैष्टकोपधानमन्त्राणां कुम्भसो नामविचारः.    | २. ३. ३६. | ... | १६३ |
| विन्ध्योतिरिष्टकोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने.  | ३. २. २७. | ... | ३१४ |
| विन्ध्योतिष उपधानविधादि. ... ..               | ३. २. २५. | ... | ३१२ |
| वीणावापस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...            | २. २. १७. | ... | १४५ |
| व्युद्गहन मन्त्रस्य विधियाख्याने. ...         | १. १. २.  | ... | १७  |
| व्युद्गहन विधानम्. ... ..                     | १. १. १.  | ... | २५  |
| व्युद्गहने प्रजाप्राशाखायाः करणत्वविधिः.      | १. १. ४.  | ... | १६  |

|                                                |            |           |     |
|------------------------------------------------|------------|-----------|-----|
| श्रीकलाप्रज्ञेयमन्त्रविधिसप्तद्वयाख्यानादिकम्. | ४. २. ११.  | ...       | ३६४ |
| शुक्लराभिः परिश्रयम्बविधानम्.                  | ...        | १. १. १२. | २६  |
| शालाहाय्योपस्थानम्.                            | ...        | ५. ४. १.  | १०४ |
|                                                |            |           |     |
| ब्रह्मचे सप्तानां हृन्द्वा मन्त्रभाववर्णनम्.   | २०. ३. ४१. | ...       | १२४ |
|                                                |            |           |     |
| संस्कृतगाह्यपद्यायतनस्यैष्टकाभिश्चयनविधिः.     | १. १. १७.  | ...       | २७  |
| सत्यसामगानविध्यनुवादादि.                       | ...        | ३. १. ३.  | २४७ |
| समन्त्रकं सिकताभिमर्षणम्.                      | ...        | २. ३. १२. | १७३ |
| समन्त्रक सुपोत्थानविधानादि.                    | ...        | १. ३. १८. | ६५  |
| सर्पसामभिः पुरुषस्थोपधानविधादि.                | ...        | ३. १. २५. | २६४ |
| सापिसिद्धे क्रतौ सोमक्रयकालविधिः.              | ...        | २. ३. १.  | १६७ |
| सिकतानां निवपनविधिः.                           | ...        | १. १. ६.  | २२  |
| सिकतानिवपनमन्त्रविधिः.                         | ...        | १. १. ११. | २२  |
| सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस          |            |           |     |
| आसेचनविधादि                                    | ...        | १. १. ४४. | ४८  |
| सीरयोजनमन्त्रस्य विधिख्याख्याने.               | ...        | १. ४. ४.  | १०६ |
| सीरयोजनाय काष्ठनिरूपणादि.                      | ...        | १. ४. ३.  | १०६ |
| सीरादनकुडिमोचनविधादि.                          | ...        | १. ४. २१. | १२० |
| सूददोहसो निषेधोपपादनम्.                        | ...        | १. १. १५. | २५  |
| सुरयचर्मणोः नकुडिकारत्वादिविधानम्.             | ...        | २. ४. २.  | ३०६ |
| सुचोरुपधानविधादि.                              | ...        | ३. १. ३६. | २७१ |
| सुचोरुपधाने मन्त्रविधादि.                      | ...        | ३. १. ४१. | २७३ |

( २४ )

|                                           |           |          |     |     |
|-------------------------------------------|-----------|----------|-----|-----|
| खद्यमाहसाया मन्त्रविधिवाख्याने. ....      | इ. २. ५.  | ...      | २६५ |     |
| खद्यमाहस्योपधानविधादि. ...                | ...       | इ. २. १. | ... | २६२ |
| द्विरण्यपुरोधोपधानमन्त्रस्य विधिवाख्याने. | इ. १. १६. | ...      | २६० |     |

---

## ॥ मूलपाठशुद्धिपत्रम् ॥



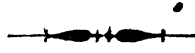
| पशुपत्             | शुद्धम्                | प्र० ब्रा० क०     | पृष्ठे |
|--------------------|------------------------|-------------------|--------|
| सर्वा              | ... सर्वा              | ... १. १. ८. ...  | ३      |
| अग्ने-             | ... अग्ने-             | ... १. १. १०. ... | ४      |
| अथं                | ... अथं                | ... १. १. १३. ... | ४      |
| व्यचः              | ... व्यचः              | ... १. १. २३. ... | ८      |
| स उ ह्य०           | ... स उ ह्य०           | ... १. २. २२. ... | ५६     |
| यस्या              | ... यस्या              | ... १. ३. १०. ... | ७८     |
| वीर्ये             | ... वीर्यं             | ... २. ३. १८. ... | १५५    |
| उपादीप्तो          | ... उपादीप्तो          | ... २. ३. २१. ... | १५६    |
| मात्मन्सु०         | ... मात्मन्सु०         | ... २. ३. २१. ... | १५६    |
| ० हृतस्य           | ... ० हृतस्य           | ... २. ३. २३. ... | १५७    |
| ० दात्मन्नेतो      | ... ० दात्मन्नेतो      | ... २. ३. २८. ... | १५८    |
| मानुनेत्य०         | ... मानुनेत्य०         | ... २. ३. २०. ... | १६०    |
| ब्राह्मण           | ... ब्राह्मण           | ... २. ३. ४२. ... | १६४    |
| मपश्यन्नसु         | ... मपश्यन्नसु         | ... २. ४. १०. ... | २०३    |
| पुरस्ताद् रक्षांसि | ... पुरस्ताद् रक्षांसि | ... २. ४. १०. ... | २०४    |
| मेत                | ... मेतं               | ... २. ४. १८. ... | २०७    |
| ० पाप्मान          | ... ० पाप्मान          | ... ३. १. १. ...  | २२७    |

( ४ )

| पद्यम्                         | शुद्धम् | प्र० ब्रा० क० | पृष्ठे |
|--------------------------------|---------|---------------|--------|
| तिष्ठाः '... तिष्ठ०            | ...     | ३, १, २, ...  | १२८    |
| पुष्कपपर्णं ... . पुष्करपर्णं  | ...     | ३, १, १३, ... | २३१    |
| ०दर मद्यत् ०दरमद्यत्           | ...     | ३, १, ३८, ... | ३४१    |
| ०चिक्र मिषत्तत् ०चिक्रमिषत्तत् | ...     | ४, १, १७, ... | ३३९    |
| तद् भव० ... तद्भव०             | ...     | ४, १, २१, ... | ३३२    |
| ०ती मे वै ... ०तीमे वै         | ...     | ४, २, ३४, ... | ३७८    |

---

## ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥



॥ अथ ॥

## ॥ सप्तमकारणम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अपिवा प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥



॥ हरिः ॐ ॥

गार्हपत्यं चेष्यन् पलाशशाखुया व्युद्रहति ।  
अवस्यति हेतदाद् गार्हपत्यं चिनोति य उ वै के  
चाग्निचितोऽस्या मेव तेऽवसितास्तद्गुद्रहत्यवसि-  
तानेव तद् व्युद्रहति नेद्वसितानध्ववस्यानोति \* ॥१॥  
अपेत व्यीत वि च सर्पतात इति । अप

\* '०नीति'—इति क , '०नीति'—इति ग ।

चैवेतं वि चेतव्यं च सर्पतात इत्येतद्य उदर-  
सर्पिणस्तानितदाह ये ऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतना  
वृत्ति ये,त्र स्थ सनातना ये चाधुनातना  
इत्येतत् \* ॥ २ ॥

अदायमोऽवसानं पृथिव्या वृत्ति । यमो ह  
वा ऽत्रस्थः अवसानस्थेष्टे स एवास्मा ऽत्रस्था मव-  
सानं ददाति † ॥ ३ ॥

अक्रन्निमं पितरो लोक मस्मा ऽवृत्ति । अचं  
वै यमो विश्वः पितरो यस्माऽउ वै अत्रियो  
विशा संव्विदानोऽस्या मवसानं ददाति तत्  
मुदत्तं तथो हाश्चै अचं यमो विश्वा पितृभिः  
संव्विदानोऽस्या मवसानं ददाति ‡ ॥ ४ ॥

पलाशशाखया व्युदूहति । ब्रह्म वै पलाशो  
ब्रह्मणैव तद्वसितान् व्युदूहति मन्त्रेण ब्रह्म  
वै मन्त्रो ब्रह्मणैव तद्वसितान् व्युदूहति ता मु-  
दीची मुदद्यति § ॥ ५ ॥

\* 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

†, ‡ 'ददाति'—इति क ।

§ 'मुदद्यति'—इति क ।

अथोषान्निवपति । अयं वै लोको गार्हपत्यः  
पशव ऊषा अस्त्रिंशत्स्रोक्ते पशुन् दधाति तस्माद्दि-  
नेऽस्त्रिंशत्स्रोक्ते पशवः ॥ ६ ॥

यद्देवोषान्निवपति । प्रजापतिः प्रजा असृजत  
ता नानोल्वा असृजत ता न समजानत सी-  
ऽकामयत सञ्जानीरन्निति ताः समानोल्वा अक-  
रोत्तासा मूषानुल्ब मकरोत्ताः समजानत तस्मा-  
दुप्येतर्हि समानोल्वाः स मेव जानते देवैः  
समानोल्बोऽसानीत्सु वै यजते यो यजते तद्य-  
दुषान्निवपति देवैरेव तत् समानोल्बो भवति ॥ ७ ॥

सञ्जान मसीति । समुजानत ह्येतेन काम-  
धरण मिति पशवो वा ऽऊषाः पशवः काम-  
धरणं मयि ते कामधरणं भूयादिति मयि ते  
कामधरणं भूयादिति मयि ते पशवो भूया-  
सुरित्येतत्तैः स्र्वं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिर्ज्वं  
गार्हपत्या चितिरुल्ब मूषाः स्र्वीं तद्योनि मुल्बेन  
प्रच्छादयति \* ॥ ८ ॥

\* 'प्रच्छादयति'—इति क ।



अथ सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य  
भस्म यत् सिकता अग्निं मु वा ऽएतं वैश्वानरं  
चेष्ट्यन् भवति न वा ऽअग्निः खं भस्मातिदृष्ट्य-  
नतिदाहाय ॥ ९ ॥

यदेव सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य  
रेतो यत् सिकता अग्निं मु वा ऽएतं वैश्वानरं  
चेष्ट्यन् भवति न वा ऽअग्नेरेतस्कात् किञ्चन व्विक्रि-  
यतेऽस्माद्धेतसोऽधि व्विक्रियाता ऽइति ॥ १० ॥

अग्नेर्भस्मात्पुनः पुरीष मसीति । यातयाम  
वा ऽअग्नेर्भस्मायातयाम्नाः सिकता अयातयाम  
मेवैनदेतत् करोति ताभिः सर्व्वं गार्हपत्यं प्रुच्छा-  
दयति योनिर्व्वै गार्हपत्या चित्ती रेतः सिकताः  
सर्व्वस्यां तद्योनौ रेतो दधाति \* ॥ ११ ॥

अथैनं परिश्रिद्धिः परिश्रयति । योनिर्व्वै  
परिश्रित इदं मेवैतद्देतः सित्तं योन्या परि-  
श्रुत्वाति तस्माद्योन्या रेतः सित्तं परिश्रुयते ॥ १२ ॥

यद्वैैनं परिश्रिद्धिः परिश्रयति । अथं वै

\* 'दधाति'—इति क ।

लोको गार्हपत्यं चापः परिश्रित इमं तं लोकं  
 मग्निः परितनोति समुद्रेण हैनं तत् परितनोति  
 सर्व्वतस्तुआदिमं लोकं सर्व्वतः समुद्रः पर्येति  
 दक्षिणावृत्त्यादिमं लोकं दक्षिणावृत्त् समुद्रः  
 पर्येति खातेन तस्यादिमं लोकं खातेन समुद्रः  
 पर्येति ॥ १३ ॥

चित् स्येति । चिनोति ह्येनाः परिचित  
 स्येति परि ह्येनाच्चिनोत्यूर्ध्वचितः अथध्वमित्यूर्ध्वं  
 उपदधदाह तस्मादूर्ध्वं एव समुद्रो ब्विजतेऽथ  
 यत्तिरधीरुपदध्यात् सकृद्देवेदं सर्व्वं समुद्रो  
 निर्मज्यान् \* सादयत्यसन्ना, ह्यापो न ह्यदो-  
 हसाधिवदति ॥ १४ ॥

अस्थीनि वै परिश्रितः । प्राणः सुददोहा न  
 वा ऽअस्थिषु प्राणोऽस्थैकेन यजुषा बह्वीरिष्टका  
 उपदधात्येकं ह्येतद्रूपं यदापोऽथ यद् बह्वाः  
 परिश्रितो भवन्ति बह्वो ह्यापः ॥ १५ ॥

\* 'निर्मज्यान्' इति, 'निर्मज्यान्'—इति च दृष्टं डा० वेबर-  
 महोदयेन । 'निर्मज्यान्'—इति तु सायणासम्मतः पाठः ।

तद्दे योनिः परिश्रितः । उल्ब मूषा रेतः

सिकता बाह्याः परिश्रितो भवत्यन्तरऽजषा बाह्या  
हि योनिरन्तर मुल्बं बाह्यऽजषा भवत्यन्तराः  
सिकता बाह्यः छुल्बं मन्तरः रेत एतेभ्यो वै  
जायमानो जायते तेभ्य एवैन मेतञ्जनयति\* ॥ १६ ॥

अथैन मतञ्चिनोति । इद् मेवेतद्रेतः सिक्तं  
विकरोति . तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं विक्रि-  
यते ॥ १७ ॥

स चतस्रः प्राचीरुपदधाति । हे पञ्चात्  
तिरश्चगौ हे पुरस्तात्तद्याश्चतस्रः प्राचीरुपदधाति स  
आत्मा तद्यत्ताश्चतस्रो भवन्ति चतुर्विधो ह्यय  
मात्माथ ये पञ्चात्ते सुकथ्यौ ये पुरस्तात्तौ बाह्व  
यत्र वा ऽआत्मा तदेव शिरः ॥ १८ ॥

तं वा ऽएतम् † । अत्र पक्षपुच्छवन्तं विकरोति  
यादृग् वै योनौ रेतो विक्रियते तादृग् जायते  
तद्यदेत मत्र . पक्षपुच्छवन्तं विकरोति तस्माद्देषो  
ऽमुत्र पक्षपुच्छवान् जायते ॥ १९ ॥

\* 'मेतञ्जनयति'—इति क ।

† 'एतम्'—इति ग, घ ।

तं वै पक्षपुच्छवन्त मेव सन्तम् । न पक्ष-  
पुच्छवन्त मिव पश्यन्ति तस्माद्योनौ गर्भं, वृ यथा-  
रूपं पश्यन्त्यथैन ममुत्र पक्षपुच्छवन्तं पश्यन्ति तस्मा-  
ज्जातं गर्भं यथारूपं पश्यन्ति ॥ २० ॥

स चतस्रः पूर्वा उपदधाति । आत्मा ह्येवायं  
सम्भवतः सम्भवति दक्षिणात् उदङ्ङासीन उत्त-  
रार्धां प्रथमा मुपदधाति तथो हास्यैषोऽभ्यात्म  
मेवाग्निश्चितो भवति ॥ २१ ॥

अयं सोऽग्निः \* । यस्मिन्सोम मिन्द्रः  
सुतं दध इत्ययं वै लोको गार्हपत्य आपः सो-  
मः सुतोऽस्मिन्सुलोकेऽप इन्द्रोऽधत्त जठरे व्वा-  
वशान इति मध्यं वै जठरं सहस्रियं व्वाज-  
मत्यं न सप्ति मित्यापो वै सहस्रियो व्वाजः स-  
सवान्स्वस्त्रयसि जातवेदं इति चितः संश्रीयसे  
जातवेद इत्येतत् † ॥ २२ ॥

अग्ने यत्ते दिवि .वर्च इति । आदित्यो

\* 'ऽग्निः'—इति ग, घ ।

† 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

वा ऽस्य दिवि व्वचः पृथिव्या मित्यय मग्निः  
 पृथिव्याः यदोषधीष्वक्त्वा यजचेति य एवोष-  
 धिषु चाप्सु चाग्निस्त मेतदाह येनान्तरिक्ष मु-  
 र्वाततयेति व्यायुः स त्वेषः स भानुरर्णवो  
 नृचक्षा इति महान्तस भानुरर्णवो नृचक्षा  
 इत्येतत्\* ॥ २३ ॥

अग्ने दिवो ऽर्णवो मृच्छा जिगासीति † । आपो  
 वा ऽस्य दिवोऽर्णस्ता एष धूमेनाच्छैत्यच्छा-  
 देवाः‡ ॥ ऽजचिषि ‡ धिष्णा य ऽइति प्राणा वै  
 देवा धिष्णास्ते हि सूर्वा धिय ब्रूषन्ति या  
 रोचने परस्तात् सूर्यस्य याञ्चावस्तादुपतिष्ठन्त  
 ऽचाप इति रोचनो ह नामैष लोको यचैष  
 एतत् तपति तद्याञ्चैतं परेणापो याञ्चावरेण ता  
 एतदाह ॥ २४ ॥

पुरीष्यासी ऽसन्नय इति । पशुव्यासी ऽन्नय

\* 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

† 'जिगासीति'—इति ल, घ ।

‡ 'देवांश्चिषि'—इति, 'देवांश्चिषि'—इति च इष्टं वेव-

• अहोदयेन; परं 'देवांश्चिषि'—इत्येव पाठस्तत्समतः ।

इत्येतत् प्रावणेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं  
 प्रायणं चेतदग्नेर्यद् गार्हपत्यो जुषन्तां. यज्ञ  
 मदुहोऽ नमीवा इषो महीरिति जुषन्तां यज्ञ  
 मदुहोऽनशनाया इषो महीरित्येतत् \* ॥ २५ ॥

नानोपदधाति । ये नानाकामा आत्मंस्तां-  
 स्तदधाति सकृत् सादयत्येकं तदात्मानं करोति  
 सुददोहसाधिवदति प्राणो वै सुददोहः प्राणे-  
 नैवैन मेतत् सन्तनोति सन्दधाति ॥ २६ ॥

अथ जघनेन परीत्य । उत्तरतो दक्षिणा-  
 सीनोऽपरयोर्दक्षिणा मय उदपदधातीडा मग्ने पुरु-  
 द्धुसं सनिं गोरिति पशवो वा इडा पशूना  
 मेवास्मा एता माशिष माशास्ते शश्वत्तमं हव-  
 मानाय साधेति यजमानो वै हवमानः स्यान्नः  
 सूनुरस्तनयो विजाविति प्रजा वै सूनुरग्ने सा  
 ते सुमतिर्भूत्वस्मे इद्व्याशिष माशास्ते ॥ २७ ॥

अथोत्तराम् । अयं ते योनिर्ऋत्विषो यतो  
 जातो अरोचथा इत्ययं ते योनिर्ऋतव्यः सना-

\* 'महीरित्येतत्'--इति ग, घ ।०

तुनो यतो जातोऽदीप्यथा इत्येतत् तं जानन्नन  
 ऽचारोऽह्या नो वर्द्धया रयि मिति यथैव यजु-  
 स्तथा बन्धुः ॥ २८ ॥

सकथ्यावस्यैते \* । ते नानोपदधाति नाना साद-  
 यति नाना सूददोहसाधिवदति नाना हीमे  
 सकथ्यौ द्वे भवतो द्वे हीमे सकथ्यौ पश्चादुप-  
 दधाति पश्चाद्धीमे सकथ्यावयाभ्याः सुःसृष्टे  
 भवत एवः हीमे सकथ्यावयाभ्याः सुः-  
 सृष्टे ॥ २९ ॥

अथ तेनैव पुनः परीत्य । दक्षिणत उदङ्ङा-  
 सीनः पूर्व्योरुत्तरा मय ऽउपदधाति चिदसि तथा  
 देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदित्यथ दक्षिणां परिचिदसि  
 तथा देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदिति ॥ ३० ॥

वाङ् ऽअस्यैते † । ते नानोपदधाति नाना  
 सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना हीमौ  
 वाङ् द्वे भवतो द्वौ हीमौ वाङ् पूर्व्वार्द्धं ऽउप-

\* 'सकथ्यावस्यैते'—इति ग, घ, ।

† 'अस्यैते'—इति ग, ङ ।

दधाति पुरस्ताद्भीमौ बाहू ऽभ्याभ्यां सु-  
 स्पष्टे भवत एवुं हीमौ बाहू ऽभ्याभ्यां सु-  
 स्पष्टौ स वा ऽद्वितीमा ऽउपदर्धातीतीमे ऽद्वितीमे  
 तद्विच्छिणावृत्तञ्चि देवता \* ॥ ३१ ॥

अष्टाविष्टका उपदधाति । अष्टाक्षरा गाय-  
 त्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावन्त  
 मेवैन मेतच्चिनोति पञ्चकृत्वः सादयति पञ्च-  
 चितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्नि-  
 र्यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावन्त मेवैन मेतच्चिनो-  
 त्यष्टाविष्टकाः पञ्च कृत्वः सादयति तत्तयोदश  
 त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरी-  
 षाणि यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावत् तद्  
 भवति ॥ ३२ ॥

अथ लोकम्पृणा उपदधाति । तस्या उपरि  
 बभ्रुस्त्रिस्रः पूर्वास्त्रिद्वदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माता  
 तावन्त मेवैन मेतच्चिन्नेति । दशोत्तरास्त्रासा उपरि  
 बभ्रुर्द्वे वायोऽथ दशाथैका मेवुं हि चितिं चि-

\* 'देवता'—इति ग, घ ।



न्वन्ति तास्त्रयोदश सम्पद्यन्ते तस्योक्तौ बन्धुः ॥ ३३ ॥

ता उभय्य एकविंशतिः सम्पद्यन्ते । द्वादश मासाः पञ्चोत्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशोऽमुं तदादित्य मस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति \* ॥ ३४ ॥

एकविंशतिर्वेव परिश्रितः । द्वादश मासाः पञ्चोत्तवस्त्रय इमे लोका अय मग्निरमृतोऽध्येकविंश इमं तदग्नि ममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति तद्यदेता एव मुपदुधात्येतावेवैतदन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठापयति तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ तौ वा ऽएतावत्र द्वावेकविंशौ सम्पादयत्यत्र ह्येवेमौ तदोभौ भवत आहवनीयश्च गार्हपत्यश्च ॥ ३५ ॥

अथ पुरीषं निवपति । तस्योपरि बन्धुस्तच्चात्वालबेलाथा आहरत्यग्निरिष यच्चात्वालस्तयो हास्यैतदान्नेय मेव भवति सा समम्बिला स्यात् तस्योक्तौ बन्धुः ॥ ३६ ॥

व्याममात्रौ भवति । व्याममात्रो वै पुरुषः  
 पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसम्भितां तद्यो-  
 निं करोति परिमण्डला भवति परिमण्डला  
 हि योनिरथो ऽअयं वै लोको गार्हपत्यः परि-  
 मण्डल उ वा ऽअयं लोकः \* ॥ ३७ ॥

अथैनौ सन्निवपति । सञ्चा मेवाभ्या मेतत्  
 करोति समित् सङ्कल्पेथाः सं वां मनांसि  
 सं व्रतान्ने त्वं पुरीष्यो भवतं नः समनसाविति  
 शमयत्येवैनावेतद्विःसायै यथा नान्योऽन्यः हि-  
 स्याताम् ॥ ३८ ॥

चतुर्भिः सन्निवपति । तद्ये चतुष्पदाः पशव-  
 स्तैरेवाभ्या मेतत् सञ्चां करोत्यथो ऽअन्नं वै पशवो-  
 ऽन्नेनैवाभ्या मेतत् सञ्चां करोति ॥ ३९ ॥

तां नृ.रिक्ता मवेचेत नेद्रिक्ता मवेचा ऽइति  
 यद्रिक्ता मवेचेत यसेत हैन्नम् ॥ ४० ॥

अथास्याः सिक्ता आंवपति । अग्नेरेतद्-  
 वैश्वानरस्यं रेतो यत् सिक्ता अग्नि मेवास्या मेतद्

\* 'लोकः'—इति ग, घ ।

वैश्वानरः॑ रेतो भूतः॑ सिञ्चति सा समखिला  
स्यात्तस्योक्तो बभूवुः ॥ ४१ ॥

अथैनां॑ विमुञ्चति । अप्रदाहाय॑ यद्धि युक्तं  
न विमुच्यते प्र तद्दृष्टत ऽएतद्वा ऽएतद्युक्ता रेतो-  
ऽभाषीं॑ देत मनिं॑ त मवाजीजनदथापरं धत्ते योषा  
वा ऽउखा तस्माद्यदा योषा पूर्वः॑ रेतः प्रज-  
नयत्यथापरं धत्ते ॥ ४२ ॥

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्य मिति । मातेव  
पुत्रं पृथिवी पशव्य मित्येतदग्निः स्वै योनाव-  
भारुखेत्यग्निः स्वै योनावभाषीं॑ दुखेत्येतत्तां विप्रवै-  
देवैर्ऋतुभिः सव्विदानः प्रजापतिर्विप्रवकर्मा वि-  
मुञ्चत्वित्यवृत्तवो वै विप्रवै देवास्तदेनां विप्रवैदेवै-  
र्ऋतुभिः सव्विदानः प्रजापतिर्विप्रवकर्मा विमु-  
ञ्चति ता मुत्तरतो ऽग्नेर्निदधात्यरत्निमात्रे तस्योक्तो  
बभूवुः ॥ ४३ ॥

अथास्यां॑ पयं अन्नयति । एतद्वा ऽएतद्रेतो  
धत्तेऽथ पयो धत्ते योषा वा ऽउखा तस्माद्यदा  
शुष्मा॑ रेतो धत्तेऽथ पयो धत्तेऽधराः सिंक्ता

भुवन्त्युत्तरं पयोऽधरः हि रेत उत्तरं पयस्तन्-  
मध्यः ऽन्वयति यथा तत् प्रति पुरुषशीर्षं  
मुपद्ध्यत् ॥ ४४ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।  
निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥  
उखासम्भरणाद्यं तु भस्मावहरणान्तकम् ।  
चित्यस्याग्नेर्वाह्यं मङ्गं प्रोक्तं षष्ठेऽथ सप्तमे ॥  
इष्टकाचयनात् पूर्वं मग्निस्थानस्य संस्क्रिया ।  
कर्त्तव्या या समासेन सेहं विस्पष्ट मीर्यते ॥

“अग्निं चिनुते”—इत्यनारभ्य \* विहितस्य अग्निचयनस्य †  
“अथातोऽग्निं मग्निष्टोमेनानुयजति”—इत्यादिवाक्येन ‡ सोमयाग-  
शेषत्वावगतेः सान्निहस्य सम्बन्धिनां गार्हपत्यादिधिष्णयानां सर्वेषां  
मेव चयनम् ; संस्कार्यत्वात् †. तत्र धिष्णेषु गार्हपत्याख्यस्य  
धिष्णस्यप्राथम्यात् ‡ तत्र प्रथमं चयनं विधिक्षुस्ततः प्राच्यान्  
भूसंस्कारान् विधास्यन् तत्स्थानस्य समन्त्रकं व्यदूहनं  
विधत्ते— “गार्हपत्यं चैस्यन्निति । ऋहपतिन्ना संयुक्तोऽग्निः

\* ते० सं० ५. ५. २, ३ अनुवाकौ द्रष्टव्यौ ।

† ऋ० ऋ० २. ३. १० अधिकरणं द्रष्टव्यम् ।

‡ ‘संस्कार्यत्वात्’—इति च दृष्टी वेवरेण ।

गार्हपत्यः ; “गृहपतिना संयुक्ते आः”-इति \* पाणिनिद्वृतेः ।  
 इह तु तस्याग्नेः आधारभूतो भूपदेशः । आधाराधेययो-  
 रभेदोपचारेण<sup>†</sup> आधेयवाङ्मिना शब्देनोच्यते संस्कर्तव्यत्वप्रति-  
 पत्तये । अयं मर्थः । यस्मादेतत् स्थानं गार्हपत्यस्याग्नेः  
 अधिकरणम्, अतश्च चयनेन संस्कर्तव्यमित्यर्थः । संस्कारश्चात्र  
 प्राधान्यद्योतिव्या द्वितीयया “ब्रीहौ च प्रोक्षति”-इत्यादाविव प्रति-  
 पाद्यते । चेष्वन्निति हेतो गृहपत्ययः । “लक्षणद्वेषोः क्रियायाः”  
 -इति † । यतोऽस्मिन् स्थाने चयनं कर्तव्यम्, अतो हेतो-  
 रेतत् स्थानं पलाशशख्या शाखया “अपित”-इति वक्ष्यमाणेन  
 मन्त्रेण ‡ “व्युदूहति” लोड्डृणादिकसम्भारजनेनापसारयतीत्यर्थः § ॥

व्युदूहनस्य प्रयोजनमाह— “अवस्यति हैतदिति । गार्हपत्य-  
 स्याग्नेर्यत् स्थानं चयने संस्करोति मयात्र सोमेन गृह्यमिति,  
 ‘तत्’ तेन व्युदूहनेन ‘अवस्यति’ निश्चिनोत्येव । यद्वा, गार्हपत्यस्य  
 यश्चयनं तदेव देवयजनाध्यवसानम् । तथाच ‘ये केचित्’ ‘अग्नि-  
 चितः’ अग्निश्चितवन्ती यजमानाः ‘ते’ ‘अस्या मेव’ वृथिव्या मेव  
 ‘अवसिताः’ अथवसानं प्राप्तास्तत्रैव प्रवर्तन्ते, ‘तत्’ तथा सति  
 पलाशशाखया ‘यत्’ स्थानं ‘व्युदूहति’-इति यत् ‘तत्’ तेन  
 ‘अवसितानिव’ तत्र स्थितान् प्राक्षणाद् यजमानान् ‘व्युदूहति’  
 विविधं निरस्यति । ॥

\* पा० सू० ४. ४. ६ । † पा० सू० ३. २. १२६ ।

‡ अनुपदमेव द्वितीया कण्ठी द्रष्टव्या ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ३ ।

॥ “व्युदूहति । गार्हपत्यस्थानेऽपित्तं ळणादि, प्राक्षणाद्यवधि-  
 निस्सारयति”-इति कर्कः (का० श्रौ० सू० १७. १. ३.) ।

व्यदूहन् कुर्वती यजमानंस्याभिप्राय माह— “नेदिति ।  
अग्निचयन मनुष्ठाय तत्रैवावस्थितान् यजमानान् अत्रैव ‘नेत्  
अध्यवस्थानि’ \* तथा सुपरि अध्यवसानु भवस्थानं नैव करवाणि †  
‘इति’ अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ॥ १ ॥

तस्मिन् व्यदूहने प्रतीकग्रहणेन मन्त्रं विधत्ते— “अपे-  
तेति ‡ । अत्र चापेतवीतेतिवाक्यद्वयस्यार्थं माह—“अप चैवेतेति ।  
हे यज्ञविरोधिना जनाः ! अस्मात् स्थानात् ‘अपेत’ अपगच्छत,  
अपगमनसमयेऽपि ‘वीत’ विविधं गच्छत । अनयोरपगमन-  
विगमनयोः समुच्चयो विवक्षित इत्यसु मर्थं द्योतयितुं चकारयोः  
प्रयोगः । ‘वि च सर्पतात’—इत्येतदनूद्य व्याचष्टे—“व्यु चेति ।  
‘ये तु’ प्राणिनः उदरेणैव सर्पन्ति गच्छन्ति , तान् सर्पसरी-  
सृपादीन् प्राणिनः प्रति अस्मात् स्थानात् अपगमन मनेन  
प्रार्थते इत्यर्थः ॥

तथा च मन्त्रभागस्थाय मर्थः— हे उदरेणैव सर्पणशीलाः  
पन्नगादयः ! ‘अतः’ अस्मादग्निचयनस्थानाद् ‘विसर्पत’ विविधं  
गच्छतेति । द्वितीयपद मन्तूद्य व्याचष्टे—“येऽत्र स्तेति । पुरा अती-  
तकाले भवाः ‘पुराणाः’ । “सायञ्चिरम्राह्णेप्रगीऽव्ययेभ्यः”—इति †  
पुराशब्दादव्ययात् द्यु-प्रत्ययः , “पुराणप्रोक्तोषु”—इति ‡ निपातनात्  
तुडभावः , तथा च सनातना इत्यर्थो भवति । नूतना इत्यस्यार्थं

\* ‘अध्यवस्थामि’ ङ, च, ज ।

† ‘करिष्यामि’ ङ, च, ज ।

‡ वा० सं० १२. ४५ ।

§ ‘पा’ ङ० ४. ३. २३ ।

॥ पा० ङ० ४. ३. १०५ ।

माह— “अधुनातना इति । ‘अधुना’ अस्मिन् वर्त्तमान-  
काले भवाः । तदर्थं मन्त्रभागस्यार्थः,— ‘अत्र’ अस्मिन् स्थाने  
ये पुराणाः सन्तः स्य, ये च नूतना अधुनातनाः स्य, ते सर्वे  
यूय मपेतेति ॥ २ ॥

द्वितीयपाद मन्त्रव्यवच्छेदे— “अदाद्यम इति । अवस्यति  
अस्मिन्निति ‘अवसानं’ स्थानम्, ‘पृथिव्याः’ सम्बन्धि यत्, तत्  
‘यमः’ अस्मभ्यम् दत्तवान् । “यमो ह वा इत्यादि । ‘अस्याः’  
पृथिव्याः संबन्धिनः ‘अवसानस्य’ स्थानस्य यमः खलु ‘इष्टे’,  
अतः स एव अस्मै-यजमानाय ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘अवसानं’ स्थानं  
‘ददाति’ ॥ ३ ॥

चतुर्थपाद मन्त्रव्यवच्छेदे— “अकन्निति । ‘पितरः’ पित्र-  
देवतः ‘यस्मै’ यजमानाय अग्निचयनार्थम् ‘इमं लोकं’ स्थानम्  
‘अकन्’ अकण्ठत्वात् । “अत्र वा इत्यादि । अत्रियजातिर्हि यमः,  
पितरस्तु तस्य ‘विशः’ प्रजाः । “यमः पितृणां राजा”—इति हि  
श्रुतिः \* । “यस्मा उ वा इति । लोके हि ‘अत्रियः’ राजा ‘विश’  
स्वकीयया प्रजया ‘संविदानः’ सञ्ज्ञानानः, ऐकमत्यं प्राप्तः  
सन् ‘अस्यां’ पृथिव्यां यस्मै पुरुषाय अवसानं ‘ददाति’, तस्य  
‘तत्’ ‘सुदत्तं’ शोभनदत्तं भवति । यथायं दृष्टान्तः, तथैव खलु  
‘अस्मै’ यजमानाय ‘अत्रियः’ यमोऽपि पित्ररूपया स्वकीयया  
‘विश’ सञ्ज्ञानानः सन् ‘अस्मै’ यजमानाय ‘अस्यां’ पृथिव्याम्  
‘अवसानं’ स्थानं ‘ददाति’ ॥ ४ ॥

तस्मिन् व्युद्घर्षे पलाशशाखायाः करणत्वं यद् विहि-

\* “यावन्तो वै न्दत्यन्ववस्तेषां यम आधिपत्यं परीयाय”—  
इति ने० सं० ५. १. ८. ४; ऐ० ब्री० ८. २. ३. १ इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् ।

तम् \* , तदनूय स्तीति— “पलाशशाखयेति । वृक्षेषु मध्ये पलाशवृक्षो ‘ब्रह्म’ ब्राह्मणजातिः । यद्वा , सोमाहरणसमये भूमौ पतितस्य पर्णस्य पलाशवृक्षरूपेणोत्पत्तेः † गायत्रीसम्बन्धात्, पलाशवृक्षो गायत्रीमन्त्रात्मकः । तथा च ‘तेनैव ‘ब्रह्मणा’ ‘तत्’ तत्र ‘अवसितान्’ अवसाय स्थितान् जनान् अस्मात् स्थानात् ‘व्युद्ग्रहति’ उच्चाटयति । मन्त्रकरणत्व मनूय स्तीति— “मन्त्रेणेति । “ब्रह्म वा इति । यद् ब्रह्म विवक्ति हि मन्त्रः , तथा च मन्त्रेण क्रियमाणं व्युद्ग्रहनं ब्रह्मणैव कृतं भवतीत्यर्थः ।

तस्याः पलाशशाखाया निरसनं विधत्ते— “ता सुदीची मिति ‡ । ‘उद्विचीम्’ उदग्रग्राम् , उदीचीं दिशं वा प्रति ‘ताम्’ पलाशशाखाम् ‘उदस्वति’ उत्क्षिपति , परित्यजतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

सन्नाजंनानन्तर मूषाणां निवपनं विधत्ते— “अयोषानिति § । क्षारमृत्तिका जषाः । पृथिव्याः पशुसमृद्धिहेतुत्वेनैतत् प्रशंसति— “अयं वै लोक इति । जषरदेशस्य पशुभिरुपजीव्यत्वादूषाणां पशुत्वव्यपदेश इति । “तस्मादिम इति । यस्मादूषाणां निवपनेन पशवोऽस्मिन् लीके स्थापिताः , तस्मादेव कारणात् इदानीं मपि ‘इमे’ ‘पशवः’ गवाद्याः ‘अस्मिन् लोके’ समृद्धा उपलभ्यन्ते ॥ ६ ॥

\* प्रथमा कण्ठी द्रष्टव्या ( १ , १५६ पृ० ) ।

† शत० ब्रा० १. ५. ४ द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ४ क ।

§ ता० श्रौ० सू० १७. १. ४ ख ।



जपनिवपनं प्रकारान्तरेण स्तोतुं मनुष्यदति— “यद्दे-  
वेति । जपशास्त्रं मुख्यरूपत्वं माख्यायिकया प्रतिपादयन् सञ्ज्ञान-  
हेतुताः साह— “प्रजापतिः प्रजा इति । “ता नानोस्वा इति ।  
नानाविधं परस्परं विभिन्नं मुख्यं गर्भवेष्टनं यासान्तास्तद्योक्ताः ,  
ततो भिन्नजातीयत्वात् ‘ताः’ प्रजाः परस्परं ‘न तं समजानत’  
समानज्ञानाः नाभवन् । ‘सः’ च प्रजापतिः ‘अकामयत्’ इमाः  
प्रजाः परस्परं ‘सञ्ज्ञानीरन्निति’ । एवं कामयित्वा भिन्नोस्व-  
जनितत्वं दोषं मालोच्य ‘ताः’ प्रजाः ‘समानोस्वाः’ समान  
मेक मेवोस्वं यासां तथाविधाः ‘अकरोत्’ । किं तत् समानं मुख्य  
मिति , तदाह— “तासां मूषानिति । उत्पद्यमानानां प्रजानां  
मुख्यत्वेनोषान् कृतवानित्यर्थः । तथा च एकोस्वजनित-  
त्वेन समानजातीयाः ‘ताः’ सर्वाः प्रजाः ‘समजानत’ ऐकमत्वं  
प्राप्ता आसन् । यस्मादेवं पुराहृतम् , ‘तस्माद्’ इदानीं मपि  
समानोस्वानां मेकमात्रकाणां प्रजानां सम्प्रतिर्दृश्यत इत्यर्थः ।  
“देवैरित्यादि । देवैः सह समानजन्मा भवामीत्यनेनाभिप्रायेण  
हि ‘यः’ यजमानो ‘यजते’ ‘तत्’ तथा सति उस्वसंस्तुतानां  
मूषाणां निवपनेन तेरेव ‘देवैः’ ‘समानोस्वः’ समानजन्मा  
‘भवति’ इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्मिन् निवपने मन्त्रं विधाय तदीयपदानि व्याचष्टे—  
“सञ्ज्ञानं मिति \* । करणे ष्युडित्याह †— “समजानतेति ।  
‘हि’ यस्माद् विप्रतिपत्ताः प्रजाः “एतेन” जपरूपेणोस्वेन ‘समजा-  
नत’ समानज्ञाना आभवन् , तस्मात् हे जप ! त्वम् “सञ्ज्ञान

\* वा० सं० १२. ४६. १ ।

† प्रा० सू० ३. ३. ११७ ।

मसीतिमन्त्रेष प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “पशवः कामधरश्च मिति ।  
 कामाः द्वियन्ते धीयन्ते अनेन गोरूपत्वेन सुतेनोषेधेति व्यु-  
 त्पत्त्या मन्त्रगतकामधरणशब्देन पशुविषयस्य कामस्य धारणं  
 प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “मयि त इत्यादि । हे खव ! यतः  
 त्वं कामधरण मसि , अतः ‘ते’ तव सम्बन्धि पशुरूपं ‘कामधरणं’  
 कामप्रापणम् । “मयि भूयादितिमन्त्रवाक्यार्थस्य पर्यवसान माह—  
 “मयि ते पशव इति । ‘ते’ तव सम्बन्धिनः ‘पशवः’ ‘मयि  
 भूयासुः’ इत्येतत् अत्र प्रतिपाद्य मित्यर्थः । न्युत्प्रेक्षैः प्रच्छादनं  
 विधत्ते— “तैरिति \* । ‘गार्हपत्यं’ गार्हपत्याग्निज्ञानम् । तत्  
 प्रच्छादनं प्रशंसति— “योनिर्वा इति । गार्हपत्याग्नि-  
 सम्बन्धिनी या ‘चितिः’, सा ‘योनिर्वै’ सर्वोत्पत्तिकारणम् ।  
 गार्हपत्याम्बेराहवनीयान्युत्पत्तिहेतुत्वात् तदीयचयनस्यापि उत्प-  
 त्तिहेतुत्वात् योनित्वेन सुतिः । “उख मूषा इति । “तासा  
 मूषानुख मकरोत्”—इत्याम्नातम् † । ‘तत्’ तेन खपैः प्रच्छाद-  
 नेन ‘सर्षा’ कृत्वा मेव ‘योनिम्’ आहवनीयाद्युत्पत्तये ‘उखेन’  
 प्रच्छादितवान् भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सिकतानां निवपनं विधत्ते— “अथेति । खपवत् ‘निवपति’  
 निश्चिपति ‡ । पृथिव्याः दक्षिणदिक् हेतुत्वेनैतत् स्तौति—  
 “अन्नेरेतदिति । ‘वैज्ञानरस्य’ विज्ञानरहितस्य ‘अन्नेः’ ‘एतद्’  
 भक्ष्यं ‘यत् सिकताः’ । ‘वैज्ञानरं’ विश्वेषु नरेषु अवस्थितं

\* का० श्रौ० सू० १७. १. ५ ।

† एतत्पूर्वस्या मेव कर्णां द्रष्टव्यम् ( ३ पृ० ७ प० ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ६ । ‘सिकताभिर्मन्त्रं कृत्वाद्यति’—  
 इति सत्र वृत्तिः ।

द्विरण्यगर्भात्मकं 'अग्निं' खल्वसौ यजमानं 'वेद्यन् भवति' ।  
 यथा च चीयमानो वैश्वानरोऽग्निः पृथिवीं न दहेत्,  
 तथा च सिकतानां निवपनं पृथिव्याः 'अग्निदाहाय' अति-  
 क्रम्य अतिशयितो वा दाहोऽतिदाहः \* , तद्ग्राहित्याय भवति ।  
 न खल्वग्निः स्वकीयं भस्मातीत्य दहति, किन्तु तेनैव ह्यन्नः  
 सन् दाहसमर्थो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

एतदेवानूय प्रकारान्तरेण स्तौति— "यद्वेवेति । "सिकता  
 इति । 'यत् एतद्' 'अग्नेः' वैश्वानरस्य 'रितः' ; वर्णसादृश्यात् । "न  
 वा अरेतस्कादिति । 'न' खलु 'अरेतस्कात्' निर्वीर्यात् पुरुषात् कि  
 मपीषदपि 'विक्रियते' उत्पद्यते † , अतश्चेयमाणोऽग्निः 'रितसः'  
 'अधि' उपरि चितः सन् 'विक्रियते' नानाविधफलसाधन-  
 यागहेतुत्वेन विक्रतो भवेत् 'इति' अग्नेनाभिप्रायेण सिकता-  
 निवपनं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्र मन्त्रं विदधाति— "अग्नेर्मन्त्रेति ‡ । "यातयाम  
 वा इति । 'अग्नेर्मन्त्र' 'यातयाम' गतसारम्, रितोरूपास्तु  
 'सिकताः' • 'अयातयाम्नाः' अगतसाराः ; तथा चैतेन सिकता  
 निवपनेन 'अयातयामम्' अगतसारम्, सारवदेव 'एतत्' चयनं  
 'करोति' इत्यर्थः ॥

सिकताभिः प्रच्छादनं विधत्ते— "ताभिरिति § । यतो रितः-  
 संस्तुताः सिकताः, तस्मात् तासां गार्हपत्यायतने सर्वत्र प्रक्षेपेण

\* '०ऽतिपाकः'—इति छ, च ।

† 'उत्पाद्यते'—इति ज १

‡ वा० सं० १२. ४६. २ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

सर्वस्वा मेव योनी प्रजोत्पत्तिहेतुभूतं 'रेत एव दधाति'  
सिक्तवान् भवति ॥ ११ ॥

शर्कराभिः परिश्रयणं विधत्ते— “अथैन मिति । 'एनं'  
गार्हपत्यप्रदेशं परिश्रयण्येभिरिति 'परिश्रितः' शर्करापर-  
पर्यायाः शुक्लपाषाणाः, तैः 'परिश्रयति' परितो वेष्टयति \* ।  
तत् परिश्रयणं प्रशंसति— “योनिर्वा इति । योनिस्थानीयाः ।  
'इद मेव' सिक्तारूपं 'सिक्तं रेतः' 'एतत्' एतया परि-  
श्रद्रूपया 'योन्या' 'परिश्रयति' परितो धारयति, यथा न  
विपद्यते । यस्मादेवं वैदिके कर्मणि, 'तस्मात्' एव कारणात् यो-  
षित्सु गर्भाशये 'सिक्तं रेतः' 'योन्या परिश्रयति' परितो धार्यते ।

एतदुक्तं भवति,— गार्हपत्यचितिसक्काशादेतदुत्पाद्यते आह-  
वनीयचितिः ; तदुत्पन्नावत्र न्युक्ता जषा उल्वं सिक्ता रेतः परि-  
श्रितो योनिः ; अतः परिश्रयणान्तैः संस्कारैः आहवनीयचितिः  
गर्भावस्था प्रतिपद्यत इति ॥ १२ ॥

एतदेव परिश्रयण मनुष्य प्रकारान्तरेण स्तीति— “यद्दे-  
वेन मिति । “अयं वै लोक इति । 'अयं' भूर्लोकालोकः  
खलु 'गार्हपत्यः' अग्निः ; तद्वाचिन्या भूरितिष्याहृत्या आ-  
हितस्वात् । “आपः परिश्रितं इति । परिश्रयणार्थाः शर्कराः  
'आपः' उदकात्मिकाः ; शर्करायुक्ते हि भूप्रदेशे खननादाप  
उपलभ्यन्ते । तथाच गार्हपत्यस्य परिश्रयिः परिश्रयणे  
सति 'इमम्' एव भूलोकम् 'अग्निः' 'परितनोति' परितो  
वेष्टयति । केनोपापेनाग्निः परिवेष्टन मिति तदाह— “समुद्रे-

\* 'परिश्रयन्ति, परितो वेष्टयन्ति'—इति ज ।

वेति । “तस्मादिदं मिति । यस्मात् परिश्रिद्धिः गार्हपत्यस्य परिश्रयुषं भूश्लोकस्य समुद्रेणावरणकारणम्, ‘तस्मात्’ ‘इमं लोकं’ ‘सर्वतः’ सर्वास्तु दिक्षु ‘समुद्रेः’ ‘पर्येति’ परितो व्याप्नोति । परिश्रयस्य प्रादक्षिण्यं विधाय स्तौति— “दक्षिणाहृदिदिक् । प्रदक्षिणम् ‘प्राहृत्’ भावर्तनं यथा भवति तथा परिश्रयेदित्यर्थः । ‘तस्मात्’ कारणभूते परिश्रयस्य दक्षिणाहृदिदर्शनात् समुद्रोऽपि ‘इमं लोकं’ ‘दक्षिणाहृत्’ प्रदक्षिणावर्तनेन ‘पर्येति’ परितो जन्वति । स्वाते देशे परिश्रयुषं विधाय स्तौति— “स्वातेनेति । गार्हपत्यायतनस्य परितः स्वातेन प्रदेशेन परिश्रिद्धिः परिश्रयेत् ॥ १३ ॥

तस्मिन् परिश्रयस्य मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— “चितः स्वेति \* । ‘हि’ यस्मात् ‘एनाः’ शर्कराः ‘चिनोति’ ख्यापयति, तस्मात् हे शर्कराः ! यूवं ‘चितः स्य’ चीयमाना भवथेति समवेतार्थी मन्त्रभागः । “परि ह्येना हति । यस्मादेताः परिश्रितचिनोति, तस्मात् ‘परिचितः स्य’ परितचीयमाना भवथेति ॥

“जर्षा उददधदिति । परिश्रितः जर्षमुखा चवस्थापयन् “जर्षचितः श्रयध्व मिति” † मन्त्रभागं ब्रूयादित्यर्थः । तदेतत् सूचितं कात्यायनेन— “परिश्रिद्धिः परिश्रयति पूर्ववदेकविंशत्या चितः स्तौति ‡ ।

“समुद्रो विजतः इति । चतुर्पथां परिश्रिता मूर्धमुखत्वात् तस्मद्गुदाय रूपः समुद्रोऽपि जर्ष एव विजते । “यो विजो

\* वा० सं० १२. ४६. ३ क ।

† वा० सं० १२. ४६. ३ ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

भयचलनयोः” \* । कञ्जोलैरुर्ध्वं चलति, समुद्र इत्यर्थः ; न तु तिर्यक् कृत्स्नां भूमि माह्वणोति † ।

तिर्यगुपधाने दोष माह— “अथ यत् तिरश्चौरिति । ‘तिरश्चोः’ तिर्यगञ्चनाः । “सकृद्वेद मिति । युगपदेव ‘इदं सर्वं’ जगत् ‘समुद्रो निर्मूज्यात्’ ‡ निःशेषेण प्रचालयेत्, सर्वं समुद्रे प्रविलीयेत § इत्यर्थः । सादनं सूददोहसाधिवदनञ्च इष्टकाधर्मतया प्रसक्तम्, अत्र निषेधति— “ज सादयतीति । उपधानकाले मन्त्रेणोपधाय ततस्तथा देवतयैत्युपहितस्य सादनम् ; “ता अस्य सूददोहस इति मन्त्रः ॥ सूददोहाः, तेनाधिवदनं सुपरिष्ठाद् वदनम्, सर्वेष्टकासाधरणो धर्मः ¶ ; तदुभयं परिश्रितुपधाने न कर्त्तव्यम् । तत्र हेतुः— ‘असन्ना ह्यापः’ क्वचित् क्वचित् सोदन्ति ; प्रवहणशोलत्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

सूददोहसो निषेधं सुपपादयति— “अस्थीनि वा इति । अस्थ्यात्मिका हि ‘परिश्रितः’ शर्कराः ; तस्मादृश्यात् । “अस्य सूददोहसः”—इति सूददोहः-शब्दयुक्तो मन्त्रः ‘सूददोहाः’ ; स च प्राणात्मकः खलु । सूदं शोभनं मुदकं दोग्धि, येन सिक्तं सत् रसं न शुष्यति ; यस्मिन्नङ्गे प्राणः सञ्जातो नास्ति, तत् काष्ठवत्

\* तु० व्या० ६ धा० ।

† ‘कञ्जं एव विजते आप्नोति’, न तु कृत्स्नां भूमि माह्वणोति । विजति आप्निकम्माः—इति च, ज ।

‡ ‘निर्मूज्यात्’—इति मूलपाठः ५५ पृ० ११ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ ‘स च समुद्रे प्रति विलीयेत’—इति ज ।

॥ वा० सं० १२. ५५ ।

¶ ‘मन्त्रः’—इति ज ।

शुक्ल मेव भवति ; अतः प्राच एव सूददीष्टाः । तथा चास्वि-  
संस्तुतासु परिश्रित्यु नासो कर्त्तव्यः ; न स्वस्वस्वितु प्रापोऽस्ति ,  
नाङ्गोश्चेव हि तस्य सञ्जात इत्यर्थः । “चितः स्वेत्वेकेनैव यजुषा \*  
बहूनां परिश्रितां स्थापनं सुपपादयति—“एकेनेति । ‘उपदधाति’-  
चोदितत्वात् परिश्रिता मिष्टकात्वम् । अत एवाहापस्तम्बः—  
“सूची सप्त स्वयमादृष्टाः शर्करा हिरण्येष्टकाः पञ्च हृतेष्टका  
दूर्वास्तम्बः कूर्मं उलूखलं सुसलं शूर्पं मशानः पशुगिराण्सि  
सर्पगिरश्चान्ययोरिष्टकाः”—इति † । “एकं चोददिति । आप  
इति यत्, तदेक मेव हि रूपम्, एकरूपा एव हि  
स्वस्वन्ते, अतः ‘एकेन यजुषा’ परिश्रित्द्रूपाणां मया सुपधानं  
युक्तं मिति ।

“बह्वी षीति । ‘हि’ यस्मात् ‘आपः’ ‘बह्वः’ बहुविधाः,  
तस्मात् तदात्मिकाः ‘परिश्रितः’ अपि ‘बह्वी भवन्ति’ बहुशब्दाद्  
“वीतो गुणवचनात्”— “बहुनादिभ्यश्च”—इति ‡ डोप् ॥ १५ ॥

परिश्रित्द्रूपसिकतानां बाह्याभ्यन्तरभावं विधाय स्तीति—  
“तद्दे योनिरेत्यादिना । ‘तद्दे’ तत्र जषसिकतापरिश्रित्यु मध्ये  
‘परिश्रितः’ शर्कराः ‘योनिः’ गर्भनिर्गमणमार्गः । उस्व-संस्तुता  
जषाः, रेतः-संस्तुताः सिकताः, अतो योनि-संस्तुतानां परिश्रिता  
सुववात्मकेभ्यो बाह्यत्वम्, जषाणाञ्च तत आन्तरत्वं सुपपन्नं  
मित्यर्थः । “बाह्यं जषा भवन्तीत्यादि । उस्वसंस्तुतत्वादद्रूपाणां  
बाह्यदेशवर्तित्वम्, रेतःसंस्तुतत्वात् सिकतानां मध्यन्तरत्वं

\* वा० सं० १२. ४६. ३ ।

† आप ऋ० सू० १६. १३. १० ।

‡ पा० सू० ४. १. ४४, ४५ ।

बुद्ध मित्यर्थः । “बाह्यं हीति । लौकप्रसिद्धीपपादनम् ।  
“एतेभ्यो वा इति । योग्यस्वरतोभ्यः खलु जायमानो जन्तुर्जायते  
लोके । तथा च ‘एनम्’ अन्निं ‘तेभ्य एव’ योग्यादिभ्यः इदानीं  
‘जनयति’ ॥ १६ ॥

इत्थं संस्कृतगार्हपत्यायतनस्त्रेष्टकाभिचयनं विधत्ते — “अथैन  
मिति । ‘अथ’ अनन्तरम्, सिकताक्षमा सिकताश्च रेतसः यस्मात्  
कार्यरूपेण परिणामोऽपेक्षितः, ‘अतः’ कारणात् ‘एनं’  
व्युद्भूतनादिभिः संस्कृतं गार्हपत्यदेयं मिष्टकाभिः ‘चिनोति’ ।  
‘इद मेव’ सिकतारूपेण ‘सिकता रेतः’ ‘एतत्’ एतेन अयनेन  
‘विकरोति’ विजत मवयवयुक्तं करोति । “तस्मादिति लौकिको-  
दाहरणम् ॥ १७ ॥

विहितस्य अयनस्य निष्पत्तये इष्टकानां मुपधानप्रकारं  
विधत्ते — “स अतस्त्र इति । गार्हपत्यायतनस्य” मध्ये प्रथमं  
‘अतस्त्रः’ ‘प्राचीः’ प्रागायताः इष्टकाः उपदध्यात् । ततः  
‘पश्चात्’ पश्चाद्भागे ‘तिरश्चरी’ तिर्यगायते ‘हे’ इष्टके उप-  
दध्यात् । तथा अतस्त्रां ‘पुरस्तात्’ अपि हे तिरश्चरी उपदध्यात् ।  
एतासु त्रिविधास्त्रिष्टकासु अवयवव्युक्तिं करोति — “तद्या-  
चतस्रः \* इत्यादिना । “सं आप्तेति । मध्यदेशे इत्यर्थः । “अतु-  
र्विधो ज्ञय मिति । त्वगस्रज्मांसासुस्त्रिभेदेन, मनोबुधश्चन्द्रा-  
चिन्तैर्वा, आगदाद्यवस्त्राचतुष्टयेन वा आसनवातुर्विध्यम् ।  
सकथ्याविति । ऋक्ष्यिः श्रोणिः, तेन च पादो लक्ष्यते ; पश्चा-  
दुपहिते इष्टके पादादित्यर्थः । पादपाणियुक्तस्वास्त्रं शरीरस्य

\* ‘तद्याचतस्र’—इति सर्वमूलपुस्तकसम्मतः पाठः ; भाष्ये तु  
सर्वत्रैव ‘तद्याचतस्र’—इति ।



किन्तिर्हि शिर इत्यत आह—“यत्र वा इति । ‘यत्र’ खलु  
‘आत्मा’ मध्यदेहो वर्तते, तत्रैव ‘शिरः’ आत्मन्येवात्मर्भूत मिति  
अतो न पृथग् वक्तव्य मित्यर्थः ॥ १८ ॥

“तं वा इत्यादि । ‘अत्र’ अस्मिन् गार्हपत्यस्थाने ‘तम्’  
एव ‘एतम्’ अग्निं पादाभ्यां पुच्छेन च युक्त मिव ‘विक-  
रोति’; मध्ये चतस्रः, उभयपार्श्वयोः द्वे द्वे, इत्येव सुपधीय-  
मानत्वात् । “यादृग् वा इति । ‘योनी’ गर्भाशये अवस्थितं  
‘रितः’ गर्भः, यादृशाकारं ‘विक्रियते’ विशिष्टावयवं क्रियते,  
जननसमयेऽपि तादृशाकारविशिष्ट मेवापत्यं ‘जायते’ ।

इत्थं लौकिकी स्थिति मुक्ता प्रकृते योजयति—“तद्यदिति ।  
‘तत्’ तत्र ‘एतम्’ अग्निम् ‘अत्र’ गार्हपत्यायतनयोनी ‘यद्’ यस्मात्  
‘पक्षपुच्छवन्तं विकरोति’ सूक्ष्मरूपेण निर्मिमोति, ‘तस्मात्’  
‘एषः’ अग्निः ‘असुत्र’ आहवनीयस्थाने ‘पक्षपुच्छवान्’ ‘जायते’  
जायमान उपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

“तं वा इति । “न पक्षपुच्छवन्त मिव पश्यन्तीति । सता  
मपि पक्षपुच्छाना मदर्शनं योन्या मनभिव्यक्तेर्वा भवति \* । एत  
लौकिकोदाहरणेनोपपादयति—“तस्मादिति † । “यथारूप  
मिति । विद्यमानं शिरःपादादिकां कृत्स्नं रूप मित्यर्थः ।  
“अथेन ममुद्रेति । ‘एतम्’ अनभिव्यक्तरूप मग्निम् ‘असुत्र’  
आहवनीयस्थाने अभिव्यक्तं ‘पक्षपुच्छवन्तं’ यस्मात् ‘पश्यन्ति’,  
‘तस्मात्’ एव कारणात् जननात् प्रागनभिव्यक्तावयवं गर्भजन-  
नात् जङ्घं ‘यथारूपम्’ अभिव्यक्तावयवं ‘पश्यन्ति’ इत्यर्थः ॥ २० ॥

\*; † नैतद् वाक्यद्वयं जादन्वेषु ।

“स चतस्र इति । “आत्मा ह्येवाथ इति । यस्मात् शिरसा युक्तो मध्यदेहः ‘एव’ ‘सम्भवतः’ उत्पद्यमानस्य प्राणिनः ‘एषे’ प्रथमतः ‘सम्भवति अभिश्चक्रो भवति, तस्मादात्मसंस्तुता, इष्टकाः पूर्वं सुपदध्यादिति युक्तम् । तस्मिन्सुपधाने धर्मविशेष माह— “दक्षिणत इति । गार्हपत्यायतनस्य दक्षिणदेशे उदङ्मुखं आसीनः चतस्रणां मध्ये ‘प्रथमाम्’ इष्टकाम् ‘उत्तरार्द्धाम्’ उत्तरार्धे भवाम्, उत्तरभागेऽवस्थिता सुपदध्यात् । “दिक्पूर्वपदादृष्टेति उत्तरार्द्धाद्यत् प्रत्ययः \* । उत्तरार्द्धायाः प्रथम सुपधाने प्रयोजन माह— “तथो हेति । तथैव खलु ‘अस्य’ दक्षिणतोऽवस्थितस्य अञ्चर्योः ‘एषः’ अग्निः ‘अभ्यात्मम्’ आत्माभिमुख मेव ‘चितो भवति’ ॥ २१ ॥

चतस्रणा सुपधाने “अयं सो ऽअग्निरित्याद्याश्चत्वारो मन्त्राः †, इत्यभिप्रेत्य प्रतीक सुपादत्ते— “अयं स इति । तथाच कात्यायनः— “मध्येऽर्द्धहृत्तीश्चतस्रो दक्षिणोत्तराः प्राचीरुपदधाति, दक्षिणत उदङ्मुखं सो ऽअग्निरिति प्रत्यृच मिति ‡ ॥

तत्र प्रथमाया ऋचोऽय मर्थः §,— ‘सः’ चीयमानो गार्हपत्योऽग्निः ‘अयं’ भूलोक एव । ‘यस्मिन्’ शरीरभूतेऽस्मिन् भूलोके जठरमध्ये ‘वावशानः’ कामयमान इन्द्रः ‘सुतम्’ अभिषुतं ‘सोमम्’ तत्कारणभूतः वृष्टिलक्षणाः अपः ‘दधे’

\* पा० ख० ४. ३. ६ ।

† वा० सं० १२. ४७-५० ।

‡ का० श्री० ख० १७, १८. ८ । “अर्द्धहृत्तीरिष्टकाः ।

§ अयं पाठः,— “अयं सो अग्निर्धूमिन्सोम मिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः । महस्त्रियं वाज मत्तन्न ममिन् ससवानस्तयसे जातवेदः ॥

अवत् । 'सहस्रियं' सहस्रोपकारजनकं 'वाजम्' अक्षय्य मन्त्रम् ,  
'सति' सत्त्वशीलम् , 'अत्वं' सततगामिनम् , 'अत्वं न' अश्व  
मिव । नेत्सुपमार्थे \* । 'ससवान्' सभक्तवान् । "वनषण  
सभक्तौ"—इत्यस्मात् † कसी रूपम् । गार्हपत्यरूपेण प्रथमं चितः  
सन् हे 'जातवेदः' जातामां वेदितः अन्ने ! 'स्तूयसे' आह-  
वनीयात्मना चीयमानः तद्धारणमन्त्रैः प्रतिपाद्यसे इत्यर्थः ॥

एतदर्थपरतां मन्त्रस्य प्रतिपादयति— "अयं वै लोका इत्या-  
दिना । "मध्यं वै जठर मिति । देहमध्यवाचिना जठरशब्देन  
भूलोकस्य मध्यं मत्र लक्ष्यते । "आपो वै सहस्रिय इति । उप-  
काराणां सहस्रेण सन्धितः 'सहस्रियः' । "सहस्रेण सन्धितौ  
घः" ‡ । तथाविधो वाजोऽन्न मबुक्ष्यं विवक्षितम् ॥ २२ ॥

द्वितीयं मन्त्रं भागशोऽनूय व्याचष्टे— "अन्ने यत्त इति ।  
अस्य मन्त्रस्यार्थि मर्थः §,— हे 'अन्ने !' 'यत्' 'ते' त्वदीयं  
'वर्चः' आदित्यात्मकं ष्योक्तिः 'दिवि' वर्त्तते , तथा 'पृथिव्या'  
भूलोके 'यद्' वर्चः दाहपाकप्रकाशनसमर्थं मन्व्यात्मकं ष्योति-  
रसि , 'ओषधीषु' तद्गुल्माद्यासु , 'अप्सु' 'आ' आकारः  
समुच्चये , उदकेषु जाठरवाडवरूपेण , हे 'यजत्र' यजनीयान्ने !  
त्वदीयं यत् तेजोऽस्ति , 'येन' वाय्वात्मना तदीयेन रूपेण 'उह'  
विस्तीर्णम् 'अन्तरिक्षम्' 'आततन्व' आतनीषि , हे अन्ने ! 'त्वेषः'

\* निरु० १. २. १ ।

† आ० प० ४६४ धा० ।

‡ पा० छ० ४. ४. १३५ ।

§ तस्मात्पाठः— "अन्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वासा  
यजत्र । येभान्तरिक्षं सुधाततन्व त्वेषः स भातुरर्षवो वृक्षवाः"—इति ।

दीप्यमानो महानित्यर्थः । 'सः' अग्निः वायुादिरूपेण लोकभयं व्याप्य अवस्थितः, तदीयो 'भानुः' प्रकाशः 'अर्णवः' समुद्रोपमः सन्, 'नृचक्षाः' सर्वेषां नृणां द्रष्टा, प्रकाशको भवति ॥

अयं मेवार्थः श्रुत्या प्रतिपाद्यते— “आदित्यो वा अस्य दिवि वर्च इत्यादिना ॥ २३ ॥

द्वितीयं मन्त्रं व्याचष्टे \*— “अग्ने दिव इत्यादि । हे 'अग्ने !' अस्य 'दिवः' अन्तरिक्षस्य सम्बन्धि 'अर्णो' मेघस्य मुदकं 'अच्छ' अभिलक्ष्य, धूम्रेण 'जिगासि' व्याप्नोषि । तथा अज्याम् 'ये' प्राण-रूपाः 'देवान्' 'धिष्णाः' धियः 'इच्छन्ति' व्याप्नुवन्तो वर्त्तन्ते, तान् देवान् त्वं जाठराग्निरूपेण 'जचिषे' समवैषि । “उच सभवाये” -इति † धातुः । तथा 'याः' 'आपः' 'रोचने' रोचमाने सूर्यलोके वर्त्तमानस्य 'सूर्यस्य' 'परस्ताद्' उपरिभागे वर्त्तन्ते, 'याश्च' 'अवस्ताद्' अधोभागे 'उपतिष्ठन्ते' वर्त्तन्ते, असा मात्रयित्वं प्राप्नोषीति शेषः ॥

उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य दर्शयति— “आपो वा अस्य दिवोऽर्ण इति । “एष धूम्रेनेति । भूम्यां पार्थिवरूपेणावस्थितः 'एषः' अग्निरित्यर्थः । “प्राणा वै देवा इति । दीव्यन्ति विषयप्रकाशान् जनयन्तीति 'देवाः प्राणाः' इन्द्रियाणि । “ते हि सर्वा इति । 'हि' यस्मात् 'ते' प्राणाः 'सर्वाः धियः' शब्दाद्विषययाणि सर्वाणि ज्ञानानि 'इच्छन्ति' आभीक्ष्येण व्याप्नुवन्ति । “इष आभीक्ष्ये”-

\* तस्यार्थं 'पाठः— “अग्ने दिवे अर्ण मच्छ जिगासच्छ देवाः जचिषे धिष्णा ये । या रोचने परस्तादूर्ध्वस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन् आपः”—इति ।

† दि० प० ११७ धा० ।

इति ऋयादिको धातुः \* । तस्मादेतं धिष्णशब्देन मन्त्रे  
विवक्षिताः । “याश्चैतं परेणेति । एतस्मात् सूर्याददूरेण परभागे  
इत्यर्थः । “एनबन्धतरस्याम्”—इत्येनप् †, “एनपा द्वितीया”—इति  
द्वितीया ‡ ॥ २४ ॥

“पुरीषासो अग्नय इति । चतुर्थी मन्त्रः § । अस्याय मर्धः,—  
पूरयति पयःप्रभृतिभिर्लोक मिति ‘पुरीषं’ पशवः, तंभ्यो हिताः  
‘पुरीषाः’ । “आजसेरसुक् ॥” । तथाविधाः ‘अग्नयः’, ‘प्रावणेभिः’  
प्रवनसम्बन्धिभिः सभ्रजनयुक्तैस्तेदेवैः ‘सजोषसः’ समानप्रीतयः  
सन्तः अस्मदीयं ‘यज्ञं’ ‘जुषन्ताम्’ सेवन्ताम् । तदनन्तरम्  
‘अद्भुहः’ द्रोहरहिताः, ‘अनमीवाः’ अनमीवा अग्ननाया, तद्-  
हिताः । ‘महीः’ महतीः ‘इषः’ अन्नानि, अस्मभ्यं प्रयच्छ-  
न्विति शेषः ॥

उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—“पशव्यासो अग्नय इत्येत-  
दित्यादिना । “प्रायणरूप मिति । ‘प्रावणेभिः’—इति मन्त्र-गतः  
‘प्र’-शब्दः ‘प्रायणरूपम्’ प्रायणस्य प्रगमनस्य प्रारम्भस्य रूपम् ।  
गार्हपत्यचित्तिश्च ‘अग्नेः’ अग्निचयनस्य प्रायणम् प्रारम्भः ;  
अतः प्रशब्दोपेतो मन्त्रोऽत्र योग्य इत्यर्थः । अनमीवा इत्यस्यार्थं  
माह—“अनग्ननाया इति । अग्निच्छा अग्ननाया क्षुत्पीडा ,

\* ऋ० प० ५२ धा० ।

† पा० छ० ५. ३. ३५ ।

‡ पा० छ० २. ३. ३१ ।

§ तस्यार्थं पाठः—“पुरीषासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ।  
जुषन्तां यज्ञं मद्भुहोऽनमीवा इषो महीः”—इति ।

॥ पा० छ० ७. १. ५० ।

न विद्यते सा यासां ताः 'अनशनायाः' । "अशनायोदन्यधनायाः"  
-इति \* बुभुक्षायां क्वचि त्वाभावो निपात्यते ॥ २५ ॥

एतासा मिष्टकानां क्रमेण कृत सुपधान मनुद्य स्तौति—  
"नानोपंद्धातीति । 'नाना' पृथगेकैकेष्टका सुपदध्यात् । तेन †  
'ये' 'आत्मन्' आत्मनि स्थिताः नानाविधाः कामाः, तान्  
सर्वान् सङ्कीर्णं पृथगेव 'दधाति' स्थापयति । सादनसूददो-  
हसोः सङ्गत्त्वं विधाय स्तौति— "सङ्गत् सादयतीत्यादिना ‡ ।  
तथा देवतयेति यत् सादनम्, तत् चतसृषुः मिष्टकानां  
सम्भूय सङ्गदेव कर्त्तव्यम् । 'तत्' तेन सङ्गत्त्वेन 'आत्मा-  
नम्' 'एकम्' एकाकारम् संहतं 'करोति' । पृथक् साद-  
नेन आत्मा विस्फिष्टः स्यात्, "ता अस्य सूददोहस इति § मन्वेण  
यदधिवदनम्, तदपि सादनस्य सङ्गत्त्वात् सङ्गदेव कर्त्तव्य  
मित्यर्थः । अत एव सर्वेष्टकोपधानस्याधारणधर्मत्वेन सादनसूद-  
दोहसो कात्यायनेनोक्ता— "नित्ये सादनसूददोहसा उपधाना-  
दुत्तरे तथा देवतया ता अस्येत्यविशेषोपदेशात्"—इति ॥¶ "प्राणि-  
नैवैन मिति । 'एनम्' आत्मानम् 'एतत्' एतेनाधिवदनेन 'सन्त-  
नोति' संयोजयति । तस्यैव त्रिवरणम्— "सन्दधातीति ॥ २६ ॥

पश्चिमाहयोरिष्टकयोरुपधानप्रकार माह— "अथ जघने-  
नेति ॥ मध्येष्टकोपधानानन्तर्यं मथ शब्दार्थः । 'जघनेन धरीत्य'

\* पा० सू० ७. ४. ३४ ।

† 'ततः'-इति' ज ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ६ ।

§ वा० सं० १२. ५३ ।

॥ का० श्रौ० सू० १६. ७. १४, १५ ।

¶ का० श्रौ० सू० १७. १. ११ क ।

गार्हपत्यस्थानस्य पश्चात् परिक्रम्य, 'उत्तरतः' उत्तरस्यां दिशि दक्षिणाशुक्लः 'आसीनः' सन् 'अपरयोः' पाश्चात्ययोरिष्टकयोः 'दक्षिणां' दक्षिणभागस्या मिष्टकाम् 'अपे' प्रथमम् 'उपदधाति' ।  
 "इडा मन् इति \* मन्त्रेण ॥

तस्याय मर्थः,— हे 'अग्ने !' 'हवमानाय' हवनं कुर्वते यजमानाय 'इडां' पशुं । जातावेकवचनम् † । गवा-  
 खादिपशून् 'साध' साधय । पशुरेव ‡ विग्रेष्यते— "पुरुदंस  
 मिति । दंस. इति कर्मनाम §, बहुकर्महेतुभूतम्, अन्त्यलोप-  
 ष्छान्दसः । 'शश्वत्तमं' शाश्वतिकतमञ्च पुत्रपौत्रादिरूपेणा-  
 विच्छेदेन सर्वदा वर्त्तमानम् ॥ । 'गोस्मनि' गवादिपशूनां  
 दातारम् । 'अस्मै' यजमानाय 'साधय' सम्पादय । अपि च  
 'नः' अस्माकं 'तनयः' पुत्रः, 'सूनुः' तत्पुत्रश्च, 'विजावा'  
 विविधानां जनयिता स्यात्, उत्पाद्यता मित्यर्थः । जनेर्वि-  
 पूर्वात् "अन्त्येभ्योऽपि दृश्यन्तै"—इति ण वनिप्, "विडुनोरनुनासि-  
 कस्यात्"—इत्यात्वम् \*\* । किं बहुना हे 'अग्ने !' त्वदीया सा  
 'सुमतिः' सर्वश्रेयोनिदानभूता कश्चापी बुद्धिः 'अस्मै' अस्मासु  
 'भूतु' भवत्वित्यर्थः ॥

\* वा० सं० १२. ५१ ।

† पा० ख० २. २. ५८ । . .

‡ 'शतदेव'—इति ज-पुङ्गवाकारम् ।

§ निघ० २. १. ३ ।

॥ 'पुत्रपौत्रादिरूपेण सर्वदा वर्त्तमानम्'—इति ङ, च, छ ।

¶ पा० ख० ३. २. ७५ ।

\*\* पा० ख० ३. ४. ४१ ।

एतदर्थपरत्वेन मन्त्रं व्याचष्टे— “पशवो वा इडेति । इडा खलु मनोर्दुहिता । तेनासु द्रुतैर्घृतदधिमस्वामिन्नारूपैर्द्रव्यै-  
रुत्पन्ना । एतच्च “तन्नापि पाकयज्ञेनेजी स घृतम्”—इत्यादिना  
प्रथमकाण्डे प्रतिपादितम् \* । तथा च पशुप्रभवद्रव्येभ्य उत्पन्न-  
त्वादिडायास्तद्वाचिनेडाशब्देन कारणभूताः पशव एवोच्यन्ते ।  
पुरुदंसादिविशेषणेषु लिङ्गव्यत्ययम्हान्दसः । पशूना भवेति  
कर्मणि षष्ठी ; पशुविषयाम् ‘आशिषं’ प्रार्थनाम् ‘अस्मै’  
यजमानाय अर्ध्वर्युः ‘आशास्ते’ । “यजमानो वै हवमान इति ।  
देवानाह्वयति , तेभ्यो जुहोतीति वा , हवमानशब्दो यजमान-  
वाचीत्वर्थः । “प्रजा वै स्रुनुरिति । तनय-शब्देन पुत्रस्य  
प्रतिपादितत्वात् तत्पुत्रादिरूपाः प्रजाः स्रु-शब्देन प्रति-  
पाद्यन्त इत्यर्थः ॥ २७ ॥

अथ पाश्चात्ययोरुत्तरस्या इष्टकाया उपधानं विधत्ते—  
“अथोत्तरा मिति † । उपदधातीति शेषः । मन्त्रस्याय मर्थः ‡ ,  
— हे ‘अग्ने !’ ऋत्वियः ऋतौ भवः , ‘सनातनः’ ‘अयं’  
भूप्रदेशस्तव ‘योनिः’ उत्पत्तिकारणम् । ‘यतः’ यस्माद्योनिः  
‘जातः’ सन् ‘अरोचथाः’ अदोष्यथाः , ‘तं’ योनिभूतं देशं  
‘जानन्’ ‘आरोह’ प्राप्नुहि । ‘अथ’ अनन्तरम् ‘नः’ अस्माकं  
‘रयिं’ धनं ‘वर्षय’ ॥

मन्त्रस्यैत मर्थं प्रतिपादयति— “अथन्त इत्यादिना § ।

\* १ भा० ५२५ पृ० १५ पङ्क्तिती द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. ११ क ।

‡ वा० सं० १२. ५२ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ११ ख ।



“ऋत्विय इति । मन्त्रपदस्यार्थः माह \*— “ऋतव्य इति । ऋतो भव इति विगृह्य “हृन्दसि घस्”-इति † घस्यत्वये ऋत्विय इति” रूपम् , तथा च ऋतव्य इति तस्यार्थो भवति ‡ । ‘सनातनः’-इति ऋतव्यपदव्याख्यानम् ; ऋत्वात्मकस्य कालस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् तत्र भवः अस्तिः ‘सनातनः’ नित्य इत्यर्थः । तथा च ‘जातः’-इति प्रादुर्भावमात्रं विवक्षितम् , नोत्पत्तिः । “अदोयथा इत्येतदिति । “रुच दीप्तावभिप्रीत्याञ्चेति § रुचिधातो-रनेकार्थत्वाद् च दीप्तार्थो विवक्षित इति भावः । “यथैव यजुरिति । यंजुर्मन्वो यथैव प्रतिपादयति , तथैव तस्य ‘बभ्रुः’ बन्धनीयं व्याख्यानम् ॥ ; स्रष्टार्थतया न पृथक् व्याख्यायत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

एतयोः पाश्चात्ययोः इष्टकयोरुपधानसादनादीनां पृथक् कर्तव्यता माह— “सक्थ्यावित्वादिना । ‘अस्य’ अग्नेः ‘सक्थ्यौ’ श्रोत्र्यौ ‘एते’ इष्टके ; अतः ‘ते’ ‘नाना’ पृथगुपदध्यात् । सादनद्ददोहसाधिवदने अपि पृथक् कर्त्तव्ये । तत्र कारण माह— “नाना होमे इति । ‘इमे’ मनुष्यसम्बन्धिन्वौ सक्थ्यौ ‘हि’ यस्मात् ‘नाना’ पृथगसंज्ञिष्टे भवतः , तस्मात् तत् संसु-

\* वा० सं० ३. १४ ; १२. ५२ ।

† पा० छ० ५. १. ११६ ।

‡ “ऋत्वियः । ऊपादनयोग्यः काल ऋतुव्यते । ऋतुः प्राप्नो-  
ऽस्येति ऋत्वियः । हृन्दसि घसिति ऋतुप्रव्याप्तस्य प्राप्तमित्यर्थे  
घस् , तस्य इयादेशः । सायम्प्रातःकाले उत्पादनयोग्यः”-इति मञ्जी० ।

§ भा० आ० ७४५ धा० । ‘रुच दीप्तावभिप्रीत्याञ्च’-इति तत्र पाठः ।

॥ ‘बभ्रुः’ बन्धनीयं ( ? बन्धनीयं ? ) व्याख्यानः-इति ज-पाठः ।

तयोः षष्टकयोरप्यसंज्ञेषो युक्त इत्यर्थः । “हे भवत इति ॥

पञ्चाङ्गागोपधान मन्वद्य स्तौति— “पश्चादिति । “पश्चाद्धीमे इति । ‘हि’ ‘यस्मात्’ ‘इमे’ दृश्यमाने पुरुषसम्बन्धिन्धौ सकथ्यौ । ‘पश्चाद्’ भागे शरीरस्यापरभागे भवतः , तस्मादनयोः पश्चादुपधानम् युक्तम् । अयप्रदेशेन तयोः परस्परसंसर्गं विधत्ते— “अथाभ्या मिति । आत्मसमीपे अयदेशः , तत्रैते ‘संसृष्टे’ भवत इत्यर्थः । “एवं ह्येमे इति । लौकिकं निदर्शनम् ॥ २८ ॥

पूर्वाङ्घ्रयोरुपधानप्रकार माह— “अथ तेनैवेति \* । येन मा-  
गेण पाञ्चात्ययोरुपधाने परिक्रमणं कृतम् , तेनैव पुनः ‘दक्षिणतः’  
‘परीत्य’ परिक्रम्य , तत्रोदङ्मुखः ‘आसोनः’ ‘पूर्वयोः’ इष्टकयोः  
मध्ये ‘अये’ प्रथमम् ‘उत्तरा सुपदधाति’ । “चिदसीति तस्य  
मन्त्रः † । अनन्तरम् , ‘दक्षिणाम्’ उपदधाति “परिचिदसीति ‡ ॥

तन्मन्त्रयोरय मर्थः ,— भोगांश्चिनोति सम्पादयतीति चित् § ।  
हे इष्टके ! त्वं ‘चित्’ चेतयमाना वागसि [ भोगांश्चिन्वा-  
नासि । या देवता त्वा मभिमन्यते ] ] । तथा वाश्रूपया ‘देव-  
तया’ ‘अङ्गिरस्वत्’ अङ्गिराः प्राणाः । “प्राणो हि वा अङ्गानां  
रसः”—इति ¶ तन्नामव्युत्पत्तेः । सोऽस्यास्तौत्यङ्गिरस्वत् । क्रिया-

\* का० श्रौ० सू० १७. १. १२ ।'

† वा० सं० १२. ५३. १ ।

‡ वा० सं० १२. ५३. २ ।

§ ‘चोयत इति चित् । यदा—इत्यादि महौधरः ।

॥ बन्धनीचिह्नान्तःप्रदर्शितः पाठो ज-पुस्तकमात्रे अधिकः ।

¶ शत० ब्रा० ६ का० १ प्र० २ ब्रा० २८ ख ।

विशेषण नीतत् । “तसौ मत्वर्धे”-इति \* भस्वादुत्वाभावः । तेन युक्तं यथा भवति तथा वाग्देवतया युक्ता असीत्यर्थः । ‘ध्रुवा’ स्थिरा संती ‘सोद’ निम्नस्था भव ॥

परिचिदंसोति द्वितीयो मन्त्रः । परितो भोगांश्चिन्वाना सम्पादयमानासीत्यर्थः † । ‘सक्थावस्थैते’-इतिवद् ‡ ‘बाह्व अस्थैते’-इति व्याख्येयम् ॥

एतासा मिष्टकाना सुपधानस्य प्रादक्षिण्य सुपनयेन दर्शयन् स्तौति— “स वा इतीमा इति । ‘इमाः’ मध्ये उपधीयमानाद्यतस्त इष्टकाः आत्मन उत्तरार्धे मारभ्य दक्षिणा उपदधाति § । ‘इमे’ पाश्चात्ये इष्टके ‘इति’ प्रथमं दक्षिणाद्वर्गाम्, पश्चादुत्तरार्धेण मित्यनेन क्रमेणोपदधाति । तथा ‘इमे’ पौरुष्ये इष्टके प्रथमं सुत्तराद्वर्गाम्, पश्चाद् दक्षिणाद्वर्गाम् मित्यनेन क्रमेणोपदधाति । ‘तत्’ तथा सति ‘दक्षिणाद्वत्’ प्रादक्षिण्येन वर्त्तनम् भवति खलु, ‘देवना’ देवेषु योग्यमित्यर्थः ॥ ३०, ३१ ॥

अधोपहिताना मिष्टकानां सभूय सङ्गां प्रशंसति— “अष्टाविष्टका इति । “गायत्रोऽग्निः”-इत्यष्टाक्षरपादेन गायत्री-च्छन्दसा सह प्रजापतिसुखादुत्पन्नत्वाद्गन्धर्गायत्रत्वम् ॥ सादनसङ्गा मनूय स्तौति— “पञ्च कृत्व इति । मध्ये उपधेयस्य

\* पा० सू० १. ४. १६ ।

† ‘परिचीयमाहा वागसीत्यर्थः’-इत्येव ङ, च, छ ।

‡ नवमकण्ठी, तद्भाष्यञ्च इष्टकम् (१०, ३६ पृ०) ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. १३ ।

॥ ते० सं० ७. १. १. ४ ।

इष्टकाचतुष्टयस्य एकं सादनम्, अन्यासां चत्वारिती पञ्च भवन्ति । “पञ्चचितिकोऽग्निरिति । पञ्च चितयः प्रस्ताराः यस्मिन् स तथोक्तः । “पञ्चर्त्तव इति । हेमन्तशिशिरयोः समासाभिप्रायेण \* । “संवत्सरोऽग्निरिति । संवत्सरः प्रजापतिर्विराट्, तदात्मकञ्चोद्यमानोऽग्निः प्रागुक्त इत्यर्थः । सङ्गगाहयं सम्भूय प्रशंसति — “अष्टाविष्टका इति । “त्रयोदश मासा इति । संसर्गाहस्यति(?) †)सञ्जकोऽधिमासस्त्रयोदशः ; “अस्ति त्रयोदशो मास इति”-इति श्रुतेः ‡ । “त्रयोदशान्नेरिति । चित्यस्थान्नेश्चितिपुरोषाणि त्रयोदश भवन्ति । आदितश्चतस्रश्चितयः पुरीषनिवपनान्ताः, स्तोमभागान्ता पञ्चमी चितिः । तदनन्तरभाष्येकं पुरीषम्, नाकसत् प्रभृति पुरीषनिवपनान्ता षष्ठी चितिरिति इ, ततो विकर्णस्वयमाहस्योरुपधानं हिरण्यशकलैः प्रोक्षण मन्थभ्याधानश्चेति सप्तमी चितिः, सप्त त्रयोदशो, इत्यादिर्विभाग ऊह्यः § ॥ ३२ ॥ •

लोकम्पृणाख्याया इष्टकाया उपधानं विधत्ते — “अथेति । एव मष्टाविष्टका उपधाय, अनन्तर मवशिष्टे गार्हपत्यचितिस्थाने लोकम्पृणाख्या मिष्टका मुपदधाति ; लोकं शिष्टं स्थानं पृण पूरयेति तन्मन्त्रे ॥ प्रतिपादनात् । “तस्या उपरि बन्धुरिति । ‘तस्याः’ लोकम्पृणायाः, ‘उपरि’ उपरिष्ठात्, षष्ठम-

\* ऐ० ब्रा० १. १. १ ।

† सर्वेष्वेव पुस्तकेष्वेव मेव पाठः ।

‡ अत० ब्रा० प्र० ४. २, ५. ५ ।

§ हे इत्यादि ग्रन्थो ऋ-पुस्तकान्तरं नास्ति ।

॥ वा० खं० १२. ५४ इष्टकम् ।

काण्डावसाने “असी वा आदित्यो लोकमृषा”-इत्यादिः स्तावको वाच्यशेष आन्वास्यत इत्यर्थः \* ।

सङ्गदुष्चारितेन लोकं पृषेति मन्त्रेण तिसृषां युगपदुपधानं विधत्ते— “तिस्रः पूर्वा इति । तत् प्रशंसति— “त्रिदृदम्नि-रिति । “स आन्तस्तेपानो सृष्ट् शुष्काप मित्यादिना अग्ने-स्त्रिदृदत्वम् प्रतिपादितम् †, अतोऽग्नेस्त्रिदृदत्वसङ्गायोगात् तिसृषा सुपधानं युक्तमित्यर्थः ॥

अथ तेनैव सङ्गदुष्चारितेनैव मन्त्रेण दशाना मिष्टकाना सुपधानं विधत्ते— “दशोत्तरा इति । उपदधातीति शेषः । उत्तरा उपरिभाविनीरित्यर्थः । “तासां सुपरीति । ‘तासां’ दशाना मिष्टकानाम्, यादृशी सङ्गा, तत्स्तावकोऽर्थवादे भविष्यतीत्यर्थः ॥

पूर्वं त्रयोदशलोकमृषानां हेधा विभागीनोपधान मभि-धाय, त्रेधा विभागपक्ष मन्वाह— “हे वाग्ने इति । एतच्च पक्ष-द्वयं सूत्रकृतापि दशितम्— “तिसृषु’ लोकमृषासु मन्त्रो दश स च इयोर्वा दशस्वेकस्यां वा”-इति ‡ । द्वितीयं पक्षं लौकिकेन निदर्शनेनोपपादयति— “एवं ह्येति । यत्र हि काष्ठादिभि-र्वितिनिर्मयते, तत्र एव मेव हि चितिं चिन्वन्ति । मूलाग्र-भागयोर्हे काष्ठे प्रथमं तिर्यक् स्थापयन्ति, पश्चात्तयोरुपर्युपरि अन्यानि सर्वाणि प्रागग्राह्यवशिष्टानि स्थापयन्ति । उपरिष्ठात् चलनाभावव्यैकं पुनः स्थापयन्ति । तस्मात् तदनुसारेणायं पक्ष

\* पुरस्तात् न. ४. ३. १ द्रष्टव्यम् ।

† इ. का० १ प्र० १ ब्रा० १३ ख० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० अ० ख० १०. १. १७ ।

उक्त इत्यर्थः । तासां लोकम्पूणानां सङ्गां सन्भूयानूद्य प्रा-  
गुक्तो वाक्यशेष इति दर्शयति— “तास्त्रयोदशेति । “त्रयो  
दश मासाः संवत्सरः”—इत्यादिरुक्ती \* वाक्यशेषोऽत्रापि योजनीय  
इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

पूर्वाभिरिष्टकाभिः सङ्घैतासां सङ्गां सन्भूय प्रशंसति—  
“ता उभय्य इति । ‘उभय्यः’ उभयविधाः, “अयं सो ऽग्नि-  
रित्वादिभिर्मन्त्रैः प्रागुपहिताः † अष्टौ लोकम्पूणास्त्रयोदशेति  
मिश्रिता एकविंशतिर्भवन्ति । [“एकविंश इति, एकविंशति-  
सङ्गापूरकः । “तस्य पूरणे डट्”, “तिर्विंशतेर्डिति”—इति ‡ ‘ति’-  
शब्दलोपः § ] तत् तेनैकविंशतिसङ्गासम्पादनेन ‘अमुं’ दुलोकस्य  
मेव आदित्यम् ‘अस्मिन्’ चिते ‘अग्नी’ प्रतिष्ठापयति । एकविंशति-  
सङ्गायोगाच्चोद्यमानोऽग्निस्तदात्मको भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

परिश्रितां सङ्गा मनूद्य स्तौति— “एकविंशतिरिति ।  
‘उ’-‘एव’-इत्यनयोर्यणादेशे सति ‘वेव’-इति भवति । तत्र ‘उ’-  
शब्दोऽप्यर्थे । ‘परिश्रितः’ गार्हपत्यचितेः परितः चिताः शर्करा  
अप्येकविंशतिसङ्गाका एव भवन्ति ; तत्रापि मासादिलोकान्ता  
विंशतिः पूर्ववत् । ‘अयम्’ एव चोद्यमानः ‘अग्निः’ ‘अमुतः’  
अमुत्र परिश्रिते ‘एकविंशः’ एकविंशतिसङ्गापूरकः । ‘अधिः’  
सप्तम्यर्थानुवादी । ‘तत्’ तथा सति ‘इमम्’ एकविंशम् ‘अग्निम्’  
‘अस्मिन्’ एकविंशे ‘आदित्ये’ प्रतिष्ठापयति ॥

\* पुरस्तात् ११ पृ० ३२ क० द्रष्टव्यम् ।

† पुरस्तात् २२ क० ( ७, २६ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ पा० सू० ५. २. ४८, १. ४. ३४२ ।

§ बन्धनीचिह्नान्त एष पाठस्तु उ-पुस्तकमात्रे अधिकः ।

एतदेव विवृणोति— “तद्यदिति । ‘तत्’ तत्र ‘यत्’ यस्मात्  
 ‘एताः’ परिश्रितः इष्टकाश्च ‘एवं’ प्रत्येक मेकविंशतिसङ्ख्याकाः  
 ‘उपदधाति’, ‘एतत्’ एतेन कारणेन ‘एतावेव’ अग्न्यादित्यौ  
 ‘अन्योऽन्यस्मिन्’ ‘प्रतिष्ठापयति’ । अत एवेदानीं ‘तौ’ एव  
 ‘अन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ’ दृश्येते । आदित्यो रात्रावग्निं प्रविश्य  
 प्रतितितिष्ठति, अग्निश्चोद्यन्त मादित्यं प्रविश्य प्रतिष्ठितौ  
 भवति । एतच्चाग्निहोत्रब्राह्मणे प्रतिपादितम् \* । तयोरुभयो-  
 रप्यत्र सन्निधानं माह “तौ वा इति । परिश्रिदिष्टकासङ्ख्याया  
 हयोरैकविंशयोरत्र सम्पादनात् ‘इमौ’ अग्न्यादित्यौ ‘उभौ’  
 अपि ‘अत्र’ चित्याग्नी सन्निहितौ ‘भवतः’; तत्राहवनीय-  
 चितिरूपेणादित्यौ वसन्ते, गार्हपत्यचितिरूपेणाग्निरिति तयो-  
 र्विभाग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

पुरीषनिवपनं विधत्ते— “अथ पुरीष मिति † । इष्टकासन्धिषु  
 छिद्रपूरणार्थाः पांशवः पुषीषम् । तस्मात् ता सुपरि प्रचिपती-  
 त्वर्थः । “तस्योपरि बन्धुरिति । ‘तस्य’ पुरीषनिवपनस्य प्रयोजन-  
 प्रतिपादको वाक्यशेषः । “इन्द्रं विश्वा अवीदधन्विति, तन्मन्त्र-  
 विधिश्च उपरिष्ठादष्टमकाण्डावसाने ‡ आन्नास्यत इत्यर्थः ॥

पुरीषाहरणस्थानं विधत्ते— “तन्नात्वन्वेति । उत्तरवेद्य-

\* “अग्निं वावादित्यः साद्यं प्रतिश्रति, तस्मादग्निर्हरात्तत्तं ददृशे ;  
 उभे हि तेजसी सम्यक्तेते ; उद्यन्तं वावादित्य मग्निरनुसमारोहति,  
 तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे” — इति तै० ब्रा० ३. १. २. ६, १० ।  
 उद्धृतत्वात्स्यैकोऽग्रोऽत्र पुरुस्तादग्निहोत्रब्राह्मणव्याख्याभेऽपि ( २ का०  
 २ प्र० ४ ब्रा० २ क०—२ भा० १२५ छ० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० अ० सू० १७. १. १८ ।

‡ परब्रह्मात् ८ का० ४ प्र० ४ ब्रा० ७ क० द्रष्टव्यम् ।

थानां पांसूनां निर्हरणस्थानं 'चात्वालः' उत्तरवेद्यंसदेशः, तस्य या वेला समीपम्, ततः पुरीष माहरेदित्यर्थः । तत् प्रशंसति— "अग्निरेष इति । आहवनीत्याग्न्याधारोत्तरवेदिहेतु-त्वाच्चात्वालस्याग्न्यात्मकता । "तथो हेति । तथैवं खलु सति 'अस्य' चित्वाग्नेः 'एतत्' पुरीष मपि 'आग्नेयम्' अग्निसम्बद्धम् 'एव भवति' ॥

इत्थं पुरीषान्ता गार्हपत्यचितिरुक्ता, अथ तस्याः प्रान्तेषु साम्य माह— "सा समम्बिला स्यादिति । 'सा' गार्हपत्य-चितिः 'समम्बिला' भवेत् । 'समं' समानं वाद्वाभ्यन्तर-भावेन न्यूनाधिककाररहितं 'बिलं' परितः प्रान्तदेशो यस्याः सा तथोक्ता । "तस्योक्त इति । 'तस्य' बिलसाम्यस्य उखा-निर्माणप्रस्तावे स्तावको वाक्यशेष आन्नात \* इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

गार्हपत्यचितेः परिमाणं विधत्ते— "व्याममात्रौति । चतुर-रद्विर्व्यामः, स परिमाण मस्याः सा । "प्रमाणे इयसच्"— इति † मावच् प्रत्ययः । तत् प्रशंसति— "व्याममात्रो वा इति । तिर्यक् प्रसारितौ बाह्व यावत् परिमाणौ भवतः, तस्य परिमाणस्य व्यायम्यतेऽस्मिन् बाहुद्वय मिति व्युत्पत्त्या व्याया-म इति सञ्ज्ञा ; स एवात्र ‡ वर्षलोपेन व्याम इत्युच्यते । 'पुरुषो व्याममात्रः' चतुररद्विपरिमित इत्येतत् प्रसिद्धम् । विराडात्मकः 'प्रजापतिः' च तादृक् पुरुषात्मकः । "त एतान्सप्त पुरुषानेकं पुरुष मङ्गुर्वन्निति § अत्र्यां प्रतिपादितत्वात्, तादृशो

\* पुरस्तात् ६. ३. ७. २० ।

† पा० सू० ५. २. ५७ ।

‡ पुरस्तात् ६. १. १. ३ ( २८० ७५० ) दृश्यम् ।



विराडात्मकः प्रजापतिरिवायं चीयमानः 'अग्निः' ; उभयोरपि संस्क्रियमाणरूपत्वसाम्यात् । "आत्मसन्निता मिति । चेत्यमाण-  
स्याग्नेरुत्तरीत्या पुरुषत्वात् आत्मना स्वेनाग्निरूपपुरुषेण 'सन्निता'  
समानपरिमाणाम् । 'तत्' तेन व्याममात्रकारणेन गार्हपत्य-  
चितिरूपां 'योनिं' कृतवान् भवतीत्यर्थः । परितो मण्डला-  
कारां विधत्ते — "परिमण्डलेति । पारिमाण्डल्यं हेधोपपा-  
दयति — "परिमण्डला हीति ॥ ३७ ॥

गार्हपत्यचितिरूपस्याग्नेरुख्याग्नेश्च चतुर्भिर्मन्त्रैः संसर्जनं  
विधत्ते — "अथैनाविति । 'अथ' गार्हपत्यचयनानन्तरम्, 'एनी'  
चित्यौख्यरूपावग्नी 'सन्निवपति' सङ्गमयति, इष्टकाभिः चिते  
गार्हपत्यधिशोऽ उख्य मग्निं स्थापयतीत्यर्थः । सन्निवपतीति  
संशब्दसूचित मर्थं माह — "सञ्ज्ञा मेवेति । 'आभ्याम्' 'अग्नि-  
भ्यां' । कर्त्तुं तृतीया । 'सञ्ज्ञाम्' अग्निहयकर्तृकं सञ्ज्ञानम्,  
परस्परैकमत्यम्, एतेन सन्निवपनेन करोतीत्यर्थः । तत्र  
करणभूतानां चतुर्णाम् मन्त्राणां प्रतीकग्रहणं करोति \* —  
तत्र, "संमित मिति प्रथमस्य प्रतीकम्, "सं वा मिति  
द्वितीयस्य, "अग्ने त्वम् पुरीथ इति तृतीयस्य, भवतं न  
इति चतुर्थस्य ॥

ते च मन्त्राः † संहिताभाष्ये एव व्याख्याता इति  
प्रतीक मत्र व्याख्यायते । हे चित्यौख्यरूपावग्नी ! 'समितं'  
सङ्गतौ भवतम् । 'सङ्कल्पेयां' समानकल्पनी समानसामर्थ्यौ  
एककार्यकरौ भवतम् ( १ ) । हे 'अग्नी' 'वा' युवयोः

\* का० श्रौ० सू० १७. १. १६ ।

† वा० मं० १२. ५७—६० ।

‘मनांसि’ ‘समकरम्’ समानविषयाणि कुर्वे । तथा ‘व्रता’  
 “शेच्छन्दसि बहुल मिति \* शैलीपः ; ‘व्रतानि’ युवयोः कर्माणि  
 समानानि (२) । हे चौयमानाम्ने ! ‘त्वम्पुरीषः’ पशुव्यो भवसि  
 (३) । हे अग्नी ! ‘नः’ अस्माकं युवां ‘समनसौ’ संमानमनस्कौ  
 ‘भवतम्’ (४) । इति चतुर्णाम् प्रतीकानां मर्थः ॥

मन्वाणां तात्पर्यं माह— “शमयत्येवैनाविति । परस्परं  
 विद्दिषाणौ ‘एनौ’ अग्नी ‘एतेन’ मन्त्रकरणकेन निवपनेन ‘शमय-  
 त्येव’ शान्तावेव करोति । तच्च शमनम् ‘अहिंसायै’ हिंसापरि-  
 हाराय ; ‘यथा’ तावन्नी ‘अन्योऽन्यं’ परस्परं ‘न हिंसातां’ हिंसां  
 न कुर्याता मिति ॥ ३८ ॥

चतुर्मन्त्रकरणकम् उख्याम्नेर्गार्हपत्यचितिमध्ये निवपनं  
 विधत्ते— “चतुर्भिरिति । ‘सन्निवपति’ नीचैः स्थापयति । “तद्य  
 इति । ‘तत्’ तेन चतुर्मन्त्रकरणकेन सन्निवपनेन ‘ये’ ‘चतु-  
 ष्यादाः पशवः’ गवाश्वादयः , ‘तैरेव’ उपायनभूतैः ‘आभ्याम्’  
 उख्यचित्यात्मकाभ्या मग्निभ्यां ‘सञ्ज्ञां’ परस्परैकमत्यं ‘करोति’ ।  
 कारणान्तरं मय्याह— “अथो इति । ‘अन्नं’ खलु ‘पशवः’,  
 सश्वोजनीयत्वात् ; ‘अन्नेन’ पशुरूपेण ॥ ३९ ॥

रिक्ताया उखाया, अद्वयुर्कर्तृकं यजमानकर्तृकं वा अवेक्षणं निषे-  
 धति— “तां न रिक्ता मिति † । नेदिति परिभये ‡ । ‘रिक्ताम्’  
 उखां ‘नेदवेक्षेत’ पश्यतु नैव । विपक्षे बाध माह— “यद्विक्ता  
 मिति । ‘एनम्’ अवेक्षितारं ‘असेत, ह’ भक्षयेदेव ॥ ४० ॥

तर्हि किं कुर्यादित्यपेक्षायां रिक्ताया उखायाः सिक्ता-

\* पा० ख० ६. १. ७० ।

† का० श्री० ख० १७. १. २० ।

‡ निरु० १. ३. ६ ।

ताभिः समगर्त्तत्वकरणं विधत्ते— “अथास्या मिति † । ‘अस्यां’ रिक्ताया सुखायां सिकता आवपति , यावद् बिलं पूरयति । वैश्वानरस्याग्नेः ‘एतद्वेतः’ ‘यत्’ याः ‘सिकताः’ शीक्लसामान्यात् । ‘एतत्’ एतेन सिकतानिवपनेन ‘अस्याम्’ उखायां ‘रेतोभूतं’ वैश्वानरम् अग्निं ‘सिञ्चति’ स्थापयति । ‘सा’ उखा ‘समम्बिला’ भवेत् ; समं निम्नोन्नतत्वरहितं बिलं मुखं यस्याः सा , तथा समबिलेति प्राप्ते पूर्वपदस्य सुगागम-  
श्चान्दसः । समम्बिलत्वस्तावकोऽर्थवादः प्रागुक्त इत्याह—  
“तस्येति । स च “योनिर्वा इयत् रेत इद मित्यादिना षष्ठकाण्डे प्रतिपादितः ‡ ॥ ४१ ॥

उखायाः शिक्वाहिमोचनं विधत्ते— “अथैना मिति † । ‘एनां’ सिकतायुक्ता सुखां § शिक्वाद् ‘विमुञ्चति’ पृथक् करोति । विमोक्तप्रयोजन माह— “अप्रदाहायेति । तत्रोपपत्ति माह— “यद्वीति । ‘युक्ताम्’ अश्वादि यदाहनं ‘न विमुञ्चते’ ‘तत् प्रदह्यते’ खलु । उक्त मर्थं प्रकृते योजयति— “एतद्वा इति । ‘एतद्वा’ एषा खलूखा ‘युक्ता’ सती एतम् ‘अग्निम्’ उख्यम् ‘एतद्वेतः’ रेतोऽवस्थापन्नम् ‘अभार्षीत्’ धृतवती । ततोऽकृतकार्यत्वाद् विमोक्तोपपत्तिः । धृतस्याग्नेः प्रजननमाह— “त मत्वेति । ‘अत्र’ अवसरे ‘तम्’ उख्याग्निम् ‘अजीजनत्’ प्रासोष्ट ; उखेति शेषः । प्रजननानन्तरतो धारणहारोखायाः स्त्रीसाधर्म्यं प्रतिपादयति—

\* का० श्रौ० सू० १७. १. २१ क ।

† पुरस्तान् इ का० ३ प्र० ५ ब्रा० १६ क० ( ६ भा० २३५ पृ० ) इष्टवम् ।

• ‡ का० श्रौ० सू० १७. १. २१ ग ।

§ ‘शून्वा सुखां शिक्वनाभिः सम्युर्थे’ इति महीधरः ।

“अथापर मिति । ‘अपरं’ सिकतात्मकं रेतः ‘धत्ते’ धारयति ।  
“योषा वा उखेति । सिकतावापोपपत्तिः । “तस्मादिति ।  
लीकिकदृष्टान्तप्रदर्शनम् ॥ ४२ ॥

विहिते उखाविमोके मन्त्र मनूद्य व्याचष्टे— “मातेव पुत्र  
मिति \* । पुरीष्यपदस्य पशव्यत्वं वाच्योऽर्थः । ‘अभाः’-इति भुजः  
प्रथमपुरुषैकवचने व्यत्ययेन लुङि रूप मित्याह—“अभार्षीदिति ;  
“अभारुखा”-इत्युखाशब्दसामानाधिकरण्यात् ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः †,— येय मुखा ‘माता पुत्र मिव’ ; ‘पृथिवी’  
भूमिरूपा ; मन्त्रयोत्वात् । ‘पुरीष्यम्’ ‘पशव्यम्’, ‘पशुभ्यो हित  
मिति यावत् । तादृशम् ‘अग्निं’ ‘स्वे योनौ’ स्वकीये गर्भस्थाने  
‘अभाः’ अभार्षीत् , धारितवती । “विश्वकर्मा’ सर्वस्य कर्ता प्रजा-  
पतिः ‘ऋतुभिः’ यज्ञं प्रति गच्छद्भिः , विश्वैः सर्वैः देवैः ‘संविदानः’  
अहो महत् कर्म कृत मित्येवं संवादं कुर्वन् , इदानीं कृत-  
कृत्यां सतीं ता मुखां ‘विमुञ्चतु’ शिष्यादिसुञ्चति , पृथक्  
कुरुत इत्यर्थः ।

तस्या उखायाः ज्वलनरूपस्याग्नेरुत्तरपार्श्वे अरन्निमात्रे  
चितावेव निधानं कर्तव्य मित्याह— “ता मुत्तरत इति ‡ ।  
अरन्निमात्रप्रदेशे . स्थापनस्य स्तावको वाक्यशेषः प्रागुक्त  
इत्याह— “तस्योक्त इति । “अरन्निमात्राच्चि वृषा योषा मुपशेत  
इति हि षष्ठकारण्डे प्रतिपादितम् § ॥ ४३ ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. १. २१ ख ।

† तत्पाठस्तु वा० सं० १२. ६१ दृष्टयः ।

‡ का० श्रौ० सू० ( ‘अभिवत्’ ) १६. २. ५ ।

§ तत्र २ प्र० ३ ब्रा० ३० क० ( ६ भा० १४० ए० ) दृश्यम् ।

सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस आसेचनं विधत्ते— “अथास्या मिति \* । ‘अस्याम्’ उखायां ‘पयः’ दुग्धम् ‘आनयति’ आसिञ्चति । पयसासेके कारणं सुपपादयति—“एतद्वा इति । एतत् खलु कारणम्,— ‘एतत्’ सिकतालक्षणं ‘रेतः’ उखां ‘धत्ते’ धारयति । ‘अथ’ तदनन्तरं मिदं मानोतं पयो धत्ते । उत्तारार्थसाधकं लौकिकदृष्टान्तं प्रतिपादयति— “योषा वा इति । सिकतापयसोरधरोत्तरभावः मनूय स्वीति— “अधराः सिकता इति । “अधर् हि रेत इति । गर्भाशये अधो-भागे स्थितं पुरुषस्य रेतः, स्त्रीवीर्यं शोणितरूपम्, ‘पयः’ ‘उत्तरम्’ उपर्यवस्थितं सत् ‘तत्’ पुंवीर्यं वेष्टयति । अत एव घाट्कौ-शिकस्य शरीरस्य त्वङ्मांसासृग्गाख्या बाह्यास्त्रयो धातवो मादृशो भवन्तीति स्मर्यते । तस्मात् सिकतापयसोर्बाह्याभ्यन्तरभावो गर्भोत्पत्तये \* सम्पद्यत इत्यर्थः । आनयनस्थानं विधत्ते— “तन्मध्य इति । ‘तत्’ पयः, उखायाः ‘मध्ये’ ‘आनयति’ आसिञ्चति, यथा तत् पयः प्रति उपधानसमये पुरुषशीर्षं सुपदध्यात् तथेत्यर्थः । अत एव उपधानसमये पुरुषशिरस उखाया सुपधानं सूचितम्— “उखायां प्रत्यञ्चि, सहस्रदा इति † पुरुष-शिर उद्गृह्य मध्ये”—इति ‡ ॥ ४४ ॥ १ ॥ .

इति श्रौसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. १. २१ घ ।

† वा० सं० १३. ४० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. १३, १४ ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

प्रजापतिः प्रजा असृजत । स प्रजाः सृष्ट्वा  
सुर्व्वं माजि मित्वा व्यसृत्सत तस्माद्विसस्तात् प्राणो  
मध्यत उदक्रामदथास्माद्दीर्यं मुदक्रामत् तस्मिन्नुत्  
क्रान्तेऽपद्यत तस्मात् पन्नादन्न मस्रवद्यच्चतुरध्यशेत  
तस्मादस्यान्न मस्रवन्नो हेह तर्हि का चनं प्रति-  
ष्ठास ॥ १ ॥

ते देवा अब्रुवन् । न वा ऽदृतोऽन्या प्रतिष्ठा-  
स्तीम मेव पितरं प्रजापतिं संस्करवाम सैव  
नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति \* ॥ २ ॥

तेऽग्नि मब्रुवन् । न वा ऽदृतोऽन्या प्रति-  
ष्ठास्ति त्वयीमं पितरं प्रजापतिं संस्करवाम सैव  
नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति किं मे ततो भवि-  
ष्यतीति † ॥ ३ ॥

तेऽब्रुवन् । अन्नं वा ऽन्नयं प्रजापतिस्त्वन्-  
मुखा एतदन्न मदामं त्वन्मुखानां न एषोऽन्न  
मसदिति तथेति तस्माद्द्वा अग्निमुखा अन्न म-

\* , † 'भविष्यतीति'--इति ग, घं ।

दन्ति यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुह्वत्यग्ना-  
वेव जुह्वत्यग्निमुखा हि तद् देवा अन्न मकु-  
र्वन्त ॥ ४ ॥

सु योऽस्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत् ।  
अय मेव सु व्वायुर्योऽयं पवतेऽथ यदस्माद्दीर्यं मुद-  
क्रामदसौ सु आदित्योऽथ यदस्मादन्न मस्रवद्यदेव  
संवत्सरोऽन्नं तत्तत् \* ॥ ५ ॥

तं देवा अन्नौ प्रावृञ्चन् । तद्य एनं प्रवृत्त  
मग्निरारोहद् † य एवास्मात् सु प्राणो मध्यत उद-  
क्रामत् सु एवैनं सु आपद्यत त मस्मिन्नदधुरथ  
यदस्माद्दीर्यं मुदक्रामत् तदस्मिन्नदधुरथ यदस्मादन्न  
मस्रवत्तुदस्मिन्नदधुस्तु सर्वं क्वास्त्रु संस्कृत्योद्ध  
मुदश्रयंस्तद्यं त मुदश्रयन्निमे सु लोकाः ‡ ॥ ६ ॥

तस्याय मेव लोकः प्रतिष्ठा § । अथ योऽस्मिं-  
ञ्चोके ॥ ऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणोऽथास्यान्तरिक्ष मात्माथ

\* 'सत्तत्'—इति क, 'तत्तत्'—इति ग, घ ।

† 'मग्निरारोहति'—इति का०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

‡ 'लोकाः'—इति ग, घ । § 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

॥ 'लोके'—इति क, ग, घ ।

योऽन्तरिक्षे वायुर्य एवाय मात्मन् प्राणः सोऽस्य  
 स द्यौरिवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्च-  
 चुरध्यशेत स चन्द्रमास्तस्मात् स मीलिततरोऽन्न-  
 हि तस्मादुस्रवत् ॥ ७ ॥

तुदेषा वै सा प्रतिष्ठा \* । यां तुहेवाः सम-  
 स्कुर्वन्सैवेय मद्यापि प्रतिष्ठा सो ऽएवाप्यंतोऽधि  
 भविता † ॥ ८ ॥

स यः स प्रजापतिर्व्यस्रत्सत । अय मेव स  
 योऽय मग्निश्चीयते तद्यदेषोखा रिक्ता श्रुते पुरा  
 प्रवर्ज्जनाद्यथैव तत् प्रजापतिरुत्क्रान्ते प्राण उदत्-  
 क्रान्ते व्वीर्ये सुतेऽन्ने रिक्तोऽशयदेतदस्य तद्द-  
 पम् ‡ ॥ ९ ॥

ता मग्नौ प्रवृणक्ति । यथैवैन मदी देवाः प्रा-  
 वृञ्जस्तद्य एनां प्रवृक्ता मग्निरारोहति य एवास्मात्  
 स प्राणो मध्यत उदक्रामत्, स एवैनः स आप-  
 द्यते त मस्मिन्दधाल्यथ यद्दुक्त्वं प्रतिमुच्य विभर्त्ति

\* 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

† 'भविता'—इति ग, घ ।

‡ 'तदपम्'—इति ग, घ ।



यदेवास्माद् वीर्यं मुदक्रामत्तदस्मिन् दधात्यथ याः  
समिधं आदधाति यदेवास्माद्ब्रह्म मस्रवत्तदस्मिन्  
दधाति ॥ १० ॥

ता वै सायं प्रातरादधाति । अङ्गश्च हि  
तद्गान्धेयान्न मस्रवत्तान्येतानि सर्वस्मिन्नेव संवत्सरे  
स्युः संवत्सरो हि स प्रजापतिर्यस्मात्तान्युदक्रामं-  
स्तदस्मिन्नेतत् सर्वस्मिन्नेव सर्वं दधाति य-  
स्मिन् हास्यैतदतो न कुर्यान्न हास्य तस्मिन्नेत-  
दध्यान्नासंवत्सरभृतस्येक्षकेण च न भवितव्यमिति  
ह स्माह० व्वामकचाबणो नेदिमं पितरं प्रजा-  
पतिं विच्छिद्यमानं धृश्यानीति तं संवत्सरे सर्वं  
कृत्स्नं संस्त्रत्योर्द्धं मुच्छयति यथैवैनमदो देवा  
उदश्रयन् ॥ ११ ॥

तस्य गार्हपत्यं एवायं लोकः\* । अथ यो  
गार्हपत्येऽग्निर्य एवाब्रह्मस्मिंल्लोके † ऽग्निः सोऽस्य  
सोऽथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्ष-

\* 'लोकः'—इति क, 'लोकः'—इति ग, घ ।

† 'लोकः'—इति क, ग, घ ।

मथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवाय मन्तरिचे व्यायुः  
 सोऽस्य स आहवनीय एव द्यौरथ य आह-  
 वनीयेऽग्निस्तौ सूर्याचन्द्रमसौ सोऽस्यैष आ-  
 त्मैव \* ॥ १२ ॥

तस्य शिर एवाहवनीयः † । अथ य आह-  
 वनीयेऽग्निर्य एवायुः शीर्षन् प्राणः सोऽस्य स  
 तद्यत् स पक्षपुच्छवान् ‡ भवति पक्षपुच्छवान् §  
 ह्ययुः शीर्षन् प्राणश्चक्षुः शिरो दक्षिणश्च श्रोत्रं  
 दक्षिणः पक्ष उत्तरश्च श्रोत्र मुत्तरः पक्षः प्राणी  
 मध्यमात्मा वाक् पुच्छं प्रतिष्ठा तद्यत् प्राणा  
 वाचान्नं जग्ध्वा प्रतितिष्ठन्ति तस्माद्वाक् ॥ पुच्छं  
 प्रतिष्ठा ¶ ॥ १३ ॥

अथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च । स  
 आत्माथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवाय मन्तरारमन्

\* 'आत्मैव'—इति छ, 'आत्मैव'—इति ग, घ ।

† 'एवाहवनीयः'—इति ग, घ ।

‡, § 'पक्षपुच्छवान्'—इति ग ।

॥ 'तस्मात् प्राणानां वाक्'—इति क ।

¶ 'प्रतिष्ठा'—इति क, 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

प्राणः सोऽस्य स प्रतिष्ठैवास्य गार्हपत्योऽथ यो  
गार्हपत्येऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणः \* ॥ १४ ॥

तं हैके विचितं चिन्वन्ति । त्रयो वा  
ऽद्भमेऽवाञ्चः प्राणा इति न तथा कुर्यादिति ते  
रेचयन्त्येकविंशसम्पदं मथो ऽधनुष्टुप्सम्पदं मथो  
ब्रह्मतीसम्पदं ये तथा कुर्वन्त्येकं श्येवैतद्रूपं  
योनिरेव प्रजापतिरेव यदेतेऽवाञ्चः प्राणा यच्च  
मूत्रं करोति यत् पुरीषं प्रैव तज्जायते ॥ १५ ॥

अथातः सम्पदेव † । एकविंशतिरिष्टका नव  
यजूंषि तत् त्रिंशत् सादनं च सूददीहाश्च  
तद् द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् सैषानु-  
ष्टुप् ‡ ॥ १६ ॥

एकविंशतिर्वैव परिश्रितः । यजुर्द्वाविंशं  
व्युद्गहनस्य यजुरूषाश्च यजुश्च सिकंताश्च यजुश्च  
पुरीषं च यजुश्च चतुर्भिः सन्निवपति विमुञ्चति

\* 'प्राणः'—इति क, 'प्राणः'—इति ग, घ ।

† 'सम्पदेव'—इति ग, घ ।

‡ 'सैषानुष्टुप्'—इति ग, घ ।

पञ्चमेन तत्स्त्रिभिरियं द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् सैषा-  
नुष्टुप् \* ॥ १७ ॥

अथैते द्वे यजुषी † । सो ऽअनुष्टुबेव व्याग्वा  
ऽअनुष्टुप् तद्यदिदं द्वयं व्याचो रूपं देवं च मानुषं  
चोच्चैश्च शनैश्च तदेते द्वे ‡ ॥ १८ ॥

ता वा ऽएतास्त्रिस्रोऽनुष्टुभः । चित् एष  
गार्हपत्यस्तद्यदेता अत्र तिस्रोऽनुष्टुभः सम्पादय-  
न्त्यत्र ह्येवेमे तदा सर्वे लोका भवन्ति ततो  
ऽन्यतरां द्वात्रिंशदक्षरा मनुष्टुभ माहवनीयं  
हरन्ति स आहवनीयः सा द्यौस्तच्छिरोऽथेहान्य-  
तरा परिशिष्यते स गार्हपत्यः सा प्रतिष्ठा स उ  
अयं लोकः § ॥ १९ ॥

अथ ये ऽएते द्वे यजुषी । एतत्तद्यदन्तरा-  
हवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्षं स आत्मा  
तद्यत्ते द्वे भवतस्तस्मादेतत्तुनीयो यदन्तराहवनीयं

\* 'सैषानुष्टुप्'—इति ग, घ ।

† 'यजुषी'—इति ग, घ ।

‡ 'द्वे'—इति क, 'द्वे'—इति ग, घ ।

§ 'लोकः'—इति क, 'लोकः'—इति ग, घ ।

च गार्हपत्यं च तद्ग्रादेषां लोकाना मन्तरिक्ष-  
लोकस्तुनिष्ठः \* ॥ २० ॥

सैषा त्रेधा विहिता व्यागनुष्टुप् । ता मेधी-  
ऽग्निः प्राणो भूत्वानुसञ्चरति य आहवनीयेऽग्निः  
सु प्राणः सोऽसावादित्योऽथ य आग्नीध्रीयेऽग्निः  
सु व्यानः स उ ऽअथं वायुर्यीऽयं पवतेऽथ यो  
गार्हपत्येऽग्निः स उदानः स उ ऽअथं योऽय मस्मिन्-  
ल्लोके † ऽग्निरेवंविद्ध वाव सर्वां व्याचं सर्वं  
प्राणं सर्वं मात्मानं संस्क्रुते ‡ ॥ २१ ॥

सैषा बृहत्येव § । ये वै द्वे द्वात्रिंशती द्वा-  
त्रिंशदेव तदथैते द्वे यजुषी तच्चतुस्त्रिंशदग्नि-  
रेव पञ्चत्रिंशो नाक्षराच्छन्दी व्यत्येकस्मान्न द्वा-  
भ्यां स उद्वाक्षरस्तत् षट्त्रिंशत् षट्त्रिं-  
शदक्षरा बृहती बृहती वा ऽएष सञ्चितोऽभि-  
सम्पद्यते यादृग् वै योनी रेतः सिच्यते तादृग्

\* 'लोकस्तुनिष्ठः'—इति ग ।

† 'मस्मिन्लोके'—इति क, ग, घ ।

‡ 'संस्क्रुते'—इति ग ।

• § 'दृहत्येव'—इति ग, घ ।

जायते तद्यदेता मुत्र बृहतीं करोति तस्मादेष  
सञ्चितो बृहतौ मभिसम्पद्यते ॥ २२ ॥

तदाहुः । यद्यं लोको गार्हपत्योऽन्तरिक्षं  
धिष्णा द्यौराहवनीयोऽन्तरिक्षलोक उ अस्मा-  
ल्लोकादुनन्तर्हितोऽथ कस्माद् गार्हपत्यं चित्त्वाहव-  
नीयं चिनोत्यथ धिष्णानिति सह हैवेमावये  
लोकावासतुस्तयोर्व्वियतोयीऽन्तरेणाकाश . आसीत्  
तदन्तरिक्षं मभवद्दीक्षं हैतन्नाम ततः पुरान्तरा  
वा ऽद्भुद मीक्षं मभूदिति तस्मादन्तरिक्षं तद्यद्  
गार्हपत्यं चित्त्वाहवनीयं चिनोत्येती द्युये लोका-  
वसृज्येता मथ प्रत्येत्य धिष्णान्निवपति कर्मण  
एवानन्तरयायाथो ऽअन्तयोर्वाव संस्क्रियमाणयो-  
र्मध्यं संस्क्रियते ॥ २३ ॥ २ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

उख्यरूपेण संस्कृतस्याग्नेर्विराड्रूपप्रजापत्यात्मकतां वक्ष्यन्नस्य \*  
प्रजापतेः संस्कृतिं वक्तुकामस्तच्छरीरविशेषं प्रतिपादयति—

\* 'वक्ष्यन् तस्य'—इति ज ।

“प्रजापतिः प्रजा असृजतेत्यादिना । “प्रजाः सृष्टेति । देव-  
मनुष्यादिरूपा बह्वीः ‘प्रजाः सृष्टा’ ‘सर्वम्’ ‘आजिं’ गन्तव्यस्थानम्  
‘इत्वा’ व्याप्य, श्रान्तः सन् ‘व्यसंसत’ विस्रस्तावयवोऽभवत् ।  
‘तस्माद्विस्रस्तात्’ प्रजापतिशरीरात् ‘मध्यतः’ ‘प्राणः’ प्राणादि-  
पञ्चहस्तात्मकः ‘उदक्रामत्’ उत्क्रान्तोऽभवत् । ‘अथ’ अनन्तरं नैव  
तस्य प्रजापतेः ‘वीर्यं’ शुक्रम् ‘उदक्रामत्’ । ‘तस्मिन्’ निर्गते सति  
स भूमौ ‘अपद्यत’ पतितोऽभवत् । ‘तस्मात्’ ‘पन्नात्’ पतितात्  
प्रजापतिशरीरात् अनन्तरवस्थितम् ‘अन्नम्’ ‘अस्रवत्’ स्रुतं मभवत् ।  
‘घत्’ ‘चक्षुः’ ‘अध्यशेत’ । “अधिशोड्स्यासां कर्म”—इत्यधिकरणस्य  
कर्मसञ्ज्ञा \* । ‘चक्षुरधि’ चक्षुषोर्मध्ये चक्षुषो ज्योतिरवस्थित  
मभवदित्यर्थः । ‘तस्मात्’ ज्योतिषः ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘अन्नं’ स्रुतं  
मभवत् । ‘तर्हि’ तथा सति नैव खलु काचित् ‘प्रतिष्ठा’  
‘आस’ । तस्य प्रजापतेः शरीरस्य विस्रस्तत्वात् किञ्चिदपि  
प्रतिष्ठास्यदं † न बभूवेत्यर्थः ॥ १ ॥

अनन्तरं देवैः कृतं मस्य संस्कारं वस्तु माह— “ते  
देवा इति । ‘इतः’ अस्मात् प्रजापतेः ‘अन्या’ ‘नेव’ ‘प्रतिष्ठा  
अस्ति’ आश्रयो विद्यते । ‘इमं नैव’ अस्मदीयं ‘पितरं प्रजा-  
पतिं’ ‘संस्कारवाम’, यथा पूर्वं मवतिष्ठेत्, ‘सः’ च संस्कारतो  
‘नः’ अस्माकं पुनः ‘प्रतिष्ठा’ आश्रयो ‘भविष्यतीति’ ॥ २ ॥

इत्वं सम्प्रधारितं मर्थं कर्तुं, प्रार्थितवन्त इत्याह— “तेऽग्नि  
मिति । ‘ते’ देवाः ‘अग्निं’ मनुवन् ‘न’ खलु ‘इतः’ अस्मात्  
प्रजापतेः ‘अन्या’ अस्माकम् ‘प्रतिष्ठा अस्ति’, ‘इमं पितरं’ त्वयि

\* पा० सू० १. ४. ४६ ।

† ‘तिविद्यमानं’ -इति च ।

‘संस्कारवाम’, स च संस्कारतः पुनरुच्यते सन् अस्माकम् ‘प्रतिष्ठा भविष्यतीति’ । सोऽग्निरेतद्वाक्यं श्रुत्वा प्रत्यबोचत्,— ‘ततः’ तस्मात् संस्कारात् ‘मे’ मम ‘किम्’ प्रयोजनं ‘भविष्यतीति’ ॥ ३ ॥

तस्योत्तरं दर्शयति— “तेऽब्रुवन्निति । अन्नरूपो हि ‘अयं प्रजापतिः’ । तस्य च त्वयि संस्कारे सति वयं सर्वे ‘त्वन्मुखाः’ ‘एतदन्नम्’ ‘अदाम’ भुञ्जीमहि । ‘त्वन्मुखानाम्’ एवास्माकम् ‘एषः’ संस्कृतः प्रजापतिः ‘अन्नं’ भवत्विति \* । ‘तथेति’ सोऽग्निरङ्गीकृतवान् ॥

इदानीन्तनप्रसिद्धा देवाना मग्निमुखत्वं द्रढयति— “यस्या इति । इन्द्रादीनां मध्ये ‘यस्यै कस्यै चिद् देवतायै’ यत् किञ्चिद्भविः प्रयच्छन्ति, तत् सर्वम् ‘अग्नावेव जुह्वति’ । तच्च कारणं माह— “अग्निमुखा हीति । ‘हि’ यस्मात् ते ‘देवाः’ ‘तत्’ तदानीं प्रजापतिरूपम् ‘अन्नम्’ अग्निमुखा एव ‘अकुर्वत’, तस्मादग्नी ह्ययमानं ‘वर्षिर्लक्षणं मन्नं सर्वं देवा अग्रन्तीत्यर्थः’ ॥ ४ ॥

उत्क्रान्तानां परिणामविशेषं माह— “स योऽस्मादिति । प्रजापतिशरीरादुत्क्रान्तः प्राणवायुरेव भूतात्मकवाह्यवायुरूपेणोत्पन्नः । यदुत्क्रान्तं वीर्यं तदेवासौ सुखीके आदित्योऽभवत् । “यदेव संवत्सरऽन्नं मिति । ‘यत्’ खलु संवत्सरस्य मध्ये व्रीहि-सवादिरूपम् ‘अन्नं’ पच्यते, ‘तत् तत्’ तदात्मना प्रजापति-र्विसृष्टं † मन्नं परिणतं सभवदित्यर्थः ॥ ५ ॥

\* ‘भवति’—इत्येव च, क ।

† ‘प्रजापतिर्विसृष्ट’—इति क, ‘प्रजापतिर्विसृष्ट’—इति ज ।



प्रकृत मनुसरति— “तं देवा इति । ‘तं’ प्रजापतिर्देहं  
 ‘देवाः’ ‘अग्नी’ ‘प्राहञ्चन्’ प्रतपनेन समस्कुर्वन् । ‘तत्’ तत्र  
 प्रहञ्चने सति ‘एनं’ प्रहञ्चं प्रजापतिं यः ‘अग्निः’ ‘आरोहत्’ \*  
 सङ्ग्रामति (स्र १), तदात्मना प्राङ् निष्क्रान्तः प्राणः ‘एव’ ‘एनं’  
 प्रजापतिं पुनः ‘आपद्यत’ प्राप्नोत् । तथा च ‘तं’ प्राणं वीर्यादिकं  
 ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ प्रहञ्चनेन स्थापितवन्त इत्यर्थः । “तत् सर्वं  
 मित्वादि । इत्थं प्रहञ्चनेन ‘तं’ प्रजापतिं ‘सर्वं’ निरवशेषं पूर्णा-  
 वयव’ ‘संस्कृत्य’ पुनः ‘जहुं सुदश्रयन्’ गमनागमनव्यवहारसमर्थं  
 मूर्द्धाकारं मुच्छितं मकुर्वन् । ‘तत्’ तत्र च ‘यम्’ प्रजापतिम् ‘उद-  
 श्रयन्’ देवाः, ‘सः’ एव ‘इमे’ त्रयो ‘लोकाः’ लोकत्रयात्मको-  
 ऽभवदित्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य कीदृक् किं मङ्गं मिति, तदाह— “तस्याय मेवे-  
 त्वादिना । ‘अयं’ भूलोकः ‘एव’ ‘तस्य’ विराडात्मकस्य प्रजा-  
 पतेः ‘प्रतिष्ठा’ । प्रतिष्ठित्यस्या मिति प्रतिष्ठाशब्देन पादा-  
 वुञ्चेते । पार्थिवोऽग्निस्तस्य अवाचीनः प्राणः, येन मूत्रपुरी-  
 षादिकं मुत्सृज्यते । अन्तरिक्षलोकोऽस्य प्रजापतेः ‘आत्मा’ मध्य-  
 देहः । तत्र सञ्चरन् ‘वायुः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि मध्यदेहेऽवस्थितः  
 प्राणः । “सोऽस्य स इति । स वायुरेवास्य प्राण इत्यर्थः ।  
 “द्यौरवासेति । द्यूलोकोऽस्य प्रजापतेर्मूर्धा । तत्रत्यौ ‘सूर्याचन्द्र-  
 मसौ चक्षुषी’ तयोर्मध्ये ‘यञ्चक्षुरध्यसेत’ यस्मिन् चक्षुषि ज्योति-  
 श्चक्षुरवस्थितं मभवत्, तच्चक्षुः ‘चन्द्रमाः’ । तदुपपादयति—

\* ‘आरोहति’—इति च, ह, ज ।

† ङ-पुस्तकादन्वय नास्तीदं पदम् ।

“तस्मादिति । ‘हि’ यस्मात्, ‘तस्मात्’ चक्षुषःऽत्र मस्त्रवत्, तस्मात् कारणात् तच्चक्षुरूपः ‘चन्द्रमाः’ ‘मीलिततरः’ अतिशयेन मीलितः ; सूर्यादल्पप्रकाशो दृश्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

“तदेवा वा इत्यादि । ‘तत्’ तथा सति देवादीनां प्रजानाम् ‘एषा’ प्रजापत्याम्बिका ‘सा प्रतिष्ठा’, अभवदिति शेषः । ‘तत्’ तदानीं ‘यां’ ‘समस्त्रुर्वन्’ उदीरितरीत्या संस्कृतवन्तः । न केवलं मतीतकाल एव प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपता, वर्त्तमानभविष्यत्कालयोरपोत्याह— “सैवेय मिति । ‘अद्य’ इदानीं वर्त्तमानकालेऽपोत्यर्थः । “अतोऽधिभवितेति । ‘अतः’ अस्माद्वर्त्तमानादूर्ध्वकालेऽपि सैव प्रतिष्ठा ‘भविता’ “अनद्यतने लुट्”—इति \* भविष्यत्कालेऽनद्यतने लुट् ॥ ८ ॥

प्रतिष्ठारूपस्य प्रजापतेः संस्कार मभिधाय चित्याग्नेरपि तादृक् संस्कारं वक्तुं तयोस्तादात्म्य माह— “तु य इति । ‘सः’—इत्येकस्तच्छब्दः प्रसिद्धौ, अपरः प्रकृतपरामर्शकः । “योऽय मग्निरिति । गार्हपत्यचितिरूपो योऽग्निरित्यर्थः । तयोस्तादात्म्योपपत्तये प्रजापतेरवस्थाविशेष मत्रापि दर्शयति— “तद्यदेवेति । ‘तत्’ तत्र आहवनीये ‘प्रवृञ्जनात्’ † पूर्वं ‘रिक्ता उखा शिते’ इति ‘यत्’, अस्य उत्क्रान्तप्राणादिकस्य प्रजापतेरेतद्रूपमित्यर्थः ॥ ९ ॥

संस्कारसाम्य माह— “ता मग्नाविति । ‘ताम्’ उखाम् ‘अग्नी’ आहवनीये ‘प्रवृणक्ति’ प्रतपति । “यथैदं मिति ।

\* पा० छ० ३. ३. १५ ।

† प्रवर्जनादिति मूल पाठः ; तस्यैव वा व्याख्यानपद मिदं स्यात् प्रवृञ्जनादिति ।

प्रजापतिसाम्यवर्चनम् । प्रजापतिः (?) \* 'अदः' असुस्मिन् दृष्टि-  
काले इत्यर्थः । "तद्य एना मिति । 'एनाम्' उखां 'प्रवृत्तां'  
प्रतप्ताम् 'अग्निः' 'आरोहति' आक्रमते, अन्तर्जायत इति 'यः',  
अनेन पुरा प्रजापतिशरोरादुत्क्रान्तः 'सः' प्रायः 'एव' 'सः'  
अग्निर्भूत्वा 'एनम्' उखात्मकं प्रजापतिम् 'आपद्यते' आगच्छति ।  
'तं' प्राणम् 'अस्मिन्' 'दधाति' स्थापयति । "अथ यद्रुक्म मित्यादि ।  
यजमानः सौवर्षं रुक्मं 'प्रतिसुच्यं' † कण्ठे सूत्रेण बद्ध्वा तस्यो-  
परि त सुख्यं विभर्तीति 'यत्', तेन प्रागुत्क्रान्तवौर्यं मेवा-  
स्मिन् पुनः स्थापयतीत्यर्थः । "अथ याः समिध इति । उखाया  
मग्न्यारोहणानन्तरं तस्मिन् 'याः समिध आदधाति', ताभिस्तत्-  
प्रागुत्क्रान्तं स्मृत मय्यत्रं पुनरस्मिन् स्थापयति । यदाह कात्या-  
तनः— "अग्नावाकृते त्रयोदशास्यां प्रादेशमाचोः समिध आद-  
धाति"—इति ‡ ॥ १० ॥

तासा महरहरभ्याधाद् मनुष्य, तत्र कारणमाह— 'ता  
वा इति । 'तत्' तदानीम् 'अङ्गो रात्रेश्च' सकाशात् प्रजा-  
पतिशरोरात् 'अन्न मस्रवत्', अतस्तस्य पुनरवाप्तये समिधा  
माधानम् एतस्मिन् § 'संवत्सरे' प्रत्यहं कालत्रयेऽपि कर्त्तव्य  
मित्यर्थः । अत एवोक्तं सूत्रकर्ता— "पालाशीः प्रत्युच महरह-  
रिति"—इति ॥ रुक्मप्रतिमोचनोत्थभरणादीनां संवत्सरकालव्याप्ति

\* पद् मिदं मिह सर्वेष्वेव पुंस्तकेषु ।

† शास्त्रीदम्यदमिह ज-पुस्तके ।

‡ का० श्रौ० सू० १६. ४. ३३ ।

§ 'तस्मिन्'—इति अ ।

॥ का० श्रौ० सू० १६. ४. ४० द्रष्टव्यम् ।

माह— “तान्येतानीति । ‘तानि’ रुक्मप्रतिमोचनीख्यभरणसमि-  
 दाधानविष्णुक्रमणादीनि पूर्वीक्तान्येतानि \* प्राणवीर्याङ्गरूपेणा-  
 नुक्रान्तानीत्यर्थः । † ‘सर्वस्मिन्’ कृत्स्ने ‘एष’ ‘संवत्सर’ भवेयुरिति  
 विधिवान्ध मेतत् । तेषां संवत्सरकर्त्तव्यत्वे उपपत्ति माह—  
 “संवत्सरो हीति । यस्मात् प्रजापतेस्तानि प्राणवीर्याङ्गानि  
 उत्क्रान्तानि । स हि संवत्सरकालात्मकः खलु ‘एतत्’ एतेन  
 रुक्मप्रतिमोचनादीनां संवत्सर मनुष्ठानेन अस्मिन् प्रकृते सर्वात्मके  
 प्रजापतौ सर्वं निरवशेषं विश्वं ‘दधाति’ स्थापयति । व्यरि-  
 रके बाध माह— “यस्मिन् हेति । ‘अस्य’ संवत्सरात्मकस्य प्रजा-  
 पतेः ‘यस्मिन्’ ऋतौ वसन्तादिके कालावयवे ‘एतत्’ पूर्वीक्तं ‘न’  
 स्थापयेत् । इत्थं प्रतिपादितं संवत्सरावयवे सर्वानाधानलक्षणं  
 दोषं स्पष्टयितुं संवत्सरभृतस्याग्नेः द्रष्टृत्व मपि निषेधयति—  
 “नासंवत्सरभृतस्येति । न संवत्सरपर्यन्तं भृतः’ उत्रायां घृतः ,  
 सोऽयम् ‘असंवत्सरभृतः’, तस्य ‘शैलकीण चन’ द्रष्टापि ‘न’  
 भाव्यम् , किं सुतर्त्विजा । ‘इति’ एवं ‘वामकचायणः’ वाम-  
 कक्षस्यापत्य सृषिः ‘आह’ उक्तवान् । ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थे । एवं  
 ब्रुवती वामकचायणस्याभिप्राय माह— “नेदिम मिति ।

\* पूर्वस्मिन् काण्डे “रुक्म” प्रतिसुच्य विभक्ति— इत्यादिको ग्रन्थः ,  
 कात्यायनीयश्च “यजमानः कण्डे रुक्मम्”—इत्यादिको दृश्यः ( श्रुत०  
 ६ का० ५ प्र० १ ब्रा० ३७१ पृ० , कात्या० १६. ५. १. ) ।

† इत उत्तर ‘मूनविंशकण्डीयाख्यानो ग्रन्थो . च-पुस्तकीयादर्शोऽ  
 नैव लब्धः । मस्यम्पादितादर्शपुस्तकेष्वपि च-ह-पुस्तकयोरिह लिखि-  
 तम्— “अत्र प्रतिपुस्तके पञ्चदशं गतम्”—इति । ततो ह-पुस्तक-  
 भाष्य मत्रावलम्बनम् ।

नेदिति परिभये \* । 'पितरं' पालकं 'इमम्' अधियज्ञात्मकं 'प्रजापतिं' 'विच्छिद्यमानं' विशेषेण भिद्यमानं 'नित्यस्थानि' नैव ईक्षे' इति । 'इति'-शब्दस्तदभिप्रायपरिसमाप्तियुक्तकः । उक्त मर्थं निगमयति— "तत् संवत्सर इति । संवत्सरे अतोति 'तं' प्रजापतिं 'सर्वं' निरवशेषं 'कृत्स्नं' सम्पूर्णवियवं 'संस्कृत्य' 'जहुं सुच्छयति' गमनागमनव्यवहारसमर्थं मूर्द्धाकारं सुच्छितं करोति । 'यथैव' येनैव प्रकारेण 'अदः' पूर्वं 'देवाः' 'एनं' प्रजापतिम् 'उदश्रयन्' उच्छितं कृतवन्तः, तथेत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रकृतस्य चयनात्मकस्य प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकतां तदधिष्ठातृ-  
ग्निवाद्यादित्यात्मकताञ्च प्रतिपादयति— "तस्य गार्हपत्य इत्या-  
दिना । "स यः प्रजापतिर्व्यसत्सत अय मेव स योऽय मग्निधीयते"  
-इत्युक्तम् \* , 'तस्य' प्रजापतेः 'गार्हपत्य एव' चित्तिरूपस्थलविशेष  
एव 'अयं लोकः' पृथिवी । 'अथ यो गार्हपत्ये' अधिकरणे उच्यते  
'अग्निः' स्थापितः, यश्चायु मग्निन् लोके पृथिव्या मधिष्ठातृत्वेन  
स्थितोऽग्निः, स उच्योऽग्निः पृथिवोस्थानोऽग्निरपि अस्य प्रजापतेः  
सम्बन्धो ; स जाठरोग्निर्बोहव्य इति शेषः । 'अथ' 'आहवनीयं  
गार्हपत्यञ्च' 'अन्तरा' मध्ये, चित्तिरन्तराल इति यावत्, यत् स्थलं  
तदन्तरिक्षं मध्यलोक इत्यर्थः । 'अथ' च 'युः' अयम् 'आग्नी-  
धीये' धिषो 'अग्निः' स्थापितः, य एव चाय मन्तरिक्षे अधिष्ठा-  
तृत्वेन स्थितो वायुः, स आग्नीधीयस्योऽन्तरिक्षस्यो वायुस्थेत्युभय-  
विधोऽप्यस्य प्रजापतेः स पञ्चतन्त्रात्मकः प्राण इत्यर्थः । 'आह-  
वनीयः' चित्त्वात्मकः 'एव' 'द्यौः' द्युलोकः । 'अथ' 'आहवनीये'

\* निरु० १. ३. ६ ।

† इहेव पुरस्तात् नवमी कञ्ची (५१ ८०) ब्रह्मणा ।

अधिकरणे 'यः अग्निः' अतिप्रणीतः स्थापितः , तौ सूर्याचन्द्रमसौ  
 युल्लोकेऽधिष्ठातृत्वेन स्थितौ । 'स एषः' आहवनीयादिः चन्द्रान्तः  
 'अस्य' 'आत्मैव' मध्यदेह एवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

तस्य प्रजापतेराधिग्रन्थिक माध्यात्मिकञ्च रूपं प्रतिपिपा-  
 दयिषुराह — "तस्य शिर इति । 'तस्य' प्रजापतेः 'आह-  
 वनीयः' चित्वात्मकः 'शिरः' मूर्धा । 'अथ' 'यः' तत्र निधीय-  
 मानः 'अग्निः', 'योऽयं' 'शीर्षन्' शीर्ष्णि 'प्राणः' नासिका-  
 स द्वारी , स उभयविधोऽपि 'अस्य' प्रजापतेः 'स एव' शीर्षण्यः  
 प्राण एवेत्यर्थः ॥

चित्वात्मकस्याहवनीयस्य , तत्र निधीयमानस्याग्नेश्च क्रमेण  
 शीर्षत्वं शीर्षण्यप्राणत्वञ्च प्रतिपाद्य , तयोरेव पक्षपुच्छवत्त्वं प्रति-  
 पादयति--"तद्यत् स इति । 'तत्' तत्र 'यत्' यस्मात् 'सः' चित्वा-  
 त्मक आहवनीयः 'पक्षपुच्छवान्' पक्षाभ्यां पुच्छेन ज्ञ युक्तोऽस्ति ,  
 'अयं' 'शीर्षन्' शीर्ष्णि वर्तमानः 'प्राणः' नासिञ्च इति यावत् ।  
 सोऽपि 'पक्षपुच्छवान्' हि 'पक्षपुच्छैरन्वितः' खलु । पक्षपुच्छ-  
 वत्त्वमेवोपपादयति— "चक्षुः शिर इत्यादिना । 'चक्षुः' सव्य-  
 दक्षिणात्मकं चक्षुरिन्द्रियम् नासिञ्चप्राणस्य 'शिरः' मूर्भूतम् ;  
 तदुपरि वर्तमानत्वात् । दक्षिणकर्णो दक्षिणपक्षस्थानीयः ;  
 तस्य दक्षिणपार्श्ववर्तित्वात् । उत्तरकर्णोऽप्युत्तरपक्षस्थानीयः ;  
 उत्तरपार्श्ववर्तित्वादेव । 'प्राणः' स एव नासिञ्चः । 'मध्यम्'  
 अन्तर्वर्ति 'आत्मा' शरीरम् । 'वागायमनत्वाद्' वाङ् मुखम् ,  
 तदायतनं रसन मंपि वा , तत् पुच्छम् ; पश्चाद्भावित्वात् । सैव  
 'प्रतिष्ठा' आसदम् । प्रतिष्ठात्वमेवोपपादयति— "तद्यदिति ।  
 'यत्' यस्मात् 'प्राणाः' नासिञ्चादयो 'वाचा' मुखेन 'अन्नं' 'जम्बू'

भ्रमयित्वा शरीरे 'प्रतितिष्ठन्ति' नोत्क्रामन्ति, 'तस्मात्' हेतोः प्राणानां 'वाक् पुच्छे' प्रतिष्ठेत्युपपन्नम् ॥ १३ ॥

प्रकारान्तरेणापि तस्याधियज्ञिकाध्यात्मिकरूपता मेव प्रतिपादयति — "अथ यदन्तरेति । आहवनीयगार्हपत्ययोः अन्तरालदेश इति 'यत्', 'स आत्मा' शरीरम् । 'आग्नीध्रीये' तदादौ धिश्यो 'योऽग्निः' निहितः । प्रदर्शनार्थं माग्नीध्रीयग्रहणम्; उत्तरत्र "अन्तरिक्षं धिष्याः"—इति बहुवचनोपदेशात् \* । योऽयम् अन्तरात्मनि 'प्राणः' पञ्चउत्थात्मकः, 'सः' सर्वधिष्यास्य एव 'अस्य' पञ्चउत्तिकः प्राण इत्यर्थः । 'गार्हपत्योऽस्य' 'प्रतिष्ठा' पादौ । यत्र तत्रत्यः 'अग्निः' 'सोऽस्य' अवाचोनः 'प्राणः'; पशवर्त्तित्वात् ॥ १४ ॥

त्रिचितिको गार्हपत्ययेतस्य इत्येकीयमत सुपन्यस्यति — "तत् हैक इति । 'एके' शाखिनः तं प्रकृतं गार्हपत्यं 'त्रिचितम्' उपर्युपरि चितित्रयात्मकं 'चिन्वन्ति' । तिसृभिश्चितिभिश्चित-क्लिचितस्तं तथाविधम् । चिन्वता मभिप्राय माह — "त्रयो वा इमे इति । प्रजननमूत्रपुरीषसर्गवृत्तिभेदेन त्रित्वम्, ततश्च तिसृभिश्चितिभिस्त्रीण्येव प्राणायतनानि कल्पितानि भविष्यन्तीत्याशयः । वक्ष्यमाणसम्पत्तित्रयातिरेकात्मकदोषाधानेन तमेतं पक्षं निराचष्टे — "न तथेति । ये शाखिनः तथा त्रिचितचयनं कुर्वन्ति, 'ते' 'एकविंशसम्पदं' "ता उभय्य एकविंशतिः सम्पद्यन्ते"—इत्यादिनोक्त्याम्† । 'एकविंशतिरिष्टकानां सम्पदम्' 'अतिरेचयन्ति' अतिरिक्तां कुर्वन्ति । त्रिचितिके हि बहुतरा

\* ५७ पृ० २३ कक्षी द्रष्टव्या ।

† इहेवाद्यब्राह्मणे ( १२ पृ० २ पं० ) ३४ कक्षी द्रष्टव्या ।

द्रष्टकाः स्युः ; तथा , आनुष्टुभेषु “अथातः सम्प्रदेवैकविंशति-  
रिष्टकाः”—इत्यादिना \* वक्ष्यमाणायास्त्रिविधाया अपि सम्प्र-  
दम् , तथा “सैषा बृहत्वेवः”—इत्यादिना † वक्ष्यमाणाया बृहत्याः  
सम्प्रद मपि अतिरेचयन्तीत्यनुषङ्गः ॥

“त्रयो वा इमेऽवाञ्चः प्राणाः”—इति यदुक्तम् ‡ , तदप्यङ्गीकृत्य  
निराकरोति—“एकं ह्येवेत्यादिना । एतस्य प्राणस्य रूपम् ‘एत-  
द्रूपम्’ एक मेव खलु , ‘यदेतेऽवाञ्चः प्राणाः’ प्रजननमूत्रपुरीष-  
सर्गवृत्तिभेदेन त्रयोऽपि । किम्पुनस्तदित्याह— “योनिरेवेति ।  
‘योनिः’ स्थानं कारणम् । मूत्रपुरीषरतसा मेकं मेवैतद्रूपं कारण  
मनादृत्यापि कर्मविवक्षया आह— “प्रजापतिरेवेति । मूत्र-  
पुरीषसर्गात्मना प्रजापतिरेकत्व मित्यर्थः । तदेवोपपादयति—  
“यद्वेति । ‘यन्मूत्रं करोति’, ‘यत्’ च ‘पुरीषं करोति’, ‘तत्  
जायत एव’ इति प्रजातिरूपेण त्रयाणा अमेकत्वं सिद्ध  
मेवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

पूर्वं सुपक्षिता मनुष्टुबृहत्त्वोः सम्प्रद माह— “अथातः  
सम्प्रदेवेत्यादिना । ‘वक्ष्यते’—इति शेषः । “अयं सो अग्निः”—  
इत्यादिभिर्मन्त्रैरुपहिता अष्टौ यजुष्यः , लौकम्पुणास्त्रयोदशेति  
‘एकविंशतिरिष्टकाः’ । “नव यजूंषीति । अष्टाना मर्षबृहती-  
प्रभृतीनां यजुष्यतीना मष्टौ “अयं सो अग्नि रित्यादीनि § , लौक-  
म्पुणाना मेकं “लोकं ष्ठीति || , एवम् नव । ‘तत्’ तत्र ‘त्रिंशत्’

\* उत्तरस्थीं कण्डिकायां ( ५४ पृ० ६ प० ) द्रष्टव्यम् ।

† ङाविंशती कण्ठी द्रष्टव्या ( ५६ पृ० १० पं० ) ।

‡ अशुपदं गतं द्रष्टव्य मिति ( ५४ पृ० ३ प० , ६६ पृ० १ प० ) ।

§ वा० सं० १२. ४७—५३ । ॥ वा० सं० १२. ५४ ।



सङ्घा सम्बन्धते । 'सादनञ्च' यजुः "तया देवतयेति \* ।  
 स्रद्धोहाश्च 'ता अस्थेति † । 'त्' तेन 'डात्रिंशत्' अनुष्टुप्,  
 डात्रिंशदक्षरा' 'सैवा' प्रसिद्धा 'अनुष्टुप्' गार्हपत्यचित्ती सम्बन्धा  
 द्रष्टव्या ॥ १६ ॥

एव मेक अनुष्टुभं सम्पाद्य अपरे हे अनुष्टुभावेव सम्पादयितु  
 माह — "एकविंशतिर्वेवेति । 'उ, एव'-इति पदच्छेदः । 'परि-  
 श्रितः' एकविंशतिसङ्घा एव । यदुक्तं सूत्रकृता — "परिश्रिद्धिः  
 परिश्रयति पूर्ववदेकविंशत्या चित स्वेति" इति ‡ । "यजुर्द्वाविंश  
 मिति । परिश्रिता मेवोपधाने विहितं "चितः स्वेति § "ब्युद्-  
 हनस्य यजुः' । "अपेत वेतेति ॥ त्रयोविंशम् । 'जषाः' तन्निवापे  
 विहितं यजुः "सञ्ज्ञान मिति च हे ण चतुर्विंशपञ्चविंशे । 'सिक-  
 ताश्च' तन्निवापयजुः "अग्नेर्भस्मेति\*\* च हे षड्विंशसप्तविंशे । 'पुरी-  
 षश्च' तन्निवापयजुश्च "इद्रं विश्वा७ इति †† हे अष्टादशैकोनत्रिंशे ।  
 'चतुर्भिः' यजुर्भिः "समित मिथादिभिः ‡‡ उख्य मग्निं 'सन्निव-  
 पति', तत् सन्निवापस्त्रिंशः । "विमुञ्चति पञ्चमेनेति । "मातेव पुत्र  
 मिति §§ यजुषा विहितः शिक्वादुखाविमोक एकत्रिंशः । अग्नि-  
 सन्निवापोखाविमोकयोरुपयुक्तसङ्घातः पातात् तत्सम्बद्धानि पञ्च  
 यजुष्ववशिष्टानीत्यभिप्रेत्य तेषां पञ्चाना "सुपयोग माह — "तत-  
 स्त्रिभिरिति । 'ततः' तेभ्यः पञ्चभ्यो यजुर्भ्यः 'त्रिभिः' यजुर्भिः

\* वा० सं० १२. ५३. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

॥ वा० सं० १२. ४५ ।

\*\* वा० सं० १२. ४६. २ ।

†† वा० सं० १२. ५७-६० ।

† वा० सं० १२. ५५ ।

§ वा० सं० १२. ४६. ३ ।

¶ वा० सं० १२. ४६. १ ।

†† वा० सं० १२. ५६ ।

§§ वा० सं० १२. ६१ ।

एकदेशभूतैरेका द्वात्रिंशत्तमी सङ्ख्या । एवम् 'इयम्' इदानीं प्रतिपादिता 'द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप्', सम्प्रत्यत इति शेषः । 'सैषा' प्रसिद्धा द्वितीया 'अनुष्टुप्' ॥ १० ॥

अथ वाग्रुपां तृतीया मनुष्टुभ माह — "अथैते हे इति । पञ्चसु मध्यमानुष्टुभि व्रीण्युपयुक्तानि, 'अथैते' ये अन्तिमे 'हे' 'यजुषी' अवशिष्येते, 'सा' 'तु' पुनर्यजुर्इयात्मिका 'अनुष्टुबेवं । ननु यजुर्इयात्मिकाया अस्याः कथं मनुष्टुभ मित्यत आह — "वाग् वा इति । 'वाक्' खलु 'अनुष्टुप्' ; "वागनुष्टुबित्यन्विरहस्ये श्रुतत्वात् \* । यजुर्इयात्मिकानुष्टुबैकात्म्यप्रतिपादनाय वाचो हिरूपता माह — "तद्यदिदम्बय मिति । इय मेव इयात्मक मित्यर्थः । तदेव हेधा विद्मणोति — "दैवञ्चेत्यादिना । 'दैवं' देवसम्बन्धि वाक्यं संस्कृतम्, 'मानुषं' मनुष्यसम्बन्धि भाषामयं वाक्यञ्च ; — 'उच्चैः' तारस्वरं वाक्यम्, 'शनैः' मन्द्रस्वरञ्चेति । 'तदेते हे' इत्युपचिसनिगमनम् । एवं तृतीयानुष्टुप् सम्प्रज्ञा ॥ १८ ॥

प्रतिपादितानां तिष्ठणा मनुष्टुभा सुपयोगं विधत्ते — "ता वा एता इति । 'एषः' 'चितः' चित्वा सम्पादितः 'गार्हपत्यः', 'ताः' प्रसिद्धाः 'एतास्त्रिस्तोऽनुष्टुभः' खलु, सम्पादितानुष्टुप्त्रयात्मक इत्यर्थः । अनुष्टुप्त्रयसम्पादनस्य गार्हपत्यचित्वा लोकात्रयसम्पादनहेतुता माह — "तद्यदेता इति । 'अत्र' गार्हपत्यचित्वा यत् 'एतास्त्रिस्तः अनुष्टुभः' सम्पादयन्ति, वेदवादिना इति शेषः । 'तदा' आह्वनीयचयनात् प्रागेवात्रैव गार्हपत्ये इमे सर्वे 'लोकाः' त्रयोऽपि 'भवन्ति' ।

\* उपरिष्ठात् १० क० १ प्र० ३ ब्रा० १ का० "वाग्वा अनुष्टुप्"—इति ।

कारणे कार्यस्थान्तर्गतत्वादुत्तरेऽग्नयोऽपि गार्हपत्ये एवान्तर्गताः ,  
 पृथिवीलोके चेतरी लोकावन्तर्गतौ । “सोऽग्निना पृथिवीं  
 मिथुनं समभवत् तत आण्डं समवर्तत”-इति तत एवो-  
 त्पत्तिश्रुतेः \* । तासा मेव अनुष्टुभा सुपयोगान्तर मपि विधत्ते—  
 “ततोऽन्यतरा मिति । तयोर्द्वात्रिंशदक्षरयोः अनुष्टुभोर्मध्ये ‘अन्य-  
 तराम्’ एकाम् ‘द्वात्रिंशदक्षरा मनुष्टुभं’ बुद्ध्या विविच्य आहवनीय  
 स्थानं ‘हरन्ति’, अनुसम्भानाय हरेशुरित्यर्थः । ‘सा’ चाहता  
 अनुष्टुप् आहवनीयचितिः , सैव द्युलोकः , तदेव चित्वाग्नि-  
 रूपस्य प्रजापतेः ‘शिरः’ भवति । ‘इह’ अग्निन् गार्हपत्य-  
 स्थाने ‘अन्यतरा’ एका द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुप् ‘परिशिष्यते’, ‘सः’  
 एव ‘गार्हपत्यः’ अग्निरिति । चित्वाग्निरूपस्य प्रजापतेः ‘सा’  
 एव ‘प्रतिष्ठा’ पादौ । ‘सः’ एव ‘अयं लोकः’ भूलोकात्मिका-  
 पीत्यर्थः ॥ १६ ॥

द्विसंख्यायोगाद् गौणी तृतीया अनुष्टुप् , तस्या अन्तरि-  
 चादिरूपता माह—“अथ ये एते इति । आहवनीयगार्हपत्य-  
 चित्त्रोर्मध्ये यदस्ति स्थान माग्नीधीयाख्यम् , एतदेव सा यजुर्इया-  
 त्मिका अनुष्टुप् , ‘तदेवान्तरिक्षम्’ तृतीयानुष्टुप्वात्मकोऽय मन्त-  
 रिक्षलोक इत्यर्थः । सैव आनुष्टुभस्य ‘चित्वाग्निरूपस्य प्रजापतेः  
 ‘आत्मा’ मध्यदेहः । द्वात्रिंशदक्षराभ्यां पूर्वाभ्या अनुष्टुभ्यां  
 द्विसंख्यायोगिन्यास्तृतीयस्या अनुष्टुभोऽल्पीयस्त्वात् तदात्मकतयो-  
 ज्ञाना मख्यपरिमाणत्व माह—“तद्यत् ते हे भवत इत्यादिना ।  
 यस्मात् तृतीया अनुष्टुप् द्विसंख्यायोगिनी , तस्मात् तदात्मकं

\* इ का० १० २. १. ( इ भा० १५ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालं 'तनीयः' तनुतरम्, अल्पपरिमाण  
मेव भवति । 'तस्मात्' एव कारणात् 'एषां लोकानां' मध्ये  
'अन्तरिक्षलोकः' 'तनिष्ठः' सूक्ष्मतमो भवति ॥ २० ॥

"सैषा त्रेधा विहितेत्यादि । त्रिप्रकारेण विहिता 'सैषा  
अनुष्टुप्' 'वाक्' एव । 'ताः' 'एषः' उख्यः 'अग्निः' 'प्राणो  
भूत्वा अनुसञ्चरति' आहवनीयगार्हपत्याग्नीध्रियाख्येषु स्थानेषु  
क्रमेण व्याप्नोति । तत्स्थानगतेऽग्नेौ प्राणोदानव्यानवृत्त्यात्मना  
सूर्यादिभेदेन तस्य व्याप्ति माचष्टे — "य आहवनीयेऽग्नि-  
रिति । 'आहवनीये' आहवनीयस्थाने निहितो 'यः अग्निः',  
'सः' 'प्राणः' प्राणात्मकः, 'सोऽसावादित्यः' आदित्यात्मकश्च ।  
'आग्नीध्रिये' निहितसु व्यानात्मकः, वायात्मकश्च । गार्हपत्ये  
निहिततु उदानात्मकः, पार्थिवान्ग्निरूपश्च । आहवनीयादीनां  
द्युलोकादिरूपत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ऊर्ध्वमध्याधोदेशसम्बन्धेन  
प्राणादीनां तत्तदग्न्यात्मकता अवगन्तव्या ।

प्रतिपादित मर्थं विदुषः फल माह — "एवंविदिति ।  
अग्न्याशधिष्ठितलोकत्रयाणां प्रजापत्यात्मकत्वम्, गार्हपत्यचित्ती  
सम्पादितास्त्रनुष्टुप्सु उदीरितरीत्या जानन् कृत्स्नां 'वाचम्'  
कृत्स्नम् 'प्राणम्', एतैरेव सर्वैः सम्पूर्णम् 'आत्मानम्' अग्निशरीरं  
'संस्क्रुते' उत्पादयति ॥ २१ ॥

"अथो ब्रह्मतीसम्पद मिति \* प्राक्सूचितां' सम्पत्ति माह  
— "सैषेति । 'सैषा' गार्हपत्यचित्तिः 'ब्रह्मत्येव', सम्पद्यत इति  
शेषः । ता मेव सम्पत्तिं दर्शयति — "ये वा' इति । 'ये' खलु

पूर्वं सुक्ते द्वात्रिंशदक्षरे अनुष्टुभौ, तदुभयं मिलित्वा द्वात्रिंशदेवात्र सम्पद्यते । अविशिष्टे 'हे यजुषी', 'अग्निरेव' 'पञ्चत्रिंशः' पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्यापूरकः ॥

ननु षट्त्रिंशदक्षरा बृहतीति श्रुतेः इतः पर मध्येकेन भविततव्यमित्यत आह— "नाक्षरादिति । न चैकस्मादक्षरादविद्यमानात् 'हृद्' 'व्येति' विगच्छति, अन्यथा भवति । 'न' च 'द्वाभ्याम्' अक्षराभ्याम् । एकेन द्वाभ्यां वा न्यूनं हृद् न वैकल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा चैषां पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्यापि \* बृहत्येवेति तत्सम्पत्तिरविरुद्धा । सङ्ख्यापूर्तिं मपि दर्शयति— "स उ इक्षर इति । यः पञ्चत्रिंशोऽग्निः स खल्वक्षरद्वयवाच्यः, ततस्ताभ्या मग्निरित्यक्षराभ्यां सह षड्त्रिंशत् सङ्ख्या सम्पद्यते; तथा च षट्त्रिंशदक्षरा बृहती सम्पन्ना । अपि च 'एषः' आहवनीयस्थाने 'सञ्चितः' अग्निरपि 'बृहती मपिसम्पद्यते' । तत्र गार्हपत्यचितिर्बृहतीसम्पत्तिरेव कारणमित्याह— "यादृग् वा इति । 'योनी' गर्भाशये यादृगाकारविशिष्टे 'रितः' 'सिञ्चते' तादृग् रूप एवोत्पत्तिसमये 'जायते'; यथैव लोके, 'तत्' तथैवापि । योनिरूपायां गार्हपत्यचितौ, 'यद्' यस्मात् 'एतां बृहतीं करोति', 'तस्मात्' इत उत्पद्यमानः 'एषः सञ्चितः' अयं माहवनीयोऽग्निरपि † 'बृहती मपिसम्पद्यते' । तां सम्पत्तिं यजुषतीनां षड्युत्तरत्रिंशत्सङ्ख्याया दश् बृहत्यः सम्पद्यत इति दशमकाण्डे दर्शयिष्यामः ॥ २२ ॥

\* 'पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्याया मपि'—इति ज ।

† "एष सञ्चितः' महाभिरपि"—इति ज ।

गार्हपत्याग्नीध्रीयांश्चवनीयानां क्रमेण पृथिव्यन्तरिक्षदुलो-  
कात्मकत्वात् क्रमेणैव तेषां संस्कारो युक्त इत्याशङ्क्युत्क्र-  
मानुष्ठान सुपपादयति— “तदाहुरित्यादिना । “अन्तरिक्षं  
धिष्णया इति । गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालवर्तिन आग्नीध्रोया-  
दयो \* धिष्णयाः, ते अन्तरिक्षलोकात्मका इत्यर्थः । तत्र गार्ह-  
पत्यचयनानन्तर्यम् आहवनीयचितेराक्षिपति— “अन्तरिक्षं लोक  
इति । ‘अस्माद् लोकात्’ ‘अन्तरिक्षलोकः’ ‘अनन्तर्हितः’  
प्रत्यासन्नः । तथा च गार्हपत्यचयनानन्तरं धिष्णानिव-  
पन मज्जत्वा ‘अथ कस्मात्’ हेतोराहवनीयचयनं मेव क्रियते ।  
‘अथ’ अनन्तरं मेव ‘धिष्णान्’ चिनोतीत्यनुषज्यते । इत्य मनु-  
ष्ठं कारणं वक्तुं माह— “सह हैवेमा मिति । ‘अथे’ पुरा  
‘इमौ’ भूस्वर्गाख्यौ ‘लोकी’ ‘सहासतुः’ । ‘तयोः’ ‘वियतोः’ विविधं  
गच्छतोः वियुज्यमानयोः ‘यः’ मध्ये ‘आकाशः’ अवकाशः ‘आ-  
सोत्’, ‘तदन्तरिक्षं मभवत्’ । ‘ततः पुरा’ द्यावापृथिव्योर्विगमनात्  
पूर्वम् ‘ईक्षम्’ इति आकाशस्य ‘नाम’ ; द्यावापृथिव्योर्विशेषे  
सति ‘अन्तरा’ तयोर्मध्ये खलु ‘इदं मीक्षं मभूत्’ । ‘इति’  
हेतोः ; यस्मादेवं तस्मादिदं आकाशं मन्तरिक्षनामकं सम्पन्न  
मित्यर्थः ॥

“तद् यद् गार्हपत्यं मित्यादि । एव मन्तरिक्षनिष्पत्ते-  
र्लोकद्वयानन्तरभावित्वाद् गार्हपत्यचयनानन्तरं मन्तरिक्षसंस्तु-  
तान् धिष्णानतिक्रम्य ‘आहवनीयं’ ‘चिनोति’ चयनेन संस्कारो-  
तीति । ‘यत्’ यस्मात् तौ भूस्वर्गाख्यौ ‘अथे’ खलु सह

\* ‘आग्नीध्रीयाः’—इत्येव च ।

‘असृज्येतां’ सृष्टावभवताम्, ‘अथ’ आहवनीयचयनानन्तरं ‘प्रत्येत्य’ प्रतिनिवृत्तं सदसि ‘धिष्णान्’ ‘निवपति’ निर्मिमीते । अथ प्रयोजनं ग्राह— “कर्मण एवेति । तत्र धिष्णानां निवपनं कर्मणः क्रियाकलापस्य ‘अनन्तरयाय’ अविच्छेदायैव भवति । न त्वनेन किञ्चित् संस्कारंश्च मस्तीत्याह— “अथो इति । अपि च उभयोः ‘अन्तयोः’ आहवनीयगार्हपत्ययोश्चयनेन ‘संस्क्रिय-माचयोः’ ‘मध्यम्’ अपि स्थलं ‘संस्क्रियते’, तेनैव संस्कारेण संस्कार मेव भवति ; तस्माद् गार्हपत्यचयनानन्तरं आहवनीयस्यैव चयनम्, पश्चाद्धिष्णाना मिति क्रमः सिद्ध इति भावः ॥ २३ ॥ २ ॥

इति त्रयोसायणाचार्यविरचिते माधववैद्ये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
सप्तमकाण्डे प्रथमेऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।  
पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेस्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कानकहयतुलापूर्ववी स्वर्णगर्भम्,  
सप्तान्धेन पञ्चसौरीश्विदग्गतकलाताधेनुसीवर्षभूमिः ।  
रत्नोक्तां बल्लवाजिद्विपङ्गहितरथी सायभिः सिङ्गणार्यी,  
व्यन्त्रापीद्विष्णवक्रां प्रथितविधिमहाभूतयुक्तां घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभवं मतुलः स्वर्णजं वर्षसुख्यः,  
कार्पासीयं ज्ञपावान् शुडकत मज्जो राजतं राजपूष्यः ।

आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्वृषः शर्करं चार्कतीजाः ,  
रत्नाज्यो रत्नरूपं गिरि मन्वृषः सुदा पात्रसाक्षिण्यार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरकैदिकमार्गप्रदर्शक-  
श्रीहरिहरमहाराजसाम्नाज्यधुरन्धरेण  
सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
सप्तमकाण्डे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥\*



( अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

अथातो नैर्ऋतीर्हरन्ति । एतद्दे॒ दे॒वा गार्ह-  
पत्यं चित्वा॒ समारोहन्नयं वै लोको॒ गार्हपत्य इम  
मेव तं लोकं संस्कृत्य॒ समारोहंस्ते॒ तम एवा-  
नतिदृश्यं मपश्यन् \* ॥ १ ॥

ते ऽब्रुवन् । उप॒ तज्जानीत॒ यथेदं॒ तमः पा-  
प्मान॒ मपह॒नाम॒हा ऽइति॒ तेऽब्रुव॑ञ्चे॒तय॒ध्व मिति  
चित्ति॒ मिच्छ॑तेति॒ व्वाव॒ तद्ब्रुव॑न्स्तदिच्छत॒ यथेदं॒ तमः  
पाप्मान॒ मपह॒नाम॒हा ऽइति॒ ॥ २ ॥

ते चेतयमानाः । एता॒ इष्ट॒का अप॑श्यन्  
नैर्ऋती॒स्त्रा उ॒पाद॑धत॒ ताभिस्त॑त्तमः॒ पाप्मान॒ मपा-  
घ्नत॒ पाप्मा॒ वै नि॒र्ऋति॑स्तद्यदे॒ताभिः॒ पाप्मानं॒ नि-  
र्ऋति॑ म॒पाघ्न॑त॒ तस्मा॑दे॒ता नैर्ऋ॑त्यः ॥ ३ ॥

तद्वा ऽप॒तत् क्रि॑यते । यद्दे॒वा अकु॑र्वन्निदं॒ नु  
तत् तमः॒ सं पाप्मां॑ दे॒वैश्वा॑पहतो॒ यत्चे॒तत् करो-  
ति॒ यद्दे॒वा अकु॑र्वन्स्तत्॒ कर॑वाणीत्यथो॒ य एव

\* 'मपश्यन्' - इति ग, घ ।

पाप्मा या निर्ऋतिस्तु मेताभिरुपहते तद्यदेताभिः  
पाप्मानं निर्ऋति मपहते तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ४ ॥

यद्देवैता नैर्ऋतीर्हन्ति । प्रजापतिं विश्वस्तं  
यत्र देवाः समस्कुर्वन्तु मुखायां योनौ रेतो  
भूत मसिञ्चन्त्योनिर्वा ऽउखा तस्मा ऽएताः संवत्सरे  
प्रतिष्ठाः समस्कुर्वन्निम मेव लोक मयं वै लोको  
गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्राजनयन्तस्य यः पाप्मा यः  
श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरुपाघ्नस्तद्यदस्यै-  
ताभिः पाप्मानं निर्ऋति मपाघ्नस्तस्मादेता नै-  
र्ऋत्यः ॥ ५ ॥

तथैवैतद्यजमानः । आत्मानं मुखायां योनौ  
रेतो भूतः सिञ्चति योनिर्वा ऽउखा तस्मा ऽएताः  
संवत्सरे प्रतिष्ठाः संस्करोतीम मेव लोक मयं  
वै लोको गार्हपत्यस्तस्मिन्नेनं प्रजनयति तस्य यः  
पाप्मा यः श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरुप-  
हन्ति तद्यदस्यैताभिः पाप्मानं निर्ऋति मपहन्ति  
तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ६ ॥

पादमाल्यो भवन्ति । अधस्पद् मेव तत्

पाप्मानं निरुद्धं कुरुतेऽलक्षणा भवन्ति यद्दे  
 नास्ति तदलक्षणमसन्त मेव तत् पाप्मानं नि-  
 रुद्धं कुरुते तुषपक्ता भवन्ति नैरुद्धता वै तुषा  
 नैरुद्धतैरेव तन्नैरुद्धतं कर्म करोति कृष्णा भवन्ति  
 कृष्णा हि तत्तम आसीदयो कृष्णा वै नि-  
 रुद्धतिः ॥ ७ ॥

ताभिरेतां दिशं यन्ति । एषा वै नैरुद्धती  
 दिङ् नैरुद्धत्या मेव तद्दिशि निरुद्धंति दधाति स  
 यत्र स्वकृतं वेरिष्णुं प्रवभप्रदरो वा स्यात्तदेना  
 उपदध्याद्यत्र वा ऽअस्या ऽअवदीर्यते यत्र वास्या  
 ऽओषधयो न जायन्ते निरुद्धतिर्हास्यै तद् गृह्णाति  
 नैरुद्धत् ऽएव तद्भूमेनिरुद्धंति दधाति ताः पराची-  
 लीकभाजः कृत्वोपदधाति ॥ ८ ॥

अमुन्वन्त मयजमानं मिच्छेति । यो वै न  
 मुनोति न यजते तं निरुद्धतिर्च्छति स्तेन-  
 स्येत्या मन्विहि तस्करस्येति स्तेनस्य चेत्या मन्वि-  
 हि तस्करस्य चेत्येतदयो यथा स्तेनस्तस्करः प्र-  
 क्षाय मेत्येवं प्रलाय मिहीत्यन्य मस्मदिच्छ सा त

ऽद्भुत्येत्यनित्यं विद्वांस मिच्छेत्येतन्नमो देवि नि-  
र्ऋते तुभ्य मस्त्विति नमस्कारिणैर्वैना मपहृते ॥ ९ ॥

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेज इति । तिग्म-  
तेजा वै निर्ऋतिस्तस्या ऽएतन्नमस्कारोत्ययस्मयं  
व्विचृता बन्ध मेत मित्ययस्मयेन ह वै तं बन्धेन  
निर्ऋतिर्बध्नाति यं बध्नाति यमेन त्वं यस्या  
संविदानेत्यग्निर्वै यम इयं यस्याभ्यां ह्रीदं  
सुर्वं यत् माभ्यां त्वं संविदानेत्येतदुत्तमे नाके  
ऽअधि रोहयेन मिति स्वर्गी वै लोको नाकः स्वर्गे  
लोके यजमान मधिरोहयेत्येतत् \* ॥ १० ॥

यस्यास्ते घोर ऽआसन् जुहोमीति । घोरा  
वै निर्ऋतिस्तस्या एतदासन् जुहोति यत् तद्दे-  
वत्यं कर्म करोत्येषां बन्धाना मवसृर्जनायेति ये-  
र्बन्धैर्बद्धो भवति यां त्वा जनो भूमिरिति प्र-  
मन्दत ऽद्भुतीयं वै भूमिरस्यां वै सु भवति यो  
भवति निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद व्विश्रुत इति  
निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद सञ्चत इत्येतदियं

\* 'मधिरोहयेत्येतत्'—इति ग, घ ।

वै निऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निऋच्छति  
 तद्यथा वै ब्रूयाद्सावामुष्यायणोऽसि व्वेद त्वा  
 मा मा हिःसीरित्येव मेतदाह नतरां हि व्वि-  
 दित आमन्वितो हिनस्ति ॥ ११ ॥

नोपसृशति । पाप्मा वै निऋतिर्नेत् पाप्मना  
 सःसृशा ऽङ्गति न सादयति प्रतिष्ठा वै सा-  
 दनं नेत्याप्मानं प्रतिष्ठापयानीति न सुददोहसाधि-  
 वदति प्राणो वै सुददोहा नेत्याप्मानं प्राणेन  
 सन्तनवानि सन्दधानीति ॥ १२ ॥

ता हैके परस्तादूर्वाचीरुपदधाति । पाप्मा  
 वै निऋतिर्नेत् पाप्मानं निऋति मन्वत्रायामिति न  
 तथा कुर्यात् पराचीरेवोपदध्यात् पराञ्च मेव तत्  
 पाप्मानं निऋति मपहते ॥ १३ ॥

तिस्र इष्टका उपदधालि । त्रिवृदग्निर्यावा-  
 नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत् पाप्मानं नि-  
 ऋति मपहते \* ॥ १४ ॥

अथांसन्दीधु शिक्थं । रुक्मपाशं मिण्डुं तत्

पराङ् न्यस्यति नैर्ऋतो वै पाशो निर्ऋतिपाशा-  
 देव तत् प्रमुच्यते यं ते देवी . निर्ऋतिराबिबुध  
 पाशं ग्रीवास्त्रविचृत्य मित्यनेवंविदुषा हाविचृत्यस्तुं  
 तै विष्याम्यायुषो न मध्यादित्यग्निर्वा ऽत्रायुस्तस्यै-  
 तन्मध्यं युञ्चितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीय-  
 स्तस्माद्यदि युवाग्निं चिनुते यदि स्थविरं आयुषो  
 न मध्यादित्येवाहाथैतं पितुमद्भि प्रसूत इत्यन्नं  
 वै पितुरथैतदन्नमद्भि प्रसूत इत्येतत् विष्टुर्भि-  
 र्वञ्जो वै विष्टुर्बुञ्जेणैव तत् पाप्मानं निर्ऋति  
 मपहते ॥ १५ ॥

तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्दी शिक्वः  
 रुक्मपाश इण्डुं तदष्टावष्टाक्षरा गायत्री गायत्री-  
 ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत् पा-  
 प्मानं निर्ऋति मपहते ॥ १६ ॥

अथान्तरेणोदचमसं निनयति । वञ्जो वा  
 ऽत्रापि वञ्जेणैव तत् पाप्मानं निर्ऋति मन्तुर्द्धत्ते  
 नमो भूत्यै येद् चकारेत्पुत्तिष्ठन्ति भूत्यै वा  
 ऽएतदुपे देवाः कर्माकुर्वन्त तस्या ऽएतन्नमोऽङ्गु-

र्व्वन् भूत्या ऽउ एवाय मेतत् कर्म कुरुते तस्या  
 ऽएतन्नमश्करोत्यप्रतीक्ष मायन्त्यप्रतीक्ष मेव तत् पा-  
 प्मानं निर्व्वृत्तिं जहति ॥ १७ ॥

प्रथेत्याग्नि मुपतिष्ठते । एतद्वा ऽएतदुयथा-  
 यथं करोति यदग्नी सामिचित ऽएतां दिश मेति  
 तस्मा ऽएवैतन्निष्कृतेऽहिंसायै ॥ १८ ॥

यद्देवोपतिष्ठते । अयं वै लोको गार्हपत्यः  
 प्रतिष्ठा वै गार्हपत्य इयं मु वै प्रतिष्ठायैतदुपय  
 मिवैति यदेतां दिश मेति तद्यदुपतिष्ठत ऽइमा  
 मेवैतत् प्रतिष्ठा मभिप्रत्यैत्यस्या मेवैतत् प्रति-  
 ष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥ १९ ॥

दिवेशनः सङ्गमनो व्वसूना मिति । निवे-  
 शनो अयं लोकः सङ्गमनो व्वसूनां व्विश्वा  
 रूपाभिचष्टे शचीभिरिति सर्वाणि रूपाण्यभिचष्टे  
 शचीभिरिष्येतद्देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो  
 न तस्थौ समरे पथीना मिति यथैव यजुस्तथा  
 बन्धुः ॥ २० ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२, १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।  
निर्ममे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथाख्यायिकया प्रयोजनप्रतिपादनपुरःसरं नैर्ऋतीना मिष्ट-  
कानां सुपधानं विधिस्तुसासां हरणं सङ्ग्रहेण प्रतिजातीति—  
“अथात् इति । ‘अथ’ गार्हपत्यचयनानन्तरम् ‘अतः’ अस्मात्  
स्थानात् निर्ऋतिदेवताकाः इष्टकाः ‘हरन्ति’, नैर्ऋत्यां  
दिशि निरस्येयुरित्यर्थः । तासां सुपधानस्य प्रयोजनं माख्या-  
यिकयाचष्टे— “एतद्वा इति । ‘एतद्’ एतस्मिन् खलु  
गार्हपत्यचयनानन्तरकाले ‘देवाः’ ‘समारोहन्’ सम्प्राप्नुवन् ।  
एतदेव विवृणोति— “अथं वा इति । “ते तम एवेति । चय-  
नेन संस्मृतं भूलोकं मारुटाः ‘ते’ ‘अनतिदृश्यम्’ दृश्यमतिक्रम्य  
द्रष्टुं मशक्यं सर्ववस्त्वाच्छादकम् पापरूपं ‘तम एव’ सर्वत्र  
अपश्यन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

“तेऽनुवन्निति । “उप तज्जानीतेति । उपेत्य तत् तमोऽपहन्तु  
सुपायं विचारयतेत्यर्थः । “तमः पाप्मान मिति । तमोरूपं पाप्मानं  
चेतयध्वं मित्तीच्छार्थे णिजिति \* व्याचष्टे— “चित्ति मिच्छतेतीति ।  
चित्तिं पापहननसाधनं मिष्टकानां चयनं मिच्छतेत्यर्थः । “तदि-  
च्छतेति । हे देवाः ! ‘तत्’ चयनम् ‘इच्छत’, ‘यथा’ येन चयनेन  
‘इदं’ तमोरूपं पापं नाशयेमित्यर्थः ॥ २ ॥

“ते चेतयमाना इति । ‘चित्ति मिच्छन्त’ इत्यर्थः ।  
“पाप्मा वै निर्ऋतिरिति । दक्षिणाक्षरदिग्धिदेवता सा ‘पाप्मा



वै' पापरूपैव । एतन्नादात्म्यं सुपजीव्यं पापापहतितेभूतानां मिष्टकानां 'नैर्ऋत्यः'-इति नाम निर्वृत्तम् । "तद्यदेताभिरिति । 'अपाघ्नत' अनाश्रयन् ॥ ३ ॥

इत्थं आख्यायिकया नैर्ऋतीनामप्रधानस्य पापरूपतमोनिवृत्त्यर्थतां प्रतिपाद्य, इदानीन्तनानुष्ठानस्यापि तदर्थता माह— "तद्वा एतत् क्रियत इति । 'तत्' खलु 'एतत्' इदानीं यजमानेन 'क्रियते', 'यद्देवाः' पुरा 'अकुर्वन्' । यथा 'देवैः' 'अपहृतः' नाशितः तमोरूपः 'स पाप्मा', इदानीं मध्यनुष्ठानेन निवर्त्तते । "यत्स्वेतदिति । 'यत्' खलु 'एतद्' यजमानः अनुतिष्ठति, देवैर्यत् कृतम्, 'तत्' अहं मपि 'करवाणि', 'इति' अनेनाभिप्रायेण तदनुष्ठीयत इत्यर्थः । न केवलं मनुकरणमात्रं तथाविधफलसाधनं मपीत्याह— "अथो इति । उक्तं मर्थं मनूय नैर्ऋतीनां मिष्टकानां मपहन्तृत्वद्वारा नाम निर्वृत्ते— "तद्यदेताभिरिति ॥ ४ ॥

प्रयोजनान्तरं वक्तुं नैर्ऋतीनां हरणं मनुवदति— "यद्देवैता इति । 'यत्' च 'एव' यस्मादेव प्रयोजनान्तरात् 'एता नैर्ऋतोः' इष्टकाः 'हरन्ति', तदुच्यत इति शेषः । आख्यायिकया तत् प्रतिपादयति— "प्रजापतिं विस्रस्तं मिति । यदा खलु 'देवाः' 'विस्रस्तं' विस्रिष्टावयवं 'प्रजापतिं' 'समस्कुर्वन्' पुनरजनयन्, तदा 'तम्' प्रजापतिम्, उखालक्षणायां 'योनौ' उख्याग्निरूपेण 'रितोभूतम्' असिञ्चन् । "योनिर्वा उखेति । उख्याग्नेस्तत उख्यन्तेः । "तस्मां एता मिति । 'तस्मै' प्रजापतये 'संवक्षरे' उख्याग्निभरणेन 'नीते सति 'एतां प्रतिष्ठां' प्रतितिष्ठत्यनेनेति पादद्वयं प्रतिष्ठा ; भूलोकात्मकं पादद्वयं

मजनयन्नित्यर्थः । ननु संवत्सरे अतिक्रान्ते गार्हपत्य एव  
 चीयते, न भूलोकस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य तयोश्चादात्म्यं माह—  
 “अथ वै लोक इति । “तस्मिन्नेन मिति । “तस्मिन्” भूलोकात्मके  
 गार्हपत्ये ‘एनं’ प्रतिष्ठारूपं प्रजापत्यवयवं ‘प्राजयन्’ । उदपा-  
 दयन् । ‘तस्य’ प्रजायमानस्य ‘यः पाप्मा’ शरीरे लिप्तः, ‘यः श्लेष्मा’,  
 ‘यत्’ च ‘उष्वं’ गर्भवेष्टनम्, ‘यत्’ च जराय्वाख्यं गर्भस्य बाह्य-  
 वेष्टनम्, ‘तत्’ सर्वं पापरूपम् ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘एताभिः’  
 इष्टकाभिः ‘अपाप्नन्’ अपहृतवन्तः । अत्रापि पूर्ववन्नामनिर्वचनं  
 करोति— “तद्यदस्येति ॥ ५ ॥

इतिहाससिद्धं मर्थं दृष्टान्तीकृत्य दार्ष्टान्तिके योजयति—  
 “तथैवेतदिति । यथा प्रजापति मुदीरितरीत्या देवाः समस्कु-  
 र्वन्, तथैवेदानीं यजमानोऽपि प्रजापतिरूप मात्मानम् “उखाया  
 मित्वादि पूर्ववद् योज्यम् \* ॥ ६ ॥

इत्थं पापरूपस्य तमसः, गर्भसम्बन्धिश्लेष्मादिरूपस्य च  
 पाप्मनो निर्हरणहेतुत्वेन नैर्ऋतीरिष्टकाः प्रशस्य, तासां  
 लक्षणं माह— “पादमात्रं इति । विंशत्यधिकशताङ्गुलि-  
 परिमितः पुरुषः, तस्य दशमोऽंशः पादः, स प्रमाणं यासां  
 ताः ‘पादमात्रः’ । तदुक्तं कात्यायनेन— “पञ्चारब्दिर्दशवित-  
 स्त्रिंशतिशताङ्गुलः पुरुषः, तस्य दशमेन पादमात्रो भवति”  
 -इति † । तत् परिमाणं प्रशंसति— “अधस्यद् मेवेति ।  
 ‘एतत्’ एतेन नैर्ऋतीनां पादमात्रपरिमाणकरणेन ‘अधस्यद्’  
 पादस्याधस्यादेव निर्ऋतिरूपम् ‘पाप्मानं’ कृतवान् भवतीत्यर्थः ।

\* एतत्पूर्वस्या मेव कण्डिकायां ( ८४ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १६. ८. २१ ।

एतेन पादमात्र इत्यत्र \* पादशब्दोऽङ्घ्रिपर्यायः, न तु चतुर्थीश-  
 वाचक इति व्याख्यातं भवति । घर्मविशेषं विधत्ते— “अलक्षण  
 भवन्तीति । आलिखितादिकं लक्षणम्, तद्द्रष्टृता भवेयुरित्यर्थः ।  
 एतदुपपादयति— “यद् नैऋतीति । ‘यत्’ स्वभावप्रतियोगि,  
 ‘तत्’ निस्वरूपत्वाद् ‘अलक्षणं’ व्यावर्त्तकचिह्नरहितम् ; अतोऽत्रा-  
 लक्षणकरणेन ‘निर्ऋतिं’ पाप्मानम् ‘असन्तम्’ अभावप्रतियोगिन  
 मेव करोति । ननु पाके सतोष्टकान्तरलक्षणवत्त्वं मासा मर्क-  
 नीय मित्वाशङ्क्य, तासां पाकप्रकार माह— “तुषपक्वा भव-  
 न्तीति । तुषैः पक्वाः ‘तुषपक्वाः’ । पचेः कर्मणि क्तः, “पचो वः”—  
 इति † निष्ठातकारस्य बत्वम् । तत् प्रशंसति— “नैर्ऋता वा  
 इति । दर्शपूर्णमासप्रकरणे “अथ तुषान् प्रहृत्यपहतः रक्ष इति”—  
 इति ‡ रक्षःसम्बन्धस्य समाञ्जातत्वात् तुषाणां नैर्ऋतत्वम् । तासां  
 कार्थ्यं विधत्ते— “कृष्णा भवन्तीति § । ताः तिस्र इष्टकाः कृष्ण-  
 वर्णाः । तत्र कारण माह— “कृष्णं हीति । अपहृत्यव्यस्य तमसः  
 कृष्णवर्णत्वात् तदभिमानिन्या निर्ऋतिदेवतायाश्च तादृग्वर्ण-  
 त्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

तासां सुपधानार्थं दिग्विशेष मभिनयेन दर्शयति— “ताभि-  
 रेता मिति । ‘एतां’ दक्षिणाधरां दिशं ‘ताभिः’ सह  
 ‘यन्ति’ गच्छेयुः । ‘एषा’ खलु ‘नैर्ऋतीः’ निर्ऋतिदेवताधिष्ठिता  
 ‘दिक्’ । तथा सति स्वकीयदिग्श्लेषैतां ‘निर्ऋतिं’ ‘दधाति’

\* ‘पादमात्र इत्यत्र’—इति च, ज ।

† पा० सू० ८. २. ५२ ।

‡ शत० ब्रा० १. ४. २१ ( १ भा० ७६ पृ० ६ पं० ) ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. २३ ।

स्थापयति । तथापि देशविशेष माह— “स यन्नेति । ‘सः’ अर्धर्युः  
 नैर्ऋत्यां दिशि ‘यन्’ यस्मिन् स्थाने ‘स्वकृतं’ स्वयं नैव  
 सञ्जातम् ‘इरिणं’ निस्तृणम्, जषरस्थानं वा भवति \* , ‘श्वभ्र-  
 प्रदरो वा’, श्वभ्राकारेण प्रदीर्घः प्रदेशो भवेत्, ‘तत्’ तस्मिन्  
 स्थाने ‘एनाः’ नैर्ऋतीः ‘उपदध्यात्’ । तादृक्स्थानस्य निर्ऋति-  
 देवताधिष्ठितत्व माह— “यत्र वा इति । ‘यन्’ स्वस्वस्थाः  
 पृथिव्याः सम्बन्धिनि स्थाने आत्मा ‘भवदीर्यते’ भिद्यते,  
 ‘यन् वा’ जषरस्थाने ‘ओषधयो न जायन्ते’, तदेतत् स्थानद्वयं  
 निर्ऋतिवृत्तम् ; तथा च निर्ऋतिसम्बन्धे ‘स्थाने एव  
 नैर्ऋतीनां सुपधानेन निर्ऋतिं स्थापितवान् भवति । धर्म-  
 विशेषं विधत्ते— “ताः पराचौरिति † । पराञ्चनाः स्वस्थानभि-  
 सुखा यथा भवन्ति तथा ‘लोकभाजः’ स्थानभाजः ‘कृत्वा’ ‘ताः’  
 इष्टका उपदध्यात् । एतच्च पराञ्च मध्ये प्रतिपादयिष्यते ॥ ८ ॥

तत्र तिसृणां मिष्टकानां त्रयो मन्त्राः, तान् क्रमेण प्रदर्शयन्  
 व्याचष्टे— “असुन्वन्त मयजमान मित्वादिना ‡ । “यो वै न  
 सुनोतीति । ‘यः’ पुरुषः सोमाभिषवं न करोति, ‘यस्य दर्श-  
 पूर्णमासादिभिर्हविर्यज्ञैः ‘न यजते’, ‘तं’ ‘निर्ऋतिः’ पापदेवता  
 ‘ऋच्छति’ प्राप्नोति । तस्मान्निर्ऋतिं सम्बोधय “असुन्वन्त मयज-  
 मान मिच्छेति § मन्त्रपाठो युक्त इत्यर्थः ।

“स्तेनस्य चेत्या मिति । प्रच्छन्नचौरस्तेनः, प्रत्यक्षं परेषां

\* ‘इरिणं निस्तृणं सुषरस्थानम्’—इत्येव ज-पुस्तके ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १ ।

‡ वा० सं० १२. ६२, ६३, ६४ ।

§ वा० सं० १२. ६२ ।

धन मपहरति यः स तस्करः ; अनयोः परस्परविलक्षणत्वात्  
 अवियमानं मपि 'च'-शब्द मध्याहृत्य योजयति । स्नेनस्य  
 तस्करस्य च या 'इत्यां' गतिः , "सञ्ज्ञायां समजित्यादिना \*  
 "इष् गतौ"-इत्यस्माद् † भावे क्श्प् । तां गतिं हे निर्कृते !  
 त्वम् 'अन्विहि' अनुगच्छ । एतदेव विवृणोति--"अथो इति ।  
 अपि च यथा स्नेनः तस्करश्च 'प्रलायं' प्रलीय अदृश्यो भूत्वा  
 'एति' गच्छति । प्रलाय मिति णसुलन्तः ‡ । 'एवं' निर्कृते !  
 त्व मपि प्रलयन मदर्शनम् 'इहि' गच्छेति मन्त्रभागस्या-  
 भिप्रायः । "अनित्यंविद्वांस मिति । 'इत्यम्' अनेन प्रकारेणोक्त  
 मर्थं यो न वेत्ति , सोऽनित्यंविद्वांश्च अचान्यशब्देन विवक्षित  
 इत्यर्थः । हे निर्कृते ! असत्तः 'अन्यं' त्वत्स्वरूपानभिज्ञम् 'इच्छ' ।  
 स तादृशो अविद्वद्विषयैव खलु 'ते' तव 'इत्यां' गतिरिति मन्त्र  
 भागस्यार्थः । "नमस्कारेणैवेति । "नमो देवि निर्कृते"-इत्यन्तिम-  
 पादे नमस्कारप्रतिपादनात् तेनैव नमस्कारेण 'एनां' निर्कृतिम्  
 'अपहृते' अपवाधते अपसारयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

"नमः सु ते इति । द्वितीयो मन्त्रभागः । तच्च तिग्म-  
 तेज इति विशेषणस्य प्रसिद्धि माह-- "तिग्मतेजा वै इति ।  
 तिग्मं तीक्ष्णं तेजो यस्याः सा तिग्मतेजाः , हे तिग्मतेजो  
 निर्कृते ! 'ते' तुभ्यं नमोऽस्त्विति तस्यार्थः । द्वितीयपाद  
 मनुष्य व्याचष्टे-- "अयस्मयेनेति । अयसा लोहेन निर्मितो  
 बन्धोऽयस्मयः । विकारार्थे . मयद् § तादृशेन खलु बन्धेन

\* पा० ख० ३. ३. ६ ।

† अथा प० ४० धा० ।

‡ पा० ख० ३. ४. २२ इत्यादि दृष्टयम् ।

§ पा० ख० ४. ३. १४३ ।

‘निर्ऋतिस्त’ बध्नाति’ यं बन्धनीयं मन्थते । हे निर्ऋते !  
 ‘अयस्मय मेतं बन्धं विचृत’ विमुञ्चेति प्रार्थना युक्ता ।, यस्म-  
 यमोशब्दयोर्विबन्धित मर्थं माह— “अग्निर्वं यम इति । अन्तः-  
 प्रविष्टः सन् क्तरजगन्नियमनाद् ‘अग्निर्यमः’; तदधिष्ठित-  
 त्वात् ‘इयं’ पृथिव्येव ‘यमो’; इय मपि हि आश्रितं सर्वं जगन्निय-  
 ष्छति । तथा ‘आभ्यां’ यमेज्जाम्निना , यस्या पृथिव्या च ‘संवि-  
 दाना सञ्ज्ञानाना ‘त्वम्’ । इति तृतीयभागस्वार्थः । .

चतुर्थं पाद मन्थय व्याचष्टे— “उत्तमे नाक इति । कं  
 सुखम्, न कम् अकं दुःखम्, तदस्मिन् नास्तीति ‘नाकः’  
 स्वर्मास्थो लोकः । उत्तं हि—

“यत्र दुःखेन सन्धिर्न न च यस्त मनन्तरम् ।

अभिलाषोयनीतं च तत् सुखं स्वःपदाभिधम्”—इति ।

सिद्ध मन्थत् ॥ १० ॥

“यस्यास्त इति । तृतीयो मन्त्रः \* । तत्र प्रथमपादस्य  
 तात्पर्यं माह— “घोरा वा इति । ‘निर्ऋतिः’ पापदेवतात्वात्  
 पापस्य च दुःखहेतुत्वाद् ‘घोरा’ तीव्रा दुःसहा । तथा च  
 ‘तद्देवत्व मेतत् कर्म करोति’ इति यत्, ‘एतत्’ एतेन  
 ‘तस्याः’ निर्ऋतेः ‘आसन्’ आस्ये ‘जुहोति’ प्रक्षिपति । एवञ्च  
 प्रथमपादस्याय मर्थः— हे घोरे निर्ऋते ! यस्याः तव आस्ये  
 जुहोमि , तास्या मित्युपरि सम्बन्धः । .

द्वितीयपाद मन्थय एषा मिति इदंशब्दनिर्देश्य माह—  
 “यैबन्धैरिति । शिखपाशरक्तासूत्रादिभिर्यैः बन्धनैः दुःखहेतुभिः

‘बहो भवति’ यजमानः, ‘एषां बन्धानां’ निऋतिबन्ध-  
हेतुभूतानां पापानाम् ‘अवसर्जनाय’ विस्फेषणाय जुहोमीति  
संबन्धः ।

द्वितीयपाद मनूय, तत्र भूमिरिति विशेषणस्य तात्पर्यं  
माह—“यां त्वेति । हे निऋति ! ‘जनः’ लोकः ‘यान्त्वां’ ‘भूमिः’  
भवनहेतुः समृद्धिहेतुर्वा ‘इति’ ‘प्रमन्दते’ स्वीतीति तस्य पाद-  
स्यार्थः । “इयं वा इत्यादि । ‘इयं’ खलु पृथिवी निऋतिरूपा  
‘भूः’ भवनहेतुः । कुत एतदित्याह— “अस्यां वा इति । ‘यो  
भवति’ उत्पद्यते, समृध्यते वा, ‘सः’ ‘अस्यां’ पृथिव्या माधार-  
भूतायां खलु ‘भवति’ । तस्माद् भवनाधिकरणत्वाद् भूमिरिति-  
नाम्ना त्वं स्तूयस इत्यर्थः ।

जनवाद सुपन्थस्य, स्वस्य विशेषज्ञतां चतुर्थपादेनाह—  
“निऋतिं त्वेति । अत्र विश्वशब्दः सर्वशब्दपर्याय एव, न  
तु जगद्वाचीत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे— “निऋतिरिति । अयं  
मर्थः,— द्वितीयपादे भूमिशब्दादुत्तरस्त्वेन पठितः ‘इति’-शब्दो-  
ऽचानुषण्यते । ‘अहं’ पुनः ‘त्वां’ ‘निऋतिः’ सर्वतो निरर्पण-  
हेतुः आर्त्तिकारणम् \* ‘इति’ ‘परिवेद’ परितो जानामि ।  
एवं निऋतिं त्वेति द्वितीयात्मं निऋतिपद मितिशब्दा-  
नुषङ्गनेन व्याख्यायैतदुपपादयति— “इयं वा इति । यो  
निःशेषेण ऋच्छति, आर्त्तिं प्राप्नोति, ‘तं’ पुरुषम् ‘इयम्’ एव

\* “निऋतिः ऋच्छापत्तिः” स्यादलञ्जीस्तु निऋतिः (अम० को०  
१. २. १३.)—इत्थमिधानात्, भूमिर्वा निऋतिः, दिग्भिमानिनी  
ऽद्वेता वा; ‘अलङ्गां दिक्पतौ चापि निऋतिर्नैरुपद्रवः’—इति  
कोशात्—इति मञ्जीघरः ।

देवता 'निरर्पयति' निर्ऋतं प्रयुङ्क्ते । निरुपपदात् ऋच्छतेः प्रयोजकव्यापारे षिचि \* "अर्त्तिङ्गीत्यादिना † पुक्,। अतो निरर्पणादिय मेव पृथिवी निर्ऋतिरित्युच्यते । अतो भवत्याः स्वरूपं सम्यगहं जानामीत्यर्थः ।

एतज्ज्ञानस्य सदृष्टान्तं प्रयोजन माह— "तद्यथेति । 'तत्' तत्र अरण्यादौ चोरादिष्वागतेषु , असी त्व मेतन्नामासि , अमुष्य यज्ञदत्तस्य पुत्रोऽसि, अतस्त्वा महं जानामि , मां 'मा हिंसोः' मा वधिष्ठाः 'इति' आगतं प्रति यथोच्यते , एव मेव खल्वेतं "निर्ऋतिं त्वाह मित्यादिना निर्ऋतेः स्वरूपप्रतिपादनम् । नामग्रहणस्य फल माह— "नतरा मिति । 'विदितः' ज्ञातो नामगोत्रादिना , 'आमन्वितः' आहूतः , चोरादिः आम्नोयत्वेनाह्वातारं पुरुषं 'नतराम्' अतिशयेन नैव 'हिनस्ति' बाधते ; एव मेव निर्ऋतिनामग्रहणादेनं यजमानं निर्ऋतिर्न बाधत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

उपस्पर्शनसादनसूददोहसा मिष्टकान्तरवदासु प्रसक्तानां ‡ निषेधं करोति— "नोपस्पर्शतीत्यादिना § । उपहिताया इष्टकायाः प्रथम उपस्पर्शनं कर्त्तव्यम्, पश्चात् "तया देवतयेति ॥ सादनम् , ततः "ता अस्येति मन्त्रेण सूददोहसाधिवदनम् ¶ ;

\* पा० सू० १. ४. ५५ ।

† पा० सू० ७. ३. ६५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. २३ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ३ ।

॥ वा० सं० १२. ५३. १ ।

¶ वा० सं० १२. ५५ ।



तदेतत् कृत्य मत्र न कर्त्तव्यम् । पापसंसर्गो मा भूदित्य-  
भिप्रायः । सन्तनवान्नीत्यस्य विवरणं सन्दधानीति । अन्यत्रि-  
गदसिद्धम् ॥ १२ ॥

तासां सुपधाने प्रकारद्वयं माह— “ता द्वैक इत्या-  
दिना \* । ‘एके’ शास्त्रिनः ‘ताः’ नैर्ऋतीष्टकाः ‘परस्ताद्’ वि-  
प्रकृष्टादेशादारभ्य ‘अर्वाचोः’ आत्माभिमुखं सुत्तरोत्तरं मात्मा-  
भिसुखीः ‘उपदधाति’ । तेषां मभिप्रायं माह— “पाप्मा  
इति । समोपदेशादारभ्योत्तरोत्तरं विप्रकर्षेषोपधाने हि पूर्वी-  
पङ्क्तिता मिष्टका मतिक्रम्य गमनात्प्रायसंसर्गः स्यात्, तादृशपूर्णं  
‘निर्ऋतिम्’ ‘नैव अन्ववायानि’ नैव प्राप्तवानि ‘इति’ अनेना-  
भिप्रायेणेत्यर्थः ॥

द्वितीयं पञ्चं विधातुं मेतन्निषेधति— “न तथेति । तं  
पञ्चं माह— “पराचीरेवेति † । ‘पराचीः’ उत्तरोत्तरं विप्र-  
कृष्टाः, ता एवोपदध्यात् । तथा च निर्ऋतिरूपं ‘पाप्मानं’  
‘पराञ्चम्’ आत्माऽनभिसुखं विप्रकृष्टम् ‘एव’ प्रेरयित्वा ‘अपहृते’  
द्विनस्ति ॥ १३ ॥

तासां नैर्ऋतीनां सङ्घा मन्वूय, स्तौति— “तिस्र इति ‡ ।  
“द्विष्टदग्निरिति । असक्तदुक्तार्थम् ॥ १४ ॥

आसन्त्याद्रीनां तत्र प्राप्तनं विधत्ते— “अयेति § । ‘अयं’  
समिदाधानानन्तरम्, यत् उख्याग्निधारणार्था ‘आसन्दो’, यच्च

\* का० श्रौ० सू० १७. २. २ ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. २२ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ४ ।

भरुषसमये उख्यधारणार्थं 'शिश्रम्', यद्य सौवर्णस्य रुक्मस्य प्रतिमोचनार्थं 'पाशः' सूत्रम्, ये च 'इष्टु' अग्निसहि-  
ताया उखाया उभयतो धारणाय दृष्टमयी पिण्डी । 'तत्' सर्वं नैर्ऋतीनां 'पराधे' पश्चाद्भागे 'न्यस्यति' क्षिपेत् ।  
“यन्ते देवीति \* तस्य मन्त्रः । तथा च कात्यायनः— “दक्षिचा-  
मुखोऽनुपसृशन्नसुन्वन्त मिति प्रत्यृचं पराचीरभ्याम् मेके  
नित्याभावः शिष्यरुक्मपाशेष्ठासन्दीः परेणास्यति यन्त इति”—  
इति † । आसन्धादीना मुख्याग्निना तप्तत्वात् प्रासनीयत्वं  
स्यष्ट मित्यभिप्रेत्य रुक्मपाशस्य प्रासनीयत्वं सुपपादयति—  
“नैर्ऋतो वा इति । निगदसिद्धोऽर्थः ।

मन्त्रस्य पूर्वाधे “अविवृत्य मितिपदस्याभिप्राय माह—  
“अनेवंविदुषा हेति । उक्तार्थज्ञानरहितः ‘अनेवंविदान्’, तेन  
‘अविवृत्यः’ । “चृती हिंसापन्यनयोः” ‡ । चर्त्तितुं विश्लेषयितुं  
शक्नो न । अयं मर्थः,— हे यजमान ! ‘ते’ तव ‘श्रीवासु’  
‘अविवृत्यं’ विमोक्तुं मशक्नं यं ‘पाशं’ ‘निर्ऋतिः’ देवता ‘आव-  
बन्ध’ आवहवती, “तं ते विष्णामीत्युत्तरत्र सम्बन्धः । तत्र-  
त्यस्यायुःशब्दस्य विवक्षितं मर्थं माह— “अग्निर्वा आयु-  
रिति । आयुषो दाहत्वादग्निरेवायुःशब्देनोच्यते । “तस्यैतन्नध्य  
मित्यादि । ‘तस्य’ चीयमानस्यायुःशब्दाभिधेयस्याग्नेः ‘एतत्’  
‘मध्यं’ मध्यमशरीरं ‘यद्’ गार्हपत्यचयनादूर्ध्वं माहवनीयचय-  
नात् प्राचीनं कर्म ; तदत्र मन्त्रगतेन मध्यमशब्देनोच्यते

\* वा० सं० १२. ६५ ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. २३-१७. २. ४ ।

‡ तु० प० ३४ धा० ।

इत्यर्थः । फलितं माह— “तस्मादिति । ‘तस्मात्’ आयुः-  
शब्दस्य चोद्यमानाग्निपरत्वात् यूनः स्वविरस्य च यजमानस्य  
प्रयोगे “आयुषो मर्ध्यात्”—इति मन्त्रभागस्य पाठो न विर-  
ध्यते ; यदि ह्यायुःशब्देन यजमानस्य जीवनकालो विवक्षितः  
स्यात्, तदा यूनः प्रयोगे आयुषश्चादेरिति विपरिणमयितव्यम्,  
स्वविरस्य प्रयोगे आयुषोऽन्तादिति । ‘मध्यादित्येवाह’ इत्येव-  
कारिण्येद्विधपरिणामो व्यावर्त्तते । तथा च तृतीयपाद-  
स्याय मर्थः— “हे यजमान ! ‘ते’ तव श्रीवास्त्राबद्धं तं शिष्य-  
पाशं रुक्मपाशञ्च ‘विशामि’ । “स्वतिरूपसृष्टो विमोचने”—इति \*  
यास्तः । ‘आयुषः’ चोद्यमानस्याग्नेः मध्यात् गार्हपत्यचयना-  
दूर्द्धभाविनः, कर्मकलापात् न विसृञ्चामीति । चतुर्थपाद मनुद्य  
व्याचष्टे— “अथैत मिति । पितुशब्दोऽन्नवाची । ‘अथ’ पाश-  
विमोचनानन्तरम्, ‘एतं पितुम्’ अग्निचयनफलभूत मन्त्रं ‘प्रसूतः’  
निर्ऋतिदेवतयानुज्ञातः सन्, हे यजमान ! त्वम् ‘अग्नि’ अग्ना-  
नेत्यर्थः । “प्रसूत इत्येतदिति, प्रसूत इति मन्त्रपदेन प्रयोजनं  
विवक्षितं मिति भावः ॥

मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति— “त्रिष्टुब्भिरिति । “वञ्जो वै  
त्रिष्टुबिति । त्रिष्टुभ इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वाद् १, वञ्जस्य च तदायु-  
धत्वात् त्रिष्टुभस्तत्तादात्म्यम् ॥ १५ ॥

इष्टकादीन् सभूयः, अनूद्य, सङ्ग्राहारेण प्रशंसति—  
“तिस्र इति ॥ १६ ॥

उदकस्य निनयनं विधत्ते— “अथान्तरेणेति । ‘अथ’

\* निरु० १. ६. १ ।

† तै० सं० ७. १. १. ४ ।

आसन्द्यादीनां प्रासनानन्तरम्, 'अन्तरेण' स्वात्मन इष्टकानाञ्च मध्ये उदकपूर्णं चमसं 'निनयति' निषिञ्चति \* । तदेतत् प्रशंसति— "वञ्चो वा इति । नैर्ऋत्यां हि ता इष्टकाः, तासां मात्मनश्च मध्ये वञ्चसंस्तुतानां मपां निनयनेन पापरूपां 'निर्ऋतिम्' 'अन्तर्घृत्ते' व्यवदधाति, तत्संसर्गपरिहारायेत्यर्थः ॥

निषेचनानन्तरं सुपोत्यानं समन्त्रकं विधत्ते— "नमो भूत्या इति † । भूतिलक्षणा देवता 'इदं' नैर्ऋतेष्टकोपधानरूपं कर्म 'चकार' कृतवती । तस्यै 'भूत्यै' त्रियै नमोऽस्त्विति मन्त्रार्थः । तत्रोदकनिनयनपूर्वकं सुपोत्यानं कात्यायनः सूचितवान्— "उदपात्रं निषिञ्चान्तरात्मेष्टकं मुत्तिष्टन्ति नमो भूत्या इति"—इति ‡ ।

पुरावृत्तन्यायेन भूत्वर्थतां कर्मणः प्रदर्शयन् तन्नमस्कारपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे— "भूत्यै वा इति । 'भूत्यै' भवनाय ऐश्वर्याय खलु 'एतत् कर्म' देवाः प्राक् 'अकुर्वन्' कृतवन्तः । 'तस्यै' एव भूत्यै 'एतन्नमः' 'अकुर्वन्', तद्देव 'अयं' यजमानोऽपि भूत्वर्थं मेव 'एतत् कर्म कुरुते', 'तस्यै एतन्नमस्करोति' इति ॥

उपोत्यानानन्तरं शालां प्रत्यागमनं धर्मविशिष्टं विधाय स्तौति— "अप्रतीक्ष मायन्तीति § । प्रतिनिवृत्त्यै नैर्ऋतस्थानस्येक्ष्य मकृत्वा 'आयन्ति' शाला मागच्छन्ति, 'तत्' तेनाप्रतीक्षणेन

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ५ क ।

† वा० सू० १२. ६५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. ५ क, ख ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ६ क ।

निर्द्धृतिरूपं 'पाप्मानम्' 'अप्रतीक्ष मेव' प्रतीक्षणं मन्त्रत्वेव  
'जहति' त्यजन्ति । "ओ हाक् त्यागे"—इति \* धातुः ॥ १७ ॥

गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते— "प्रत्येत्येति । 'प्रत्येत्य' नैर्द्धृति-  
स्थानात् प्रतिनिवृत्त्य, गार्हपत्यम् 'अग्निं सुपतिष्ठते' । तदुक्तं  
सूत्रज्ञता— "अनपेक्ष मेव शालाहार्योपस्थानं निवेशन इति"—  
इति † । उपस्थानस्य प्रयोजनं माह— "एतद्वा इति । 'एतद्'  
एतच्छिन्ने समये खलु 'एतदयथायथम्' अयथास्य मन्याव्यं करोति  
किं पुनरेतदिति, तदाह— "यदग्नाविति । 'अग्नी' गार्हपत्य-  
वितिरूपे शालाहार्ये, 'सामिचिते' अर्द्धचिते 'एतां दिशं'  
नैर्द्धृतीम् 'एति' गच्छति । 'अर्द्धिसायै' हिंसापरिहाराय 'तस्मै'  
गार्हपत्यचितिरूपायाम्नये 'एतत्' निष्कृते एव अयथायथकरण-  
जनितापराधं शमयत्येव ॥ १८ ॥

प्रकारान्तरैणाव्युपस्थानस्य कर्त्तव्यता माह— "यद्देवेति । अयं  
वा इति । 'गार्हपत्यः' पृथिवीलोकात्मकः खलु, प्रतिष्ठात्मकश्च  
सः । 'इयम् उ वै' पृथिव्यपि खलु 'प्रतिष्ठा' आस्यदम् । 'अथैतत्'  
इदानीम् 'अपथ मिवैति' अमागेषैव प्रतिपद्यते, 'यदेतां' नैर्द्धृतीं  
'दिशम्' 'एति' गच्छति । उपस्थानस्य प्रतिष्ठितिहेतुतां प्रति-  
पादयति— "तद्यदिति । 'एतत्' एतेनोपस्थानेन 'इमां' प्रतिष्ठा-  
रूपां पृथिवी मेव 'अभिप्रत्येति' साम्यस्थेन प्रतिपद्यो भवति,  
'प्रतिष्ठायाम्' अस्मां 'प्रतिष्ठति' च, चिरं स्थितिं लभत  
इत्यर्थः ॥ १८ ॥

\* जु० प० ८ धा० ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. ६ क, ख ।

विहिते शालाहार्योपस्थाने मन्त्र मनुष्य व्याचष्टे— “निवेशन इति \* । निवेशन्ते वसूनि अस्मिन्निति ‘निवेशनः’, सङ्गच्छन्ते धनान्यस्मिन्निति ‘सङ्गमनः’ । आधाराद्ययोरभेदोपचारेणान्तेः पृथिवीलोकत्व मित्यभिप्रेत्याह— “निवेशनो ह्ययं लोक इति । विखशब्दस्य सर्वशब्दाभिधायकत्वं व्याचष्टे— “सर्वाणीति । उत्तरार्धं तु निगदव्याख्यात मित्याह— “यथैव यजुरिति ॥

मन्त्रार्थस्तु,— योऽय मग्निः ‘वसूनां’ धनानां ‘निवेशनः’ एकाग्रयः, ‘सङ्गमनः’ सङ्गत्याधारश्च, ‘विश्वा रूपा’ सर्वाणि रूपाणि आहवनीयदक्षिणाग्न्यतिप्रणीतान्नीषुश्लिष्णाप्रभृतीनि ‘शचीभिः’ कर्मभिः ‘अभिचष्टे’ अभिपश्यति । कथं पश्यतीत्यपेक्षाया माह— ‘सत्यधर्मा’ अविद्यधर्मकारी ‘सविता’ देव इव ; स यथा सर्वं मभिपश्यति, तथेत्यर्थः । यः ‘इन्द्रो न’ इन्द्र इव ‘पथीनां समरे’ परिपन्थिभिः सह सङ्ग्रामे ‘तस्थौ’ स्थितवान् । नकारोऽचोपमार्थीयः ; “उपमार्थीय उपरिष्ठादुपाचारस्तस्य येनोपमिमीते”—इति † हि यास्कः ॥ २० ॥ ३ [२. १.] ॥

इति त्रिसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* वा० सं० १२. ३३ ।

† विद० १. २. १ ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

अथ प्रायणीयं निर्व्वपति । तस्य हविष्कृतं  
 व्वाचं व्विसृजते व्वाचं व्विसृज्य स्तम्बयजुर्ह-  
 रति स्तम्बयजुर्हत्वा पूर्वेण परिग्रहेण परिगृह्य  
 लिखित्वाह हर विरिति हरति त्रिराग्नीध्रः ॥ १ ॥

प्रथेत्य प्रायणीयेन प्रचरति । प्रायणीयेन  
 प्रचुर्य सौरं युनक्त्येतद्वा ऽएनं देवाः संस्करिष्यन्तः  
 पुरस्ताद्भेन समर्द्धयंस्तथैवैन मय मेतत् संस्क-  
 रिष्यन् पुरस्ताद्भेन समर्द्धयति सौरं भवति सैर  
 हैतद्यत् सौर मिरा मेवास्मिन्नेतद्दधाति ॥ २ ॥

श्रीदुम्बरं भवति । जग्वे रस उदुम्बर जुजे-  
 वैन मेतद्भसेन समर्द्धयति मौञ्जं परिसीर्यं चिष्टत्  
 तस्योक्तो बन्धुः \* ॥ ३ ॥

सोऽग्नेर्हृन्निषाण् श्रोणिम् । जघनेन तिष्ठन्नु-  
 त्तस्मात्सस्य पुरस्ताद्युज्यमान मभिमन्वयते सौरा  
 युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथगिति ये व्वि-

\* 'बन्धुः'—इति ग, घ ।

हासस्ते कवयस्ते सीरं च युञ्जन्ति युगानि  
 च व्वितन्वते पृथग्धीरा देवेषु सुन्नयेति यज्ञो  
 वै सुन्नं धीरा देवेषु यज्ञं तन्वाना इत्ये-  
 तत् ॥ ४ ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्व मिति । यु-  
 ञ्जन्ति हि सीरं वि युगानि तन्वन्ति क्लृते योनौ  
 व्वपतेह व्वीज मिति व्वीजाय वा ऽएषा योनि-  
 ष्क्रियते यत् सीता यथा ह वा ऽश्रुयोनौ रेतः  
 सिञ्चेदेवं तद्यदुक्लष्टे व्वपति गिरा च श्रुष्टिः स-  
 भरा असन्न इति व्वाग्वै गीरन्नं श्रुष्टिर्नेदीय  
 इत्सृण्यः पक्व मेयादिति यदा वा ऽन्नं पच्यते-  
 ऽथ तदसृण्योपचरन्ति हाभ्यां युनक्ति गायत्र्या च  
 त्रिष्टुभा च तस्योक्तो बन्धुः ॥ ५ ॥

स दक्षिण मेवाग्ने युनक्ति । अथ सव्य मेवं  
 देवत्रैतरथा मानुषे षड्गवं भवति द्वादशगवं वा  
 चतुर्विंशतिगवं वा संवत्सर मेवाभिसम्प-  
 दम् ॥ ६ ॥

अथैनं व्विकृषति । अन्नं वै कृषिरेतद्वा



ऽअस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्ताद्ब्रह्म मद्बु-  
स्तुयैवस्मिन्नयु मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्ताद्ब्रह्मं  
दधाति \* ॥ ७ ॥

स वा ऽआत्मान मेव व्विकृषति । न पक्ष-  
पुच्छान्यात्मंस्तद्ब्रह्मं दधाति यद् वा ऽआत्मन्नन्नं  
धीयते तदात्मान मवति तत् पक्षपुच्छान्यथ यत्  
पक्षपुच्छेषु नैव तदात्मान मवति न पक्ष-  
पुच्छानि ॥ ८ ॥

स दक्षिणाङ्गेनाग्निः † । अन्तरेण परिश्रितः प्रा-  
चीं प्रथमां सीतां कृषति शुनं सु फाला  
व्विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु व्वा-  
हैरिति शुनं शुन मिति यद्वै समृद्धं तच्छुनं  
समृद्धयत्येवैना मेतत् ‡ ॥ ९ ॥

अथ जघनार्हेनोदीचीम् । घृतेन सीता मधुना  
समज्यता मिति यथैव यजुस्तथा बभ्रुर्व्विश्वैर्देवै-  
रनुमता मरुद्भिरिति व्विश्वे च वै देवा मरुतश्च

\* 'दधाति'—इति क ।

† 'दक्षिणाङ्गेनाग्निः'—इति ग, घ ।

‡ 'मेतत्'—इति ग, घ ।

वर्षस्येशतऽजुर्जस्वती पयसा पिन्वमानिति रसो  
 वै पय जुर्जस्वती रसेनान्नेन, पिन्वमानेतद्-  
 स्मान्त्सीति पयसाभ्यावहृत्स्वेत्यस्मान्त्सीति रसेनाभ्या-  
 वहृत्स्वेत्येतत् \* ॥ १० ॥

अथोत्तरार्द्धेन प्राचीम् । लाङ्गलं पवीरवदिति  
 लाङ्गलं रयिमदित्येतत् सुश्रेणं सोमंपितृस्वर्वि-  
 त्यन्नं वै सोमस्तदुद् वपति गा मविं प्रफुर्व्यं च  
 पौवरीं प्रस्थावद्रथवाहन मित्येतद्धि सर्व्वं सौ-  
 तोद्दपति ॥ ११ ॥

अथ पूर्व्वार्द्धेन दक्षिणाम् † । कामं कामदुघे  
 धुत्त्व मित्राय व्वरुणाय च । इन्द्रायाश्विभ्यां  
 पूषो प्रजाभ्य ओषधीभ्य इति सर्व्वदेवत्या वै  
 कृषिरेताभ्यो देवताभ्यः सर्व्वान् कामान्मुक्षेत्ये-  
 तदित्ययं कृषत्यथेति अथेत्येति तद्दक्षिणावृत्तद्धि  
 देवता ‡ ॥ १२ ॥

\* 'व्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'दक्षिणाम्'—इति ग, घ ।

‡ 'देवता'—इति ग, घ ।

चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्यच्चतसृषु  
दिल्लम्नं • तदस्मिन्नेतद्दधाति तद्वै यजुषाद्वा वै तद्य-  
द्यजुरुद्धी तद्यदिमा दिशः \* ॥ १३ ॥

अथात्मानं व्विकृषति । तद्यदेव संवत्सरेऽन्नं  
तदस्मिन्नेतद्दधाति तूष्णीं मनिरुक्तं वै तद्यत् तूष्णीं  
सुर्वं वा ऽअनिरुक्तं सुर्वेणैवास्मिन्नेतद्दन्नं दधा-  
तौत्यथे कृषत्यथेति अथेत्यथेति तद्दक्षिणावृत्तद्वि  
देवत्वा ॥ १४ ॥

तिस्रस्त्रिस्रः सीताः कृषति । त्रिहृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवास्मिन्नेतद्दन्नं द-  
धाति ॥ १५ ॥

द्वादश सीतास्तूष्णीं कृषति । द्वादश मासाः  
संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मावा  
तावतैवास्मिन्नेतद्दन्नं दधाति ॥ १६ ॥

ता उभय्यः षोडश सम्पद्यन्ते । षोडशकलः  
प्रजापतिः • प्रजापतिरग्निरात्मसम्मित मेवास्मिन्ने-  
तद्दन्नं दधाति यदु • वां ऽआत्मसम्मित मन्नं तद-

\* 'दिशः'—इति ग, घ ।

वति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत् कुनीयो  
न तद्वति ॥ १७ ॥

यद्देवैनं व्विकृषति । एतद्वा ऽअस्मिन् देवाः  
संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् प्राणानदधुस्तथैवास्मिन्नय  
मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात् प्राणान् दधाति लेखा  
भवन्ति लेखासु हीमे प्राणाः \* ॥ १८ ॥

चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्य ऽइमे  
शीर्षंश्चत्वरो निरुक्ताः प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति  
तद्दे यजुषाद्वा वै तद्यद्यजुरद्भो तद्यदिमे शीर्षं  
प्राणाः † ॥ १९ ॥

यद्देवात्मानं व्विकृषति । यऽएवेमेऽन्तरात्मन्  
प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति तूष्णीं को हि तद् वेद  
यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः ‡ ॥ २० ॥

अथैनान् विमुञ्चति । आप्त्वा तं कामं यस्मै  
कामाथैनान्युङ्क्ते व्विमुच्यध्व मग्ना इत्यग्ना हैते  
देवत्रा देवयाना इति द्वैवंपुं स्त्रीभिः कर्म करो-  
त्यगन्म तमसस्यार मस्येत्यशनाद्वा वै तमोऽगन्मास्या

ऽअशनायायै पार मित्येतज्जोतिरापामेति ज्योति-  
 ह्यांप्रोति यो देवान्यो यज्ञ मथैनानुदीचः प्राचः  
 प्रसृजति तस्योक्तो बभ्रुस्तानध्वर्यवे ददाति स  
 हि तैः करोति तांस्तु दक्षिणानां कालेऽनु-  
 दिशेत् ॥ २१ ॥ ४ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२, २.] ॥

अथ शालाहार्योपस्थान मभिधाय प्रायणीयेष्टिं विधत्ते—“अथ  
 प्रायणीय मिति । शालाहार्योपस्थानानन्तर्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः ।  
 ‘प्रायणीयम्’ प्राकृतं ज्योतिष्टोमिकम् अदित्यै चरुं निर्वपति \* ।  
 अग्रे सौरयोजनं विधातुं प्रायणीयेष्टेः काञ्चित् पदार्थाननुवदति—  
 “तस्य हविष्कृतेत्यादिना । ‘तस्य’ प्रायणीयस्य ‘हविष्कृता’  
 हविष्कृच्छब्देन सह हविष्कृदाह्वानकाले वाग्विसर्गं कुर्यात् ।  
 हविरावापानन्तरं वा हविष्कृदाह्वानकाले वा वाग्विसर्गो विक-  
 ल्पितः, तत्र नियमार्थोऽयं मनुवादः । ‘स्तम्बयज्ञः’-इति  
 पुरीषहरणकर्मणो नामधेयम् † । यद्वा, स्तम्बस्य यजुषा “पृथिवि  
 देवयजनीत्यादिना पुरीषं लक्ष्यते, तत् पुरीषं हरति । तदनु  
 ‘पूर्वेण परियद्देण’ वेदिं ‘परिगृह्य’, ततो ‘लिखित्वा’ स्मेरान  
 प्राचीस्तिस्त्रो लेखाः कृत्वा आग्नीध्रं प्रत्यध्वर्युः ‘आह’ ब्रूते । कि

\* रे० ब्रा० १ प्र० २ अ० १ ख० द्रष्टव्यम् । आ० अ० अ० ६०

४. २. १८; ३. १. १ का० अ० ६० ७. ५. १३ ।

† १ का० २ प्र० २ ब्रा० १८-२१ क० इत्येवमादौ द्रष्टव्यम् ।

मत्पेक्षाया माह—“हर त्रिरिति । हे आग्नीध्र ! त्वं कृता  
लेखाः त्रिवारं हरति प्रैषार्थः । प्रेषितेनाग्नीध्रेण कर्त्तव्यं माह—  
“हरति त्रिरिति ॥ १ ॥

विहितस्य प्रायणीयहविषः प्रचारं विधत्ते— “प्रत्ये-  
त्येति \* । ‘प्रत्येत्ये’ महावेदेः प्रत्यागत्य ‘प्रायणीयेन’ हविषा  
प्रचरेत् । प्रत्येत्येतिवचनादेव पूर्वं मुक्तं स्वस्वयजुर्हरणादिकं  
महावेद्या मेव कर्त्तव्यम्, न तु प्रायणीयवेद्या मिति प्रती-  
यते । प्रायणीयान्ते श्रुन्ते प्राक्सीमनिषपनात् सीरयोजनं  
विधत्ते— “प्रायणीयेन प्रचर्य सीरं युनक्तोति † । ‘प्रायणीयेन’  
प्रायणीयशेषेण प्रचारं कृत्वा, ‘सीरं’ हलं ‘युनक्ति’ युञ्ज्यात् ।  
विहिते सीरयोजने प्रजापतिः सीरलक्षणेनान्नेन समर्द्धनहारो  
देवकर्त्तृकं संस्कारं प्रतिपादयति— “एतद्वा एन मिति । ‘एतत्’  
एतद्देव एतस्मिन्नवसरे खलु ‘एनं’ पितरं प्रजापतिं विश्वस्ता-  
वयवं चयनेन संस्करिष्यन्तो ‘देवाः’ पुरस्तात् ततः प्रागेव सीर-  
लक्षणेनान्नेन समृद्धं मकुर्वन् । एव मेव अयं यजमानोऽपि  
‘एनं’ प्रजापतिं चित्वाग्निरूपेण संस्करिष्यन् ततः प्रागेवं  
सीरलक्षणेनान्नेन समर्द्धयति । नामनिर्वचनेन तस्यान्नरूपता  
माविष्करोति— “सीरं भवतीत्यादिना । इरया अन्नेन सह  
वर्त्तत इति सेरम्, एतदेव पारोक्ष्येण सीर मित्युच्यते । अतः  
कर्षणसाधनत्वेन सीरस्य विधानात् । ‘इराम्’ अन्नम् एव  
‘अस्मिन्’ संस्क्रियमाणे चित्वाग्निरूपे प्रजापतौ ‘एतत्’ एतद्देव  
‘दधाति’ स्थापयति ॥ २ ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ७ ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. ८ क ।

सीरोपादानभूतं वृक्षविशेषं विधाय स्तौति— “श्रीदुम्बरं  
भवतीति \* । उदुम्बरस्य विकारं श्रीदुम्बरः । “जर्ज्वं रस  
उदुम्बरं इति । ‘जर्ज्वं’ बलकर मन्त्रम्, तदात्मको रस  
एव उदुम्बरवृक्षात्मना परिणतः । अत एव श्रूयते— “देवा  
वा जर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति † । “जर्ज्वैव  
मित्यादि । जर्जूषेण रसेनेत्यर्थः । सीरयोजनाथानां रज्जुनां  
प्रकृतिद्रव्यं विधत्ते— “मौञ्ज मिति ‡ । ‘परिसीर्यं’ परितः  
सीरस्य योजनायोपयुज्यमानं दाम ‘मौञ्जम्’ सुञ्जलणैर्निर्मितं  
‘त्रिष्टुत्’ त्रिगुणञ्च कर्तव्यम् । “तस्योक्तो बभ्रुरिति । ‘तस्य’  
मौञ्जस्य च त्रिष्टुत्स्य च स्तावकं “सैषा योनिरग्नेर्यन्मुञ्जः”—  
इत्यादिकम् §, “त्रिष्टुदग््निर्यावानग्निः”—इत्यादि ॥ च वाक्यं  
प्रागान्नातम्, अत्रानुसन्धेय मित्यर्थः ॥ ३ ॥

युज्यमानस्य सीरस्य स्थानविशेषविशिष्ट मभिमन्त्रणं विधत्ते—  
“सोऽग्नेरिति ¶ । चेथ्यमाणस्याग्नेर्यावान् भृभागः शीत्त्वेन मानेन  
चतुरश्रीकृतः, तस्य ‘दक्षिणां श्रोणिं जघनेन’ दक्षिणापरकोणस्य  
पश्चात् \*\* ‘तिष्ठन्’, ‘उत्तरांसस्य’ अग्निक्षेत्रसम्बन्धिन उत्तरपूर्वको-  
णस्य ‘पुरस्तात्’ ‘युज्यमानं’ सीरं युगबलीवर्हादिभिः सह रज्ज्वा

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ८ ख ।

† पुरस्तत् ३ का० १ प्र० ५ ब्रा० ३३ क० सा० भा० (ते० सं०) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. ६ ।

§ अत० ब्रा० ६ का० ३ व्य० १ ब्रा० २६ क० ।

॥ अत० ब्रा० ६ का० ३ व्य० १ ब्रा० २५ क० ।

¶ का० श्रौ० सू० १७. २. ११. १ ।

\*\* ‘दक्षिणापरिक तस्य पश्चात्’—इति क ।

बध्यमानं “सीरा युञ्जन्ति”—इतिमन्त्रद्वयेन \* ‘अभिमन्त्रयते’ ।  
अभिमन्त्रणं नाम मन्त्रेण स्मर्यमाणस्यार्थस्वेक्षणपूर्वकं मनुसन्धानम् । उक्तं हि—

“मन्त्र सुञ्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत् ।

सेक्षणं तस्मिन्ना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम् ॥

एतदेवाभिमन्त्रणलक्षणञ्चेक्षणावधि”—इति ।

अत्र च सीरयोजनस्य तदभिमन्त्रणस्य च भिन्नदेशकर्त्तव्यतया †  
योगपद्याय कर्त्तृभेदोऽवसीयते । तत्राभिमन्त्रणस्य संस्कार्यतया  
प्रधानत्वात् सीरयोजन मध्युः कुर्यात्, तत्संस्कारात्मक  
मभिमन्त्रणन्तु द्वितीयः ‡ प्रतिप्रस्थाता कुर्यात् । उक्तं हि  
सूत्रभाष्यकृता कर्कोपाध्यायेन— “प्रतिप्रस्थाताभिमन्त्रयते  
सीरा युञ्जन्तीत्यनेन मन्त्रेण, योजने तु प्रधानत्वादध्यु-  
रिति § ॥

तत्र “सीरा युञ्जन्तीति गायत्री प्रथमो मन्त्रः॥, तस्याः पूर्वार्धं  
मनूद्य व्याचष्टे— “सीरा युञ्जन्तीति । “ये विद्वांसस्तु कवयः  
इति । मन्त्रगतेन कविशब्देन सीरयोजनप्रकारं सम्पक् जानाना-  
स्तदभिज्ञा विवक्षिता इत्यर्थः । “सीरञ्चेति । “सुपां सुलुगिति ण  
मन्त्रे सीरशब्दात् परस्य अतः आकारः । “युगानि चेति । “श्रेष्ठ-

\* वा० सं० १२. ६७, ६८ ।

† ‘भिन्नदेशकर्त्तव्यतया’—इति ॥

‡ ‘तद्द्वितीयः’—इति ज ।

§ का० श्रौ० १७. २. ११ सू० ४० ।

॥ वा० सं० १२. ६७ ।

¶ पा० सू० ७. १. ३६ ।



रुद्वि बह्वल मिति \* युगशब्दात् परस्य शिर्षन्ते लोप इत्यर्थः ।  
 उन्नराश्च, मनूय व्याचष्टे— “धीरा देवेभ्यः । सुन्नशब्दात् परस्य  
 द्वितीयेकवचनस्य याजादेशः † । सुखहेतुत्वात् यन्नः खलु सुन्न-  
 शब्दाभिधेयः ‡ । “वितन्वत इति । प्रकृतस्य कर्मणोऽनुपपन्न  
 माह— “तन्वाना इत्येतदिति ॥

तदयं मन्वार्थः, — ‘कवयः’ तदभिघ्नाः स्त्रीरं च  
 ‘युञ्जन्ति’ कर्मणो योग्यं बध्नन्ति षट्त्वादशादिसङ्ख्याना मन-  
 जुह्वां योजनाय ‘पृथक्’ भेदेन ‘युगानि च’ ‘वितन्वते’ विस्तार-  
 यन्ति । किं कुर्वन्तः ? ‘दिवेषु’ ‘सुन्नम्’ अग्निचयनलक्षणं यन्नं  
 ‘तन्वानाः’ विस्तारयन्त इति । अत एव ‘धीराः’ तदुपायभूतया  
 धिया युक्ताः ‘इति’ ॥ ४ ॥

“युनक्तेति त्रिष्टुप् । तद्वितीयोऽभिमन्त्रणमन्त्रः § । पुरा  
 परोक्षवदुक्तोऽत एवास्य मन्त्रस्य पादेन प्रत्यक्षवदुच्यते । हे  
 यजमानपुरुषाः ! ‘सीरा’ पूर्ववदाकारः ॥ , सीरं ‘युनक्त’ बध्नीत ।  
 युजेः ण लोटि मन्त्रमपुरुषे बहुवचनस्य “तप्तनप्तनथनाश्च”—इति \*\*  
 तदादेशः । अत एव असोऽक्तोपाभावः । ‘युगा’ पूर्ववच्छे-  
 क्षीपः ††, ‘युगानि’ च ‘वितन्नुह्वं’ विस्तारयतेति । प्रत्यक्षवदुक्तार्थं

\* पा० सू० ६. १. ७० ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ ‘सुन्नशब्दाभिधेयः’—इति ज ।

§ वा० सं० १२. ६८ ।

॥ एतत्पूर्वखां कण्ठां (१०७ पृ० १८ प०) द्रष्टव्यम् ।

¶ रुधा० उभ० ६ धा० ।

\*\* पा० सू० ७. १. ४५ ।

†† पूर्वखां कण्ठां (१ पं०) द्रष्टव्यम् ।

श्रुतिः स्वयं परोक्षवद् व्याचष्टे— “युञ्जन्ति हीति । सीरं युञ्जन्ति , युगानि च वितन्वते , कवय इति शेषः । , ,

द्वितीयपाद मनुद्य व्याचष्टे— “बीजाय वा इति । बीजवपनाय सीतारूपा योनिर्विधीयते । विपक्षे दोष सुप्तावयति— “यथा ह वा इति । ‘अकष्टे’ अलिखिते ‘यत्’ यदि ‘वपति’, तर्हि ‘अयोनी’ गर्भाशयादन्यत्र यथा रेतःसेकस्तथा व्यर्थो भवेदित्यर्थः ।

तृतीयपाद मनुद्य तत्त्वयोर्गीःश्रुतिशब्दयोः क्रमेण वागन्तार्यता माह— “वाग्वै गीरन् श्रुतिरिति ।

चतुर्थपाद मनुद्य तत्तात्पर्यं माह— “यदा वा इति । ‘यदा’ खलु समये ‘अन्नं’ ब्रीहियवादि स्वयं पक्वं भवति । ‘अथ’ तदानीं ‘स्रष्टा’ दात्रेण ‘उपचरन्ति’ लुनन्तीत्यर्थः ॥

मन्वार्थस्तु,— हे यजमानपुरुषाः ! ‘सीरा’ सीरं हलं ‘युनक्त’ योजयत , ‘युगा’ युगानि ‘वितनुहु’ विशेषेण योक्तप्रभृतिभिर्विस्तारयत । ‘इह’ क्षेत्रे ‘योनी’ स्थाने ‘कते’ संस्कृते सति ‘बीजं’ ब्रीह्यादि ‘वपत’ निक्षिपतेत्यर्थः । केन साधनेनेत्यपेक्षाया माह— “गिरा चेति । ‘गिरा’ वाचा “या ओषधीरित्यादिवक्ष्यमात्मन्वरूपया \* च-शब्दात्समसेनापि , वपतेति सम्बन्धः । ‘श्रुतिः’ ब्रीह्यादिकाङ्गजातिः , ‘सभराः’ फलकृतेन भरसा भरणेन सह वर्तत इति सभराः , अमितफलेति यावत् । तादृशी , ‘न’ अस्माकं यथा ‘असत्’ भवेत् । इच्छद्दोऽनर्थकः † । ‘स्रष्टाः’ अङ्गुशाकारस्य लवणसाधनस्य दात्रस्य ‘नेदीयः’ अन्तिकतमं ‘पक्वं’ ब्रीह्याद्यन्नं यथा ‘आ इयात्’

\* वा० सं० १२. ७५ ।. का० औः सू० १७. ३. ८ । इहोपरि  
छातु २ ख० ४ ब्रा० ६ क० द्रष्टव्यम् । † निह० १. ३. ५ ।

अगच्छेत्, तथा वपतेति सम्बन्धः । “दृणिरङ्गुशो भवति, सर्णात्”-इति \* हि यास्तः ॥

तच्च युज्यमानाभिमन्त्रणं द्वाभ्यां गायत्रीत्रिष्टुब्भ्यां कुर्यादित्याह— “द्वाभ्या मिति । तस्य द्विसङ्ख्यायोगस्वार्थवादे “द्वाभ्यां प्रवृणक्ति द्विपाद्यजमान इत्यादिना षष्ठकाण्डे † प्रागाज्जात इत्याह— “तस्योक्त इति ॥ ५ ॥

विहिते सौरयोजने दक्षिणसव्ययोर्धूर्ययोः पौर्वापर्यं विधत्ते— “स दक्षिण मेवाग्र इति ‡ । ‘सः’ अर्धयुः दक्षिण मेव धुर्यं प्रथमं युञ्जात्, तदनु ‘सव्यं’ वामं धुर्यं मित्यर्थः । ‘एवम्’ उक्तकरणम् ‘देवना’ देवेषु कृतं स्यात् ; मनुष्यव्यवहारे तु ‘इतरथा’ सव्यः पूर्वो दक्षिणः पश्चादिति भेदः ॥

सौरयोजने अनडुहं वैकल्पिकं सङ्ख्यात्रितयं विधत्ते— “षड्गव मित्यादिना । षड् गावः समाहृताः षड्गवम् । “तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च”-इति § समाहारे तत्पुरुषैकदेशो द्विगुः । ततो “गौरतद्वितलुकि”-इति ॥ समासान्तः । तथा ‘इ-दशगवम्’, ‘चतुर्विंशतिगव’ चेति पक्षौ । तत्रापि पक्षद्वये तथैव समासः, समासान्तश्च । “षट्, द्वादश, चतुर्विंशतिं वा पूर्वेषोत्तरांसम्”-इति ¶ हि सूत्रम् । सङ्ख्यात्रितयेऽप्युपपत्ति माह—“संव-

\* निरु० ५. ४. १० ।

† इ.का० ४ प्र० ४ ब्रा० ७ क० ।

‡ का० औ० सू० १७. २. १३ ।

§ पा० सू० २. १. ५१ ।

॥ पा० सू० ५. ४. ६२ ।

¶ का० औ० सू० १७. २. १० ।

क्षर मेवेति । सम्पद्यत इति सम्पत् । षडृतु-द्वादशमास-चतुर्विंश-  
त्यर्द्धमाससम्पत्यात्मको यस्तं तादृशं संवत्सर मभिलक्ष्य त्रयो-  
ऽप्येते पक्षा उपपन्ना इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ चित्वाग्निक्षेत्रमध्ये विकर्षणं विधत्ते— “अथैन मिति \* ।  
‘एनम्’ आत्मानम् । तदेव कर्षणं मन्नात्मना स्तौति— “अन्नं  
वा इति । ‘अन्नं’ खलु ‘कृषिः’ ; तद्वेतुत्वात् । कृष्टे एव हि  
सम्यगन्नं पच्यते । कर्षणं मेव तद्देवकर्तृकान्नाधानतया स्तौति—  
“एतद्वा इति । ‘पुरस्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘देवाः’ संस्कारं  
करिष्यन्तः ‘अस्मिन्’ आत्मनि ‘एतत्’ एतेन कर्षणेव ‘अन्नम्’ एव  
स्थापितवन्तः , तथैवायं यजमानोऽपीति ॥ ७ ॥

अथ पक्षपुच्छानि विहायात्मन्येव कर्षणं विधत्ते— “स वा आ-  
त्मान मिति † । “आत्मंस्तदिति । ‘तत्’ तेन विकर्षणेन ‘आत्मन्’  
आत्मनि ‘अन्नम्’ एव स्थापितवान् भवति । अथात्मन्यन्नाधानं  
स्तौति— “यदु वा इति । ‘आत्मन्’ आत्मनि यदेव ‘अन्नं’ ‘धीयते’  
स्थाप्यते , ‘तत्’ एवान्नं पक्षपुच्छसहितम् ‘आत्मानं’ रक्षति ।  
पक्षपुच्छेष्वन्नाधानं त्वकिञ्चित्कार मित्याह— “अथ यदि-  
त्यादिना ॥ ८ ॥

अथ परिश्रितां समीपे आत्मनो दक्षिणभागेऽन्तरतः प्रागायतां  
सीतां विधत्ते— “स दक्षिणाङ्गेनेति ‡ । ‘परिश्रितोऽन्तरेण’ तत्-  
संलग्नं मेव चित्वाग्नेः आत्मनो ‘दक्षिणाङ्गेन’ दक्षिणपार्श्वे  
प्रागपवर्गा ‘प्रथमां’ ‘सीतां’ लाङ्गलपद्धतिं कृषेत् । “अन्तरान्तरेण

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १२ क ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १२ ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. १३ ।

शुक्ते”-इति \* परिशिच्छन्दे द्वितीया । तत्र पूर्वार्द्धोपादानेन मन्त्रं विधाय तत्रत्यशुनशब्दस्य समृद्ध्यर्थवाचकतया प्रथमसोतायाः समर्द्धेन माह— “शुनं सुफाला इत्यादिना † ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः, — शुन मिति सुखनाम ‡ । तच्च क्रिया- विशेषणम् । सुशोभनाः फाला लाङ्गलाग्रस्थिताः कुशीमेदाः § ‘शुनं सुखं यथा स्यात् तथा ‘भूमिं’ विक्रषन्तु’ विलिखन्तु । ‘फाला’-इति “जि फला विशरणे”-इति धातुः॥ फालयन्ति भूमिं विदारयन्ति ते फालाः । ‘कीनाशाः’ कर्षकाः ‘वाहैः’ अनडुग्निः सहिताः ‘शुनं सुखम् ‘अभियन्तु’ अभिगच्छन्तु । “कीनाशसु कदर्ये स्याद्राक्षसे कर्षुके यमे”-इत्यनेकार्थतिलकः ¶ । ‘शुनासीरा’ द्विवचनस्य “सुपां सुलुगिति डादेशः \*\*, वायादित्यावित्यर्थः । तौ ‘हविषा’ उदकेन ‘तोशमाना’ भूमिं निघ्नन्तौ । तोशतिर्वध- कर्मा ††† । ‘अस्मे’ अस्मभ्यम् ‘ओषधीः’ व्रीत्यादिकान्यन्नानि ‘सुपिप्लंदाः’ शोभनफलोपेताः ‘कर्त्तन’ कुरुतम् । “शुनो वायुः, शु यन्त्यन्तरिक्षे ; सीर आदित्यः, सरणात्”-इति ‡‡ हि यास्कः ।

\* पा० सू० २. ३. ४ ।

† वा० सं० १२. ६६-७२ ।

‡ निघ० ३. ६. ११

§ ‘लोहविशेषाः’-इति मञ्जीधरः ।

॥ भा० प० ५१६ धा० ।

¶ “कीनाशः कर्षकं सुत्रे छतान्तोपांशुधातिनोः”-इति कोशः--इति मञ्जीधरः ।

\*\* पा० सू० ७. १. ३६ ।

†† निघ० २. १६. २६ । तोशते नैरुक्तो धातुः ।

‡‡ निरु० ६. ४. ६ ।

हविःशब्दः उदकनामसु “कम्, अक्षं, हविः”-इति पठितः \* ।  
 “कर्त्तनेति, “तप्तनप्तनयनाश्च”-इति † तनप् । द्वित्वे ऋडुवचनं  
 छान्दसम् ॥ ८ ॥

ततो दक्षिणश्रोणेरारभ्योटगपवर्गां पश्चिमपार्श्वं द्वितीयां सीतां  
 विधत्ते— “अथ जघनार्धेनेति ‡ । तत्र मन्त्रं विधत्ते— “हृते-  
 नेति § । तत्र तु प्रथमपादे निगदव्याख्यात इत्याह— “यथैव यजु-  
 रिति । द्वितीयपादेऽनुमतेतिशब्दस्य विश्वदेवानां मरुताश्च वृष्टेरौ-  
 शित्वं प्रयोजक मिति व्याचष्टे— “विश्वे च वै देवा इति । ‘वर्षस्व’  
 वृष्टेः ‘ईशते’ प्रयोजका भवन्ति । “अधोगच्छंति कर्मणि षष्ठी ॥ ।  
 तृतीयपादे पयःशब्दस्य रसोऽर्धं इति व्याचष्टे— “रसो वै पय  
 इति । तत्रैव ‘पिन्वमाना’-‘इति’ पद मध्याह्नत्यान्नपदेनान्वेतीति  
 व्याचष्टे— “अन्नेन पिन्वमानेत्येतदिति । चतुर्थेऽपि पयःशब्दो  
 रसवचन एव ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः, — सीता पश्चिमत उदोचो क्रियमाणा  
 लाङ्गलपद्धतिः ‘मधुना हृतेन’ मधुरेणोदकेन ‘समज्यतां’ संसि-  
 च्यताम् । “हृत मित्युदकनाम, जिघत्संः सिञ्चतिकर्मणः”-इति ¶  
 हि यास्वः । ‘विश्वे देवैः’ वृष्टेरोशानेः ‘मरुद्भिश्च’ गणदेवैः ‘अनुमता’  
 अभ्यनुज्ञाता, तथा ‘पयसा’ ‘रक्षेनं जर्जस्वती’ बलकररसोपेता,

\* निघ० १. १२. ६५ ।

† पा० छ० ७. १. ४५ ।

‡ का० अ० छ० १७. २. १४ ।

§ वा० खं० १२. ७० ।

॥ पा० छ० २. ३. ५२ ।

¶ निघ० ७. ७. १ ।

तथा 'पिब्यमाना' खेचनं कुर्वती, अन्नेनेति शेषः । तथा  
श्रुतिरेव व्याचष्टे— "अन्नेन पिब्यमानेत्येतदिति । एवं सुते हे  
सीति ! त्वम् 'अस्मान्' 'अभ्यावृत्स्व' अतिशयेनाभिसुख मावृत्ता  
भवेत्यर्थः ॥ १० ॥

अथोत्तरपाश्वे प्रागपवर्गां तृतीयां सीतां विधत्ते— "अथो-  
त्तरार्हेनेति \* । "प्रकृत्या साधुः"—इतिवत् तृतीया सप्तम्यर्थे † ।  
तत्र मन्त्रं विधत्ते— "लाङ्गल मिति ‡ । तत्र प्रथमपादे भूमेः  
खननेन श्रीरूपान्ननिष्पादनद्वारा फालस्य साधनत्वात् लक्षण्या  
पवीरवद्भयिमदिति व्याचष्टे— "लाङ्गलं रयिमदिति । द्वितीये  
पादे 'सोमपिब्यस्व'-इतिपदेकदेशभूतस्य सोमशब्दस्यात्र मर्थ  
इत्याह— "अन्नं वै सोम इति । उत्तरार्धपरिष्ठितस्य पदार्थ-  
जातस्य सीतैवोद्भयित्रीत्याह— "एतद्धि सर्वं सीतोद्भवतीति ।  
'उद्भवति' उद्भवयतीत्यर्थः ॥

मन्त्रार्थसु,— 'लाङ्गलं हलं' 'पवीरवत्' पविः धारा, सा  
अस्यास्तीति पवीरं फालः । रो मत्वर्थे, दीर्घन्तु छान्दसम् ;  
तत् पवीर मस्य लाङ्गलस्यास्तीति पवीरवत्, फालसंयुक्त  
मित्यर्थः । शिव मिति सुखनाम § । सुष्टु शोभनं शिवयति  
सुखम्, तत् 'सुशिवम्' । सोमं पिबतीति 'सोमपाः' यजमानः,  
तस्मिन् 'सोमपि' यजमाने 'स्वरति' पापादिकं नाशयतीति  
'सोमपिब्यस्वः' । यद्वा, सोम मन्त्रं पाति रक्षति स सोमपाः,

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १५ ।

† पा० २. ३. १८ सू० १ वा० ।

‡ वा० सं० १२. ७१ ।

§ निघ० ३. ६. १७ ।

तस्मिन् वर्तमानम् अशनाया दुःखं क्षरति नाशयतीति  
 तथा ; अतएवमित मेतद् व्याख्यानम् । सोमपीत्यत्र समम्भा  
 अतुक् छान्दसः \* । यदित्यभूतं लाङ्गलम् , 'तत्' कर्त्तुं गवादि-  
 रथवाहनान्तम् 'उहपति' उहमयति । 'गां' गोजातिम् । 'अबि'  
 भेजजातिम् । 'प्रफर्थं' प्रथमयुवतिं तरुणी मित्थर्थः । पर्वतिर्गति-  
 कर्मा । प्रकर्षेण फर्था गम्या , ताम् ; छान्दसो ऋत्विः । क्रीड-  
 शो ताम् ? 'पीवरी' उन्नतस्तनकपोलाम् , 'प्रस्था' प्रस्थानम्  
 तद्वत् उद्वृष्टजवोपेतम् , 'रथवाहनम्' अश्वम् , रथं वहतीति  
 या तम् ॥ ११ ॥

अथ पूर्वपार्श्वे दक्षिणापवर्गा चतुर्थी सीतां विधत्ते—  
 "अथ पूर्वार्धेनेति † । तत्र मन्त्रः— "कामं कामदुवे इति ‡ ।  
 मन्त्रस्याय मर्थः,— हे 'कामदुवे' कामानां प्रपूरणे ! हे सीते !  
 'मित्राय वरुणाय च' तथा 'इन्द्राय', 'अश्विभ्यां' युग्मदेवाभ्यां  
 'पूष्ये प्रजाभ्य ओषधीभ्यश्च' 'कामं' काम्यमानं फलं 'धुक्च'  
 प्रपूरय । 'इति'-शब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतकः । ऋषेः सर्व-  
 देवतासम्बन्धद्वारा मन्त्रोक्तदेवताभ्यः कामप्रपूरणं ७ माशास्य  
 मिति मन्त्रतात्पर्यं माह— "सर्वदेवत्या वै ऋषिरिति । इत्थं  
 दक्षिणादिचतसृषु दिक्षु प्रादक्षिण्येन कृतं कर्षणं मभिनयेन

\* 'हलदन्तात् समस्याः ( पा० सू० ६. ३. ६. )'—इति विभक्ते-  
 रजुक् ; 'आतो धातोः ( पा० सू० ६. ३. १४० )'—इति आ-लोपे हलन्त-  
 त्वात् । यथा , 'सोमः पीयतेऽनेनेति सोमपिचमसः , तस्य त्वस्य  
 निष्पादकम् ; न हि लाङ्गलकर्मं विना सोमचमसाः स्युः"—इति  
 महीधरः ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. १६ ।

‡ वा० सं० १२. ७५ ।



निर्दिश्य स्तौति— “इत्यथ इति । ‘अथे’ प्रथमम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “स दक्षिणाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन \* दक्षिणतः प्राचीं सीतां कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथ जघनाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन † पश्चिमतः उदोचीं कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथोत्तराह्नेनेत्युक्तलक्षणेन ‡ उत्तरतः प्राचीं कषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अनेन प्रकारेण “अथ पूर्वाह्नेनेत्युक्तलक्षणेन § पूर्वस्यां दिश्युद्गदक्षिणायतां सीतां कषति । ‘तत्’ एवं सति ‘दक्षिणाहत्’ प्रादक्षिण्येनाहत्तिर्भवति । ‘तत्’ खलु ‘देवता’ देवसम्बन्धिनि कर्मणि योग्यम् । तदुक्तमापस्तम्बेन — “यज्ञोपवीतो प्रदक्षिणं देवानि कर्माणि करोति” -इति ॥ १२ ॥

उक्तं कर्षणं समन्वक मनूय स्तौति— “चतस्र इति । “स दक्षिणाह्नेनेत्यादिना चतस्रषु दिक्षु क्रमेण प्रोक्ताः चतस्रः सीताः “शुनं सुफाला विक्रषन्तु भूमि मित्यादिना ¶ ‘यजुषा’ यजुर्वेदपठितमन्त्रेणत्यर्थः । “चतस्रषु दिक्ष्वित्यादि । प्रागादिषु दिक्षु ‘यत्’ प्रसिद्धं क्लृप्तपथं ब्राह्मियवादिकम् ‘अन्नम्’ अस्ति, ‘तत्’ ‘अस्मिन्’ अग्नी यजमाने वा ‘एतत् एतेन कर्षणेन ‘दधाति’ स्थापयति ॥

\* इहेव श्रुता नवमी कङ्को द्रष्टया (१०० पृ० ६ पं०) ।

† इहेव श्रुता दशमी कङ्को द्रष्टया (१०० पृ० १४ पं०) ।

‡ इहेव श्रुता एकादशी कङ्को द्रष्टया (१०१ पृ० ५ पं०) ।

§ इहेव श्रुतेर्यद्वादशी कङ्को द्रष्टया (१०१ पृ० १० पं०) ।

॥ व्याप० का० श्रौ० सू० २४. १. १५ ।

¶ वा० सं १२. ६६-७२ ।

यजुर्मन्त्रेण कर्षणं प्रकारान्तरेण स्तौति— “तद्वा इति ।  
‘तत्’ खलु कर्षणं ‘यजुषा’ क्लियते, यजुरिति यदस्ति, ‘तत्  
अद्वा वै’ अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वात् प्रत्यक्षतो विस्पष्टम्, ‘इमाः’  
प्रागाद्याः ‘दिशः’ च प्रत्यक्षत्वाद् विस्पष्टतराः ; अतो यजुषो  
दिशाञ्चाद्वात्वसाम्याद् दिक्षु यजुषा कर्षणं युक्ततर मिति  
भावः ॥ १३ ॥

अमन्त्रकं द्वादशसङ्ख्याकानां सीतानां कर्षणं विधाय  
स्तौति— “अथाग्नि मित्यादिना । “यदेव संवत्सर इति ।  
सीतानां संवत्सरसम्बन्धिनां मासानां ( च \* ) द्वादशसङ्ख्यासाम्यात्  
कतञ्चे संवत्सरे यदेव व्रीहियवादिक मन्त्रं पच्यते, ‘तत्’  
सर्वम् ‘अग्निन्’ अग्नौ ‘एतत्’ एतेन द्वादशसीताकर्षणेन दधाति  
स्थापयतीत्यर्थः ॥

अमन्त्रकत्व मनूय स्तौति— “तूष्णी मिति । ‘तूष्णीम्’  
अमन्त्रं कृषेत् । तूष्णी मिति यदस्ति, तत् ‘अनिरुक्तं वै’ मन्त्र-  
वाक्येन कस्यचिदर्थस्य निष्कृथानभिधानात् । अत एव तद-  
निरुक्तं सर्वात्मकम्, अतः ‘सर्वेष्वैव’ साधनेन ‘अस्मिन्’ अग्नौ  
‘अन्नं’ स्थापितं भवतीत्यर्थः ॥

पूर्ववदन्नाप्यभिनयेन कर्षणप्रकारं निर्दिश्य स्तौति— “इत्यथ  
इति । ‘इति’ अनेन प्रकारेण ‘अग्रे’ प्रथम मात्मनो दक्षिणार्ध  
मारभ्य उत्तरार्धपर्यन्तं ‘कृषति’ कर्षणं कुर्यात् । ‘अथ’ अनन्तरम्,  
‘इति’ अनेन प्रकारेण दक्षिणीं श्रोणिं मारभ्य उत्तरांशपर्यन्तं  
मक्ष्याया विकृषेत् । ‘अथ अनन्तरम्’, ‘इति’ अनेन प्रकारेण

पञ्चाङ्गाग मारभ्य पूर्वाह्नपर्यन्तं विक्रवेत् । एतदन्तरम्, 'इति'  
 अग्नेन प्रकारेणोत्तरां ओषि मारभ्य दक्षिणांसपर्यन्तं विक्र-  
 वेत् इमं मेवार्थं मभिप्रेत्य सूत्रितम्—“तूष्णीं तिस्रस्त्रिः  
 प्रदक्षिणं तिर्यगनूक्नेऽक्षया ओष्णंसयोरनूक्ने ओष्णंसयोः”—इति \* ।  
 'तद्' तथा उक्तप्रकारेण कर्षणे सति प्रदक्षिणावर्तनं सिध्यति ।  
 तच्च 'देवत्रा' देवेषु योग्यम् । “देवमनुष्येत्यादिना सप्तम्यर्थे  
 चा-प्रत्ययः † ॥ १४ ॥

विहितानां ममस्त्रकाणां अतश्चणां सीतानां प्रत्येकं त्रिवं  
 विधाय स्तौति— “तिस्रस्त्रिइति । “त्रिष्टदग्निरित्यादि ।  
 स्तोत्रियनवकात्मको हि त्रिष्टस्तोमः ‡, अग्नेरपि रुद्रादि-  
 नामाष्टकाभिधेयेरष्टाभिरग्निरूपैः स्वात्मना च नवसङ्घोपेतत्वात्  
 त्रिष्टस्त्वम् । तथाहि— “त मत्रवोद्गुद्गोऽसोत्वारभ्य ताव्येतान्यष्टा-  
 वग्निरूपाणि कुमारो नवमः, सैवान्नेस्त्रिष्टत्तेति षष्ठे समा-  
 स्नातम् § । एत्र च 'यावान्' यत्परिमाणविशिष्टोऽग्निः, 'अस्य  
 अग्नेः' यावतो यत्परिमाणविशिष्टा 'मात्रा' अवयवः, 'तावता'  
 तादृक्परिमाणविशिष्टेन कर्षणेन चाग्निरूपेण अग्निन्' चीय-  
 मानेऽग्नौ यजमाने वा 'एतत्' एतेन त्रिसङ्घायुक्तेन कर्ष-  
 णेन 'अन्नं' धारयति । एवं सर्वत्र त्रिष्टदग्निरिति वाक्यशेषो  
 व्याख्येयः ॥ १५ ॥ १६ ॥

अमन्त्रकसीतासङ्घां सम्भूय प्रशंसति— “ता उभय इति ।

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १५-१६ ।

† पा० सू० ५. ४. ५६ ।

‡ सा० वे० ता० ब्रा० ३. १, २, ३ ।

§ § का० १ अ० ३ ब्रा० ११-१८ क० ५. ६ भा० ४१-४२ पृ० ।

‘उभयः’ उभयविधाः, समन्वकामन्वकमिदेन द्विविधाः सम्भूय षोडशसङ्ख्याका भवन्ति । ‘षोडशकलः’ षोडशावयवसमुदायो हि स्थूलशरीराभिमानो विराडात्मकः प्रजापतिरभिधीयते । तथाहि ;— तस्य ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, तथा कर्मेन्द्रियाणि, मन एकम्, पञ्चभिर्भूतैर्वा प्राणैर्वा सह षोडशकलाः । गत मन्यत् । “आत्मसम्मित मिति । आत्मना शरीरेण समानं मितम्, न तु न्यूनमधिकं वेत्त्यर्थः । आत्मसम्मितां तस्य दृष्टिहेतुता माह— “यदु वा इति । ‘यत् खलु आत्मसम्मित मन्त्रम्’, ‘तद् भोक्तृन् ‘भवति’ रक्षति । अत एतदन्नं सात्त्वं सत् न हिनस्ति’ न बाधते । अधिकन्यूनयोर्दृष्टैपरीत्यं क्रमेणाह— “यद्भूय इति । ‘भूयः’ बहुलतर मात्मनोऽधिकम्, ‘कनोयः’ अल्पतर मात्मनोऽपर्याप्तमित्यर्थः ॥ १७ ॥

विकर्षणं प्रकारान्तरेण स्तोतु मनुवदति— “यद्देन मिति । पुरा खलु पितरं प्रजापतिं ‘संस्करिष्यन्ती देवाः’ ‘पुरस्तात्’ अथनलक्षणात् संस्कारात् पूर्वम् ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतत्’ एतेन विकर्षणेन ‘अदधुः’ अधारयन् । ‘तथैव’ ‘अयं’ यजमानोऽपि ‘संस्करिष्यन्’ ‘अस्मिन्’ चैथमाणेऽग्निलक्षणे प्रजापतौ पूर्वं ‘प्राणान्’ स्थापयति । कथं मितदित्यत आह— “लेखा भवन्तीति । ‘हि’ यस्मात् लोके चक्षुरादिगोत्रजात्मिकासु ‘लेखासु’ रेखासु ‘इमे प्राणाः’ चक्षुरादीन्द्रियाणि वर्तन्ते ; अतस्तेषां मनः स्थापयमानानां संप्रणयार्थं कर्षणेन रेखाकरणं युक्तमिति भावः ॥ १८ ॥

समन्वकं कर्षणं मनुयः सङ्ख्याद्वारा स्तौति— “चतस्र इति । ‘शीर्षन्’ शीर्षि शिरसि ‘ये इमे चत्वारो निरस्ताः’

चक्षुः श्रोत्रं नासिकां मुखं मिति निःशेषीणोक्ताः प्रकाश-  
मानाः 'प्राणाः', 'तान्' 'अग्निन्' अग्नी एतेन सयजुष्केण सीता-  
चतुष्टयेन स्थापितवान् भवति । एतदेव विदुषोति— "तद्दे  
यजुरेति । "अद्देत्यादि । प्रागुक्तार्थः \* ॥ १८ ॥

अमन्त्रकं कर्षणं मनूय स्तूति — "यद्देवात्मानं मिति ।  
'अन्तरात्मानं' आत्मानि देहे अन्तर्मध्ये 'य एवेमे' 'प्राणाः'  
प्राणवृत्तयः प्राणापानादिलक्षणाः, मनोबुद्ध्यादिरूपा अन्तः-  
करणवृत्तयश्च, 'तान्' 'अग्निन्' अग्नी 'एतत्' एतेनामन्त्रकार्षणेन  
'दधाति' स्थापयति । एतदेव विदुषोति— "तूष्णीं मिति ।  
'यावन्तः' यत्परिमाणविशिष्टाः 'इमे' अन्तरात्मान्व्यवस्थिताः  
'प्राणाः' इति, 'की नाम तद्देद' ? तेषां मानव्यात् ; किन्तु  
न कश्चिदपि वेत्तुं शक्नोति । तस्मादनिरुक्तानां तेषां सङ्ग्रहणाय  
तूष्णीं मात्मानो द्वादशसीताकर्षणं युक्तं मित्यर्थः ॥ २० ॥

कर्षणानन्तरं मनडुह्यां विमोचनं विधत्ते— "अथैना-  
निति † । "अग्नेरत्यादि । 'यस्मै' खलु प्रयोजनाय 'एनान्'  
पूर्वं युक्तवान्, 'तं' कामं कर्षणलक्षणं प्रयोजनम् 'आग्ना' लब्ध्वा  
तेषां विमोचनं युक्तं मिति शेषः ॥

विमोचने मन्त्रं विधाय व्यचष्टे— "विमुच्यध्वं मिति ‡ ।  
"अन्नया"—इति गोनाम § । 'एते' खल्वनडुह्यो 'देवता' देवेषु  
'अन्नयाः' अहन्तव्याः, देवसम्बन्धिनो गाव इत्यर्थः । "देवत्-

\* त्रयोदशकण्ठीयाख्यानं प्रष्टव्यम् ११७ पृ० ३ प्र० )

† का० श्रौ० सू० १७. २. २१ ।

‡ वा सं० १२. ७३ ।

§ निघ० २. ११. १ ।

भोभिरिति । 'एभिः' अनडुङ्गिः 'दैव' देवसम्बन्धि कर्षणसम्बन्धं  
'कर्म करोति' । तस्माद्देवान् याति प्राप्नोत्येभिरिति व्युत्पत्त्या  
'देवयानाः'—इत्यनडुङ्गिशेषणं युक्त मिति भावः ॥

द्वितीयं पाद मनुष्य तत्रत्यतमःशब्दस्य विवक्षित मर्थं  
माह— “अगन्नेति । अशनस्येच्छा 'अशनाया' क्षुत्पीडा ।  
स्रष्ट मन्यत् । “ज्योतिर्हीत्यादि । यो हि हविःप्रदाह-  
त्वेन यज्ञं , तत्रत्यान् देवांश्च प्राप्नोति , एष हि 'ज्योतिः'  
ज्योतिर्मयं स्वर्गादिभोगयोग्यं शरीरम् 'प्राप्नोति' । अत एव  
सैत्तिरोये समाह्वयते— “सुकृतां वा एतरानि ज्योतींषि यन्न-  
क्षत्राणि”—इति \* । अतोऽत्र मन्त्रे “ज्योतिरापाम”—इति ज्योति-  
राप्तिप्रतिपादनं युक्ततर मित्यर्थः ॥

उत्तरपूर्वस्यां दिशि तेषा मनडुहां प्रस्थापनं विधत्ते—  
“अथैनानुदीच इति † । 'अथ' विमोचनानन्तर मेव अनडुहः  
'उदीचः' उदङ्मुखान् 'प्राचः' प्राङ्मुखान् कृत्वा 'प्रसृजति'  
प्रस्थापयति । प्रागुदङ्गास्य स्तावकं प्रागान्नातं वाक्शेष  
मतिदिशति— “तस्योक्त इति । “एषा होभयेषां देवमनु-  
ष्याणां दिग्यदुदीची-प्राचीत्यादि ‡ ॥

तेषां दक्षिणाकाले दानं विधत्ते— “तानध्वयव इति । अत  
एव सूत्रितम्— “दक्षिणाकालेऽध्वयवे ददाति”—इति § । अन्या-  
वृत्विजो विहायाध्वर्योरिव सम्प्रदानत्वे कारणं माह— “स

\* ते० सं० ५. ४. १. ७ ।

† का० श्रौ० सू० ( १७. २. २२ क ) १६. ३. १५ द्रष्टव्यम् ।

‡ पुरस्तात् † का० ४ प्र० ४ भा० ३ का० द्रष्टव्या ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. २२ ख ।

धीति । 'हि' वल्गात् 'सः' अर्धर्युः 'तैः' अनडुद्भिः कर्षणं  
 'करोति', तस्मादध्वर्यवे दानं युक्तमिति भावः \* । तस्मिन्  
 दाने कालविशेषं विधत्ते — "तांस्त्विति । ऋत्विक्परिक्रयहेतवो  
 दातव्या गावो दक्षिणाः, तासां यः कालो माध्यन्दिनसव-  
 नात्कालः, तस्मिन्, 'तान्' अनडुद्भिः 'अनुदिशेत्' दद्यादिति  
 यावत् ॥ २१ ॥ ४ [ २.२. ] ॥

इति शोसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
 सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः ॥

\* का० शौ० सू० १७. १. २० । दीर्घप्रयुक्तिसु प्रतिप्रस्थाप्राप्त्य  
 ऋत्विजः पुनवाः सवन्ति, निर्यक्प्रयुक्तीन्ध्वर्युरेवेति तत्तुक्प्रययः ॥

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,  
अपि वा  
द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

अथ दर्भस्तम्ब मुपदधाति । एतद् वै देवा  
ओषधीरुपादधत तथैवैतद् यजमान ओषधीरुप-  
धत्ते ॥ १ ॥

यद्देव दर्भस्तम्ब मुपदधाति । जायत ऽएष  
एतद्यच्चौयते स एष सर्व्वस्मा ऽअन्नाय जायत  
ऽउभयमेतदुन्नं यद्दर्भा आपञ्च क्षेता ओषधयश्च  
या वै वृत्राङ्गीभस्माना आपो धन्व वृभन्त्य उदा-  
यन्ते दर्भा अभवन्त्यद् वृभन्त्य उदायन्तस्माद्दर्भास्ता  
क्षेताः शुष्वा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता \*  
यद्दर्भा यदु दर्भास्तेनौषधय उभयेनैवैन मेतदुन्नं न  
प्रौणाति ॥ २ ॥

\* "आपोऽवृत्राभिप्रक्षरिता"—इति स्वात्यायण्य सन्मतः पाठः ७



सीतासमरे \* । व्वाग्वै सीतासमरः प्राणा  
 वै सीतास्तासा मयुः समयो व्वाचि वै प्राणेभ्यो-  
 ऽन्नं धीयते मध्यतो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं  
 दधाति तूष्णीं मुनिरुक्तं वै तद्यत्तूष्णीं सर्वं वा  
 ऽभिनिरुक्तं सर्व्वेणैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ ३ ॥

अथैन मभिजुहोति । जायत ऽएष एतद्यच्ची-  
 यते स एष सर्व्वस्मा ऽभन्नाय जायते सर्व्वस्यो  
 ऽष्टस्यैष रसो यदाज्य मपां च ह्येष ओषधीनां च  
 रसो ऽस्यैवैन मेतत् सर्व्वस्य रसेन प्रीणाति या-  
 वानु वै रसस्तावानात्मानेनैवैन मेतत् सर्व्वेण प्री-  
 णाति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः  
 संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
 तावतैवैन मेतदन्नेन प्रीणाति † ॥ ४ ॥

यदेवैन मभिजुहोति । एतद्वै यत्रैतं प्राणा  
 ऋषयो ऽग्ने ऽग्निं समस्कुर्व्वन्तदस्मिन्नेतं पुरस्ताद्  
 भागं मकुर्व्वन्त तस्मात् पुरस्ताद् भागास्तद्यदभि

\* 'सितासमरे'—इति म, घ ।

† 'प्रीणाति'—इति क ।

जुहोति यऽएवास्मिंस्ते प्राणा ऋषयः पुरस्ताद्  
भागं मकुर्वन्त तान्नेवैतत् प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ५ ॥

यद्देवेन मभिजुहोति । एतद्देवान्येतस्मिन्नग्नौ  
रूपाण्यपधास्यन् भवति यान्स्तोमान्यानि पृष्ठानि  
यानि कृन्दासि तेभ्य एतं पुरस्ताद् भागं  
करोति तान्नेवैतत् प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ६ ॥

यद्देवेन मभिजुहोति । एतद्देवा अवि-  
भयुर्दीर्घं वा ऽब्रुदं कर्म यद्देव न द्रम मिह रुचा-  
सि नाष्टा न हन्यरिति तऽएता मेतस्य कर्मणः  
पुरस्तात् सऽस्था मपश्यस्त मन्त्रैव सर्वं सऽस्थाप-  
यन्नवाचिन्वन्स्तथैवैन मय मेतदन्त्रैव सर्वं सऽ-  
स्थापयत्यत्र चिनोति \* ॥ ७ ॥

सजूरुद् इति चितिः । अयवोभिरिति पुरी-  
षः सजूरुषा इति चित्तिरग्नौभिरिति पुरीषः  
सजोषसावश्विन्नेति चितिर्होसोभिरिति पुरीषः

सजूः सुर इति चित्तिरेतश्चिनेति पुरीषः सजू-  
 व्यंखानर इति चित्तिरिडयेति पुरीषं घृतेनेति  
 चितिः स्त्रेति पुरीषः हेति चितिः ॥ ८ ॥

त्रयोदशैता व्याहृतयो भवन्ति । त्रयोदश  
 मासाः संवत्सरस्त्रयोदशान्नेश्चित्तिपुरीषाणि यावा-  
 ननिर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त मेवैन मेतच्चिनोत्याज्येन  
 जुहोत्यग्निरेष यदाज्य मग्नि मेवैतच्चिनोति पञ्च-  
 गृहीतेन पञ्चचित्तिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः  
 संवत्सरोऽग्निर्यावाननिर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त  
 मेवैन मेतच्चिनोत्यूर्द्धां मुद्गृह्णन् जुहोत्यूर्द्धं तदग्निं  
 चितिभिश्चिनोति ॥ ९ ॥ १ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२, ३.] ॥

अथ कुशस्तम्बोपधानं विधत्ते— “अथ दर्भस्तम्ब मिति ।  
 एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते , दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः ,  
 तम् आत्ममध्ये तूष्णीम् ‘उपदधाति’ स्थापयेदित्यर्थः । तदु-  
 पधानं देवकर्तृकौषध्युपधानद्वारा स्तौति— “एतद्वा इति ।  
 ‘उपादधत’ उपहितवन्तः । “तथैवेतदिति, प्रकृते योजनम् ॥ १ ॥

तदेव प्रकारान्तरेणापि स्तौति—“यद्देवेति । ‘स एषः’ आह-  
 वनीयोऽग्निः ‘चोयते’ चयनेन सम्पाद्यते , ‘एषः’ ‘जायते’ उत्पद्यते

एव । 'स एषः' जायमानोऽग्निः 'सर्वस्मै' कृत्स्नाय 'अत्राय' तैदुपभोक्तुं जायते । दर्भोणां नामनिर्वचनद्वारा उभयविधा-  
 क्षत्व माह— "उभयस्येतदिति । उभयं किं मित्यत आह—  
 "यद्दर्भो इति । उभयविधत्व मेव विवृणोति— "या वै वृत्रादिति ।  
 "वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्त्वा शिश्ये"—इत्युपक्रम्य , "तस्माद् हेका  
 आपो वीभक्षाच्चक्षिरे"—इत्यादिना प्रथमकाण्डे अपां दर्भभाव-  
 प्रत्ययादिति \* । 'याः' आपः वृत्रासुराद् 'वीभक्षमानाः' जुगुप्स-  
 मानाः जुगुप्साश्रयत्वादि कुर्वाणा इत्यर्थः । 'धन्व' अन्तरिक्षं  
 'दृभन्त्यः' गुम्फनं कुर्वन्त्यः आपः 'उदायन्' उद्गतवत्यः । "धन्वान्त-  
 रिक्षम् ; धन्वन्त्यस्मादापः"—इति † हि यास्कः । दृभन्त्य इति ,  
 तौदादिकात् "दृभो गुम्फने"—इति ‡ धातोः शतरि "ऋन्नेभ्यो  
 ङीप्" § । 'ते दर्भो अभवन्' आप एव दर्भत्वं प्राप्ता इत्यर्थः । ते इति  
 पुल्लिङ्गं दर्भोपेक्षम् । दर्भनाम निर्वक्ति— "यद्दर्भन्त्य इति । 'यत्'  
 यस्माद् दृभन्त्यो गुम्फनं कुर्वन्त्य आप उद्गतवत्यः ; 'तस्माद्'  
 दर्भोणादापो 'दर्भाः' दर्भशब्दव्याच्या इत्यर्थः । दर्भभूतास्ता अपः  
 प्रशंसति— "ता हैता इति । ये दर्भाः 'ताः' एता आपः  
 'शुद्धाः' शुद्धिसाधनभूताः , तथा 'मिथ्याः' मिथार्हाः । तदेव विस्म-  
 ष्यति— "आपोऽवृत्राभिप्रक्षरिता इति । न वृत्रात् 'अभिप्रक्ष-  
 रिताः' अभिप्रसुताः 'उ' पुनः 'यत्' यस्माद् 'दर्भाः', 'तेन' कारकेन  
 'षोषधयः' । दर्भोणा मोषधित्व मन्यन्नाप्यान्नायते— "षोष-

\* १ का० १. प्र० ३ ब्रा० ४ , ५ क० ( १ भा० ६० पृ० ) ।

† निरु० ५. १. ६ ।

‡ तु० प० ४३ धा० ।

§ पा० ख० ४. १. ५ ।

वयो वर्द्धिरिति । उभयविधत्वं नृपयोगप्रतिपादनेनोपसंहरति—  
“उभयेनैवेन मिति । ‘एनं’ चित्वाग्निन् ‘एतत्’ एतेनोभयविधेन  
अन्नेन ‘प्रीषाति’ ॥ २ ॥

तदुपधानं क्षेत्रे विधाय स्तौति— “सीतासमर इति ।  
कृष्टाः सीताः ‘समृच्छन्ते’ सङ्गच्छन्ते यत्रासी ‘सीतासमरः’  
क्षेत्रमध्यप्रदेशः, तत्रोपदध्यादिति शेषः । आधियन्त्रिकस्य  
सीतासमरस्याध्यात्मं सुखरूपता माह— “वाग्वा इति ।  
वागाग्रतनत्वाद् ‘वाक्’ सुखं खलु ‘सीतासमरः’ । कथं मित्य-  
पेक्षायां तदुपपादयति— “प्राणा वा इति । ‘प्राणाः’ खलु  
‘सीताः’ नाद्यः तत्सञ्चारित्वात् । ‘तासां’ नाडीरूपाणां सीतानाम्  
‘अयं’ सुखलक्षणः ‘समयः’ सङ्गमः, सम्यगयन्ते सङ्गच्छन्ते  
यत्र सोऽयं समयः; सुखे हि सर्वाः प्राणा नाद्यः सङ्ग-  
च्छन्ते । ततः किं मित्याकाङ्क्षाया माह— “वाचि वा इति ।  
‘वाचि वै’ सुखे एव ‘प्राणेश्वरः’ अर्थे ‘अन्नं’ धीयते स्थाप्यते;  
सुखेनैव हि जग्धेऽन्ने प्राणाना माध्यायनस्य सङ्गावात् । सीता-  
समरेऽपि मध्यदेशे उपदध्यादित्याह— “मध्यत इति । सम-  
म्यर्थे तसिलयम् । ‘अस्मिन्’ चित्वाग्नौ मध्ये एव ‘एतत्’ एतेन अन्नं  
स्थापितवान् भवति । उपधाने मन्त्राभावं विधत्ते— “तूष्णी  
मिति । तदेवोपपादयति । “अनिरुक्तं वा इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ३ ॥

अभिहोमं विधत्ते— “अथैन मभीति । ‘एनं’ दर्भस्तम्बम् ।  
“जायत एष इत्यादि । पूर्ववद्-व्याख्येयम् \* । अभिहोमि आन्धं  
द्रव्यं विधातुं स्तौति— “सर्वस्यो ऽप्रस्यैष इति । ‘यत्’ आन्धं सर्पिः

\* \* एतत्पूर्वकः ऋषीभाष्ये ( १२७ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

‘दिवः’ ‘अस्य’ ‘सर्वस्य’ विश्वस्य ‘रसः’ । रसत्व नीवोपपादयति—  
 “अपां च हीति । अपा मोषधीनाश्च गुभिः पानम्द भक्षणाश्च  
 ह्याज्य बुत्पद्यते । रसत्वोपपादनस्य प्रयोजन माह— “अस्यैवैन  
 मिति । ‘एनं’ चित्वाग्निं ‘प्रोषाति’ तर्पयति । सर्वरसत्वकथने  
 कारण माह— “यावानु वा इति । ‘रसः’ ‘यावान्’ यत्परिमाण-  
 विशिष्टः, ‘आत्मा’ देहोऽपि ‘तावान्’ तत्परिमाणविशिष्ट एव ;  
 देहस्य रसोपजोवनत्वात् । “अनेनेति । ‘सर्वेण’ रस्नेनेत्यर्थः ।

आज्यस्य पञ्चगृहीतत्वं विधत्ते— “पञ्चगृहीतेनेति \* । पञ्च-  
 गृहीतत्वं स्तूति— “पञ्चचितिकोऽग्निरित्यादिना । ‘पञ्चर्त्तवः’  
 पञ्चर्त्तवः ‘संवत्सरः’; हेमन्तशिशिरयो समासेन † । “संवत्सरो-  
 ऽग्निः इत्यादि गतार्थम् ‡ ॥ ४ ॥

प्रकारान्तरेणाभिहोमं स्तूति— “यद्देवेन मिति । ‘एतद्दे’  
 कारणं खलु ‘यत्र’ यदा ‘प्राणाः’ एव ‘ऋषयः’ ‘भुधे’ प्रपञ्च-  
 दृष्टेः पुरा ‘एनम्’ अग्निं चित्वाख्यं संस्कृतवन्तः, ‘तत्’ तदा  
 ‘अस्मिन्’ अग्नी ‘एतम्’ अभिहोमलक्षणं ‘पुरस्ताद्’ भागम् चय-  
 नात् प्रागेव भजनीयं मंशम् ‘अकुर्वत’ सम्पादितवन्तः, ‘तस्मात्’ ते  
 ऋषयः ‘पुरस्ताद्भागः’ पुरस्तादादौ भागो भजनीयोऽंशो येषां ते  
 पुरस्ताद्भागः, प्रथमपूज्या इत्यर्थः । “तद्यदिति । ‘तत्’ तत्र  
 यत्कारणात् ‘अभिजुहोति’, इदानीन्तनो यजमान इति शेषः ।  
 ‘त्रि’ पुरस्ताद् भागकर्त्तारः प्राणरूपा ऋषयः, ‘ज्ञानेव’ ‘एतत्’

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २ ।

† ऐ० ब्रा० १. १. १ द्रष्टव्यम् ।

‡ १भा० ३६८०, इह च पुरस्तात् १०२८० १६ क० ।

एतेनाभिहोमेन तर्पयतीति तत्कारणं मित्यर्थः । “आज्येनेत्यादि । त्याख्यातम् \* ॥ ५ ॥

प्रकारान्तरेण त मेवाभिहोमं स्तौति— “यद्देवेति । ‘एतस्मिन् अग्नी’ चित्वात्मके ‘यानि रूपाणि’ गार्हपत्यचित्पक्षिणापलक्षणाणि, तथा ‘यान् स्तोमान्’ स्तोत्रियसमूहान् चिह्नत्पञ्चदशादीन्, ‘यानि पृष्ठानि’ बृहद्रथन्तरादीनि, ‘यानि च हृन्दांसि’ गायत्र्यादीनि, ‘उपधास्यन्’ एतेषां सुपधानं करिष्यन् ‘भवति’, ‘तेभ्यः’ रूपादिभ्य ‘एतम्’ अभिहोमलक्षणं ‘पुरस्ताद्भागं’ सम्पादयति । ‘तान्येव’ रूपादीनि ‘एतत्’ एतेन तर्पयति । “आज्येनेत्यादि । पूर्ववत् † ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणाप्यभिहोमं मेव स्तौति— “यद्देवेति । ‘एतत्’ एतेन हेतुना ‘देवाः’ ‘अभिभयुः’ भीतवन्तः । भयस्वरूपं मेव विशदयति— “दीर्घं वा इत्यादिना । ‘इदं’ चयनलक्षणं ‘कर्म’, ‘दीर्घं’ विस्तृतं खलु । असु पुनर्द्राघीयः, तावता को भयहेतुरित्यत आह— “यद्दे न इति । ‘नः’ अस्माकम् ‘इह’ दीर्घं कर्मणि ‘इमम्’ अग्निं ‘नाद्वा रक्षांसि’ ‘न हन्युः’ हिंस्युरिति । अयं सम्भावने लिङ् ‡, ‘इति’-शब्दो देवाभिप्रायसमाप्ती । भीतिनिवृत्तिप्रकारं दृष्टवन्त इत्याह— “त एता मिति । ‘ते’ देवा ‘एतस्य’ दीर्घस्य चयनाख्यकर्मणः ‘पुरस्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘एवैताम्’ अभिहोमलक्षणं ‘संस्थां’ समाप्तिम् ‘अपश्यन्’ ददृशुः । दृष्ट्वा चातुष्ठितवन्त इत्याह— “त मत्रैवेति । ‘अत्रैव’ चयनात्

\* , † इहैव पुरस्तात् ४ क० १२६ पृ० ८ प० दृष्टवन्तम् ।

‡ ६ पा० ख० ३. ३. १६१ ।

प्रागवसरे एव 'तं' चित्यात्मक मन्त्रिं सर्वं निरवशेषं 'सम-  
ख्यापयन्' समापितवन्तः, अत्रादावित्यर्थः । 'अचिन्वन्' चित-  
वन्त इति भाविनि भूतवदुपचारः । 'उक्तं मर्थं प्रकृते योज-  
यति— "तथैवेन मिति ॥ ७ ॥

अभिहोमे मन्त्रं विधाय व्याहृतिरूपेण त्रयोदशधा विभज्य  
चितिपुरीषात्मना स्तौति— "सजूरश्च इति चितिरित्यादिना \* ।  
मन्त्रार्थस्तु,— 'अश्चः' संवत्सरः 'अयवोभिः' मासैरर्धमासैश्च  
'सजूः' समानजोषणः । यवा अयवाश्चार्धमासा मासाश्चोच्यन्ते ;  
अर्धमासा एव वा , "पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवाः"—इति  
श्रुतेः † । 'उषाः' रात्रेरपरः कालः । 'अरुणीभिः' अरुणवर्णाभि-  
र्गोभिः 'सजूः' समानजोषणः । "अरुणो गाव उषसः"—इति  
निघण्टुः ‡ । 'अश्विना' नासत्थी देवौ 'द' सोभिः कर्मभिः  
सजोषसौ समानजोषणौ । 'सूरः' सूर्यः 'एतशेन' हरितवर्णेना-  
श्वेन 'सजूः' । 'वैश्वानरः' विश्वनरनेता अग्निः 'इडया' अग्नाय्या  
घृतेन 'आज्येन' हविषा च 'सजूः' 'स्वाहा' इदं माज्यं सुहुत  
मस्तु ॥ ८ ॥

त्रयोदशधा विभक्ता मन्त्रावयका व्याहृतिरूपाः स्युरित्याह—  
"त्रयोदशैता इति । व्याहृतिर्यन्त एति 'व्याहृतयः' । 'एताः' इति  
स्त्रीलिङ्गत्वं व्याहृतिशब्दापेक्षम् । व्याहृतिगतां त्रयोदशसङ्ख्यां  
प्रशंसति— "त्रयोदश मासा इति । संसर्ष्याहस्यतिसञ्जको-

\* वा सं० ११. ७४ ।

† शत० ब्रा० ८ का० २ प्र० ५ ब्रा० ११ क० ।

‡ १ अ० १५ ख० ७ पु० ।



ऽधिमासस्त्रयोदशः \* ; “अस्ति त्रयोदशो मासः”—इतिश्रुतेः † ।  
 “त्रयोदशान्नेरिति । त्रित्वस्याग्नेश्चितयः पुरीषाणि च मिलित्वा  
 त्रयोदश सम्पद्यन्ते । तर्थाहि—आदितश्चतस्रश्चितयः, पुरीषनिवप-  
 नास्ताः, स्तोमभागान्ता पञ्चमी चितिः, तदनन्तरभावि पुरीष  
 मेकम्, नाकसत्यभृतिपुरीषनिवपनान्ता षष्ठो चितिरिति हे, ततो  
 विकर्णस्त्रयमादृश्ययोरुपधानं हिरण्यशकलैः प्रोक्षणं सन्ध्या-  
 भ्याधानं चेति सप्तमो चितिः । सा त्रयोदशीत्यादिर्विभाग ऊह्यः ।  
 “यावानग्निरित्यादि । असकृद् गतम् ॥

आज्यस्य होमसाधनत्व मनुद्य प्रशंसति— “आज्येनेत्या-  
 दिना । आज्यस्याग्नित्वम् “तेजो वै छतम्”—इतिश्रुतेः ‡ । “पञ्च-  
 गृहीतेनेत्यादि । व्याख्यातचरम् । तत्राभिहोमि सूच उद्गृहीतत्वं  
 विधाय प्रशंसति— “ऊर्ध्वं मिति । ‘उद्गृह्णन्’ सूचं सूर्ध्वं ऊर्वन्  
 शुद्धोतीत्यर्थः । ‘तत्’ तेन सूच ऊर्ध्वकरणेन ‘अग्निं’ प्रहृतं  
 ‘चितिभिः’ ऊर्ध्वं चितवान् भवति । “पञ्चगृहीतेनोद्गृह्णन्मि-  
 शुद्धोति सजूरब्द इति”—इति सूत्रम् § ॥ ८ ॥ [२. ३.] ॥

इति ओसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* अथ मागे ३६ प्र० ६ पं० द्रष्टव्या ।

† शत० ब्रा० ४. २. ५. ५ ।

‡ ये० ब्रा० ८. ४. ६ । तै० सं० २. ५. २. ७ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. २ । वर० सं० १२. ७४ ।

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

अथोदचमसान्निनयति । एतद्देवा \* अब्रुवं-  
 चेतयद्भु मिति चिति मिच्छतेति व्याव तद्ब्रुवंस्ते  
 चेतयमाना वृष्टि मेव चिति मपश्यंस्ता मस्मिन्न-  
 दधुस्तथैवास्मिन्नय मेत दधाति ॥ १ ॥

उदचमसा भवन्ति \* । आपो वै वृष्टिर्वृष्टि  
 मेवास्मिन्नेतद्दधाल्यौदुम्बरेण चमसेन तस्योक्तो बभ्रु-  
 क्षतुःक्षतिना चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवा-  
 स्मिन्नेतद्दिग्भ्रो वृष्टिं दधाति ॥ २ ॥

वींस्त्रौनुदचमसान्निनयति । त्रिवृद्ग्निर्यावा-  
 नग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवास्मिन्नेतद् वृष्टिं  
 दधाति ॥ ३ ॥

द्वादशोदचमसान् कृष्टे निनयति । द्वादश  
 मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
 मावा तावतैवास्मिन्नेतद् वृष्टिं दधाति ॥ ४ ॥

स वै कृष्टे निनयति । तस्मात् कृष्टाय  
 वर्षति स यत् कृष्ट एव निनयेन्नाकृष्टे कृष्टायैव

\* 'देवाः'—इति ख । .

† 'भवन्ति'—इति क ।

वर्षेन्नाकृष्टाय यदकृष्टऽएव निनयेन्न कृष्टेऽकृष्टा-  
यैव वर्षेन्न कृष्टाय कृष्टे चाकृष्टे च निनयति  
तस्मात् कृष्टाय चाकृष्टाय च वर्षति ॥ ५ ॥

त्रीन् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । त्रिवृ-  
दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्  
वृष्टिं दधाति ॥ ६ ॥

यद्देवोदचमसान्निनयति । एतद्वा ऽश्मिन्  
देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादपो दधुस्तैवास्मिन्नय  
मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादपो दधाति ॥ ७ ॥

वींस्त्रीनुदचमसान्निनयति । त्रिवृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो द-  
धाति ॥ ८ ॥

द्वादशोदचमसान् कृष्टे निनयति । द्वादश  
मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो दधाति ॥ ९ ॥

स वै कृष्टे निनयति । प्राणेषु तदपो दधाति  
स यत् कृष्टऽएव निनयेन्नाकृष्टे प्राणेष्वेवापः  
स्युर्नेतरस्मिन्नात्मन्नथ यदकृष्टऽएव निनयेन्न कृष्ट

ऽचात्मन्नेवापः स्युर्न \* प्राणेषु कृष्टे चाकृष्टे च  
निनयति तुस्मादिमा उभयद्वापः प्राणेषु चा-  
त्मंश्च ॥ १० ॥

वीन् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । विष्टदग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्दपो  
दधाति ॥ ११ ॥

पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशो वै वृञ्च  
एतेनैवास्यैतत् पञ्चदशेन वृञ्चेण सर्व्वं पाप्मान  
मुपहन्ति † ॥ १२ ॥

अथ सर्व्वीषधुं व्वपति । एतद्देवै देवा ऽअन्न-  
वञ्चेतयध्व मिति चिति मिच्छतेति व्वाव तद्-  
ब्रुवंस्ते चेतयमाना अन्न मेव चितिमपश्यंस्ता म-  
स्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नय मेतद्दधाति ॥ १३ ॥

सर्व्वीषधुं भवति । सर्व्व मेव तद्दन्नं यत्  
सर्व्वीषधुं सर्व्व मेवास्मिन्नेतद्दन्नं दधाति तेषा  
मेकमन्न मुद्धरेत्तस्य नाश्नीयाद्वाधज्जीव मीदुम्बरेण

\* 'स्युर्न'— इति क ।

† 'मुपहन्ति'— इति क ।

चमसेन तस्योक्तो बभूवुः स्रुतुः स्रुतिना चतस्रो वै  
दिशः स्रुवाभ्य एवास्मिन्नेतद्दिग्भ्यो ऽन्नं दधा-  
त्यनुष्टुब्भिर्व्वपति व्वाग्वा ऽन्ननुष्टुब् वाचो वा  
ऽन्नं मयते ॥ १४ ॥

तिस्रुभिस्त्रिस्रुभिः ऋग्भिर्व्वपति । त्रिवृद्ग्निर्या-  
वानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं द-  
धाति ॥ १५ ॥

द्वादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे व्वपति । द्वादश  
मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ १६ ॥

स वै कृष्टे व्वपति । तस्मात् कृष्टेऽन्नं पच्यते  
यत् कृष्टेऽएव व्वपेन्नाकृष्टे कृष्टेऽएवान्नं पच्येत ना-  
कृष्टेऽथ यदकृष्टेऽएव व्वपेन्न कृष्टेऽकृष्टेऽएवान्नं  
पच्येत न कृष्टे कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति तस्मात्  
कृष्टे चान्नं पच्यते ॥ १७ ॥

तिस्रुभिः कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति । त्रिवृ-  
द्ग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं  
दधाति ॥ १८ ॥

यद्देव सञ्चौषधं व्यपति । एतद्वा ऽएनं देवाः  
संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् सर्व्वेण भेषजिनांभिषज्यं-  
स्तथैवैन मय मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात् सर्व्वेण  
भेषजेन भिषज्यति ॥ १९ ॥

सञ्चौषधं भवति । सर्व्वं मेतद् भेषजं यत्  
सञ्चौषधं सर्व्वेणैवैन मेतद् भेषजेन भिष-  
ज्यति ॥ २० ॥

तिसृभिस्त्रिसृभिर्ऋग्भिर्व्वपति । विष्टुदग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतद् भिष-  
ज्यति ॥ २१ ॥

द्वादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे व्यपति । द्वादश मासाः  
सञ्चत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतद् भिषज्यति ॥ २२ ॥

स वै कृष्टे व्यपति । प्राणांस्तुङ्घिष्यति स  
यत् कृष्टे ऽएव व्यपेन्नाकृष्टे प्राणानेव भिषज्यन्ने-  
तर मात्मान मथ यदकृष्टे ऽएव व्यपेन्न कृष्टे ऽआत्मान  
मेव भिषज्येन्न प्राणान् कृष्टेचाकृष्टे च व्यपति  
प्राणांश्च तदात्मानं च भिषज्यति ॥ २३ ॥

तिष्ठभिः कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति । त्रिष्टु-  
दग्निर्यावांनग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवैन मेतद्  
भिषज्यति ॥ २४ ॥

पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशभिर्हृग्भि-  
र्व्वपति तस्त्रिंशत्त्रिंशदक्षरा व्विराड्विराडु कृत्स्न  
मुन्नं सर्व्वं मेवास्मिन्नेतत् कृत्स्नमुन्नं दधाति ॥ २५ ॥

या औषधीः पूर्वा जाताः । देवेभ्यस्त्रियुगं  
पुरेतृतवी वै देवास्तेभ्य ऽएतास्त्रिः पुरा जायन्ते  
व्वसन्ता प्राष्टुषि शरदि मुनै नु बभूणा मह मिति  
सोमो वै बभुः सौम्या ऽऔषधय औषधः पुरुषः  
शतं धामानीति यदिद्ु शतायुः शतार्धः शत-  
वीर्य्यं ऽएतानि हास्य तानि शतं धामानि सप्त  
चेति य ऽएवेमे सप्त शीर्षंग्राणास्तानेतदाह ॥ २६ ॥

शतं वी ऽअम्ब धामानि । सहस्रमुत वी  
रुह इति यदिद्ु शतधा च सहस्रधा च व्विरूढा  
अधा शतक्रत्वो यूयं मिमं मे ऽअगदं कृतेति य मिमं  
भिषज्यामीत्येतत् \* ॥ २७ ॥

\* 'भिषज्यामीत्येतत्'—इति ग, घ

ता एता एकव्याख्यानाः । एत मेवाभि यथैत  
मेव भिषज्येदेतं पारयेत्ता अनुष्टुभो भवन्ति व्याम्वा  
ऽनुष्टुप् व्यागु सर्व्वं भेषजं सर्व्वशैवेन मेतद् भेष-  
जन भिषज्यति ॥ २८ ॥

अथातो निरुक्तानिरुक्ताना मेव\* । यजुषा द्वावन-  
द्वाहौ युनक्ति तूष्णीं मितरान्यजुषा चतस्रः सीताः  
कृषति तूष्णीं मितरास्तूष्णीं दर्भस्तम्ब मुपद्धाति  
यजुषाभिजुहोति तूष्णीं मुदचमसान्निनयति यजुषा  
व्वपति ॥ २९ ॥

प्रजापतिरेषोऽग्निः । उभयस्वेतत् प्रजापति-  
निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्य-  
जुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं  
तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्त्रनिरुक्त  
मपरिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वा  
ऽएतं सर्व्वं कृत्स्नं प्रजापतिं संस्करोति य एवं  
व्विद्वानितदेवं करोति बाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि  
भवन्त्यन्तराण्यनिरुक्तानि पशुरेष यदग्निस्तस्मात्

\* 'मेव'—इति ग, घ ।



प्रशोर्वाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि भवन्त्यन्तराण्यु-  
निरुक्तानि ॥ ३० ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [२, ४.] ॥

अथ कष्टे चेत्रे कर्षणक्रमेणोदचमसकरणक मपान्नियनं  
विधत्ते— “अथोदचमसान्निनयतीति । उदकपूर्णाश्चमसा उद-  
चमसास्तानासिञ्चेदित्यर्थः । “एतद्वै देवा इत्याद्यसक्तद् गतम् \* ।  
“वृष्टि मेवेति । वर्षणरूपां चिति मित्यर्थः ॥ १ ॥

उदकनिनयने चमसकरणतां विधाय वृष्ट्यात्मना स्तौति—  
“उदचमसा भवन्तीति । ‘वृष्टिरापः खलु’ अपां वृष्टिजन्य-  
त्वात् । चमसस्य उदुम्बरविकारत्वं विधत्ते— “श्रीदुम्बरेणेति ।  
“तस्योक्त इति । उदुम्बरविकारत्वस्यार्थवादः । “तदेतत् सर्वं मन्त्रं  
यदुदुम्बरः, सर्वे वनस्पतय इत्यादिना षष्ठकाण्डे प्रपञ्चित  
इत्यर्थः † । चमसस्य चतुष्कोणत्वं विधाय प्रशंसति—चतुःस्रज्जि-  
नेति । “सर्वाभ्य इति । चतसृभ्योऽपि दिग्भ्य इत्यर्थः ॥ २ ॥

चतसृषु चतसृषु सीतासु त्रयाणां त्रयाणां सुदचमसानां निश्चयनं  
विधाय प्रशंसति— “त्रींस्तौनिति ‡ । “नित्यवीषयोः”—इति §  
द्विर्वचनम् । “त्रिवृदग्निरित्याद्यसक्तदुक्तार्थम् ॥ ३ ॥

\* पुरस्तादिहैव १२३ पृ० दृश्यम् ।

† ६ अ० ३ ब्रा० ३ क० (७६ भा० १२८ पृ०) ।

‡ का० औ० सू० १७. ३. ३ ।

§ पा० सू० द. १. ४ ।

॥ इहैव १ प्र० ४ ब्रा० १५ कण्ठीयाख्या दृश्यते ( ११८ पृ० ) ।

कृष्टप्रदेशे द्वादशभिर्दक्षमसैर्निनयनं विधाय स्तीति—

“द्वादशोदक्षमसानिति । “द्वादशमासा इत्यादेः स्यष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

तस्योदकनिनयनस्य कृष्टचेत्वाधिकरणत्व मन्वद्य' स्तीति—

“स वै कृष्टे इति । यस्मात् कृष्टप्रदेशे उदकनिनयनं क्रियते, तस्मादेव कारणात्तुल्ये 'कृष्टाय' कर्षणसंस्कारसंस्कारताय भूमिभागार्थं 'वर्षति' वृष्टिर्भवति । “स यत् कृष्ट एवेत्यादिना कृष्टा-कृष्टस्थले उदकनिनयनायैकैकत्र निनयननिन्दा प्रतिपाद्यते ; अर्थस्तु निगदसिद्धः ॥ ५ ॥

कृष्टाकृष्टात्मके यदुदकनिनयनं विहितम्, तत् करणचमसाना मपि त्रिसङ्ख्या सुपजीव्य स्तीति— “त्रौन् कृष्टे चेति \* । “त्रिह-दन्निरित्याद्यसकृद् गतम् ॥ ६ ॥

उक्तेऽर्थे पुरावृत्त मवतारयति— “यद्देवेत्यादिना । 'पुर-स्तात्' चयनात् प्रागेव 'अपः' उदकानि स्थापितवन्तः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ७ ॥

त्रींस्त्रीनित्यादि । पूर्ववद् व्याख्येयम् † ॥ ८ ॥

द्वादशोदक्षमसानित्यादि च ॥ ९ ॥

कृष्टप्रदेशे उदकनिनयनस्य प्राणाधिकरणनिनयनरूपता माह— “स वै कृष्ट इति । कृष्टाकृष्टयोरुभयत्रोदकनिनयने प्राणशब्दा-भिधेयेषु चक्षुरादिषु तदाश्रयभूते 'आत्मनि' शरीरे चापां निनयनं कृतं भवतीत्ययं स यत् कृष्ट एवेत्यादेस्तात्पर्यार्थः ‡ ॥ १० ॥

कृष्टाकृष्टयोरुदकनिनयनचमसगतं, त्रिंश्व मन्वद्य तस्याप्यपां

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. ४ ।

† इहत्या तृतीयकण्ठीटीप्यनी इहत्या ( १४० पृ० '॥' ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. ५ ।

निधानहेतुता माह— “चीन् कृष्टे चेति । अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ११ ॥

पृथग्विहिता सुदचमससङ्गां सभूय प्रशंसति—“पञ्चदशोदचम-  
सानिति । “पञ्चदशो वै वज्र इति । पञ्चदशस्तोमस्येन्द्रस्य च  
सह प्रजापतिबाहुसकाशादुत्पत्तेरिन्द्रसम्बन्धी वज्रोऽपि पञ्च-  
दशस्तोमात्मकः \* , तादृशेनैतेन वज्रेणास्य यजमानस्य सर्वं मपि  
पाप्मानं अपहृतवान् भवति ॥ १२ ॥

अथ प्रकृत औदुम्बरचमसे सर्वधान्यावापं विधत्ते—“अथ  
सर्वौषधं वपतीति । अन्नमेव धान्यरूपा मेव चिति मित्यर्थः ।  
गत मन्यत् ॥ १३ ॥

सर्वत्व मनूय स्तौति—“सर्वौषधं भवतीति । औषधीनां  
समूहः औषधम् । “तस्य समूहः”—इत्यण् । औषधयश्चात्र ग्राम्या-  
रण्यादिबीजात्मिका द्रष्टव्याः † । यत्सर्वौषधम् , एतत् सर्वं निरव-  
शेष मन्नम् । “सर्वं भवेति । ‘एतत्’ एतेन सर्वौषधावापेन ‘अस्मिन्’  
अग्नौ सर्वं मेवान्नं निहितवान् भवति । तत्रोप्तानां प्रकृतानां  
मन्त्रानां मध्ये एकस्य औषधिरूपस्य बीजस्य वर्जनं विधत्ते—“तेषां  
मेकं स्मिति । ‘तेषाम्’ औषधिविकाराणां मन्त्रानां मध्ये ‘एकं  
मन्नं मुद्धरेत्’ पृथक् कुर्यात् , न आवपेदित्यर्थः । तत्र च धर्मविशेषं  
विधत्ते—“तस्य नाश्रीयादिति । ‘तस्य’ उद्धृतस्यान्नस्य ‘यावज्जीव’  
नाश्रीयात् । अतएवोक्तं कात्यायनेन—“तस्मिन्सर्वौषधं माव-  
पत्येकवर्जं मभोजनं तस्योच्छ्वासात्”—इति § ।

\* तै० सं० ७. १. १. ४. द्रष्टव्यम् ।

† पा० सू० ४. २. ३७ ।

‡ तै० सं० ५. ४. ६. १ द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. ६. ७ ।

उदकनिनयन इव बीजावपनेऽपि चतुरश्रं मीदुम्बरं चमसं करण-  
त्वेन विधत्ते—“मीदुम्बरेण चमसेनेति । व्याख्यातं प्राक्, चैतत् \* ।  
“सर्वाभ्य एवास्मिन्नित्यादि । ‘सर्वाभ्यः’ प्राच्यादिभ्यश्चतसृभ्यो दिग्भ्यः  
सकाशात् ‘एतेन’ चतुःस्रक्षिचमसकरणकेन बीजावपेन ‘अस्मिन्’  
अग्नी ‘अन्नं’ ‘दधाति’ स्थापयति । बीजावपनं मन्त्राणां हृन्दोदारेण  
प्रशंसति—“अनुष्टुब्भिरिति । “या ओषधीरित्याद्याः † अनुष्टुप्-  
हृन्दस्कास्ताभिर्वपेदित्यर्थः । “वाग्वा अनुष्टुब्”-इत्यादि । सा तु  
“चतुरुत्तराणि हृन्दांश्चसृजत”—इतिश्रुतेः सर्वच्छन्दोरूपत्वादनुष्टुभो  
वाक्कान्तुतानुष्टुप्करणकत्वं युक्तमिति भावः ॥ १४ ॥

पञ्चदशचात्मको ह्यनुवाकस्तत्र सर्वत्र क्रमेण तृचैरेवौषधिवापः  
कर्त्तव्य इति विधाय त्रित्वसङ्गां प्रशंसति—“तिसृभिस्त्रिसृभि-  
रिति § । “नित्यवीषयोः”—इति ॥ द्विर्वचनम् । “त्रिवृदग्नि-  
रित्यादि व्याख्यातम् ¶ ॥ १५ ॥

ऊष्टप्रदेशे द्वादशभिर्ऋग्भिर्वपनं विधाय स्तौति—“द्वादशभि-  
रिति । चतसृषु सीतास्वैकैकस्यां तिसृभिर्वपने सति द्वादशर्षः  
सम्पद्यन्ते, सैव द्वादशसङ्ख्या चानूद्य स्तूयते । निगदसिद्ध  
मन्यत् ॥ १६ ॥

\* इहत्वेव द्वितीयकण्ठीयाख्या द्रष्टव्या (१४० पृ०) ।

† वा० सं० १२. ७५—८६ ।

शत० ब्रा० ३का० १प्र० ४ब्रा० २१—२३क० (३भा० ४८, ४९पृ०) द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० १७. ३. ८ ।

॥ पा० सू० ८. १. ४ ।

¶ तृतीयकण्ठीटीप्यनी (१४०पृ० ‘॥’) द्रष्टव्या ।

तस्य बीजावापस्य कृष्टवेनाधिकरणत्वं मनूय स्तौति—  
 “स वै कृष्ट इति । यस्मात् कृष्टप्रदेशे बीजावापः क्रियते, तस्मा-  
 देष कारणात् लोके कृष्टकर्षणसंस्कारसंस्कृते भूमिभागे व्रीहि-  
 यवादिशब्दस्य ‘अन्नं पश्यते’ फलमिति । “यत् कृष्ट एवेत्या-  
 दिना कृष्टाकृष्टवेत्ने वपनायैकेकत्र बीजावापनिन्दा प्रतिपाद्यते ।  
 निगदसिद्धोऽर्थः । कृष्टाकृष्टात्मके यद्बीजावपनं विहितम्, तत्  
 कारणमन्दाणां मपि ॥ १७ ॥

त्रिसङ्घा सुपजीव्यं स्तौति— “तिसृभिः कृष्टे चेति ॥ १८ ॥

एवं मन्त्रचिंतितरूपेण बीजावापं संस्कृत्य भेषजरूपिणापि स्तौति  
 — “यद्देवेत्यादिना । पुराहस्तकथनम् । सर्वा ह्योषधयो यावदन्-  
 मूलफलकन्दादिरूपेण भेषजानि भवन्ति, तथा सति सर्वोषधि-  
 सम्बन्धिबीजावपनेन सर्वेषैव भेषजेन ‘देवाः’ ‘एनम्’ अग्निम् ‘अभि-  
 षज्यन्’ अचिकित्सन् । “भिषज चिकित्सायाम्”—इति धातुः \* ।  
 तद्दृश्यं यजमानोऽपि ‘एनम्’ अग्निं ‘संस्करिष्यन्’ ततः प्रागेव  
 सर्वोषधिबीजावापेन सर्वेषैव भेषजेन ‘भिषज्यति’ चिकित्सति ।  
 यथा करिष्यमाणश्चयनसंस्कारो वितथो न भवेत्, तथैनं भिषज्ये-  
 दित्यर्थः ॥ १८ ॥

सर्वत्वं मनूय स्तौति— “सर्वोषधं भवतीति । पूर्ववद्  
 व्याख्येयम् ॥ २० ॥

तद्वचनकारणकं बीजावपनं, मनूयैतदपि भेषजहेतुत्वेन स्तौति—  
 “तिसृभिर्ऋग्भिरिति ॥ २१ ॥

\* पा० मू० ३. १. २७ कर्णादिष्ट इत्यर्थम् ।

घतच्छुः सीतासु करणमन्त्राणां द्वादशसङ्ख्या मनुष्य भेषज हेतुत्वेन स्वीति— द्वादशभिर्ऋग्भिरिति ॥ २२ ॥

कृष्टप्रदेशे वपनस्य प्राणभेषज्यरूपता माह— “स यत् कृष्ट एवेत्यादि । अकृष्टप्रदेशस्य शरीरस्य च साम्यं गर्त्तराहित्यं कृष्टाकृष्टयोरुभयत्र बीजावापेन प्राणशब्दाभिधेयांश्चक्षुरादीन्, तदाश्रयभूतम् ‘आत्मानं’ शरीरम्, एतेन भिषज्येदित्यर्थः ॥ २३ ॥

बीजवपने च \* मन्त्रगतं त्रित्व मनुष्य, तस्यापि भेषजहेतुता माह— “तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे चेति ॥ २४ ॥

उदचमससङ्ख्यां बीजावापमन्त्रसङ्ख्यां चानूद्य सभूय प्रशंसति— “पञ्चदशोदचमसानिति । “त्रिंशदक्षरा विराडिति । द्वाभ्या मक्षराभ्या मनुष्टुभो न्यूनत्वात् त्रिंशदक्षरा ऋक् विराट्-छन्दस्का भवति । “जनाधिकेनैकेन निचृङ्गुरिजौ, द्वाभ्यां विराट्-स्वराजौ”—इति ११ हि तल्लक्षणम् । सा च विराट् ‘कृत्स्न मन्त्रम्’; भूरूपा हि तादृशी विराट् । अत एव श्रूयते— “इयं वै विराडिति १३ । सा च स्वप्नितव्रीहियवादिसर्वधान्योत्पत्तिहेतुत्वात् सर्वाक्षररूपा । तथा च विराट्सम्पत्त्या ‘अस्मिन्’ अग्निचैत्रे ‘सर्व मेवान्नम् एतत्’ ‘कृत्स्नं’ निरवशेषं ‘दधाति’ स्थापयति ॥ २५ ॥

अथ बीजावापमन्त्रपदाना मनुवादपूर्वक मभिप्रायं व्याचष्टे— “या ओषधीरिन्ध्यादिना § । देवेभ्यस्त्रियुगं पुरित्यस्य मन्त्रभागस्याभिप्राय माह—“ऋतवो वै देवा इति । ‘याः’ ‘ओषधीः’ ओषधयः

\* “कृष्टाकृष्टबीजवपने च” - इति छ ।

पि० सू० ४ ख० ६, ऋ० प्रा० ४ पट० ६, का० सर्वा० १ क० १३ च इत्यम् ।

‡ शत० ब्रा० १ का० ४ प्र० ३ ब्रा० २० क० (१ भा० ३४६ प्र०) इत्यम् ।

§ वा० मं० १२. ७५-८६ ।

सृष्ट्यादानुत्पन्नास्ताः 'देवेभ्यः' ऋतुभ्यो वसन्तादिभ्यः 'पुरा' पूर्वं वसन्तप्राङ्गुशरदा मादिषु संवत्सरमध्ये 'त्रियुगं' त्रिकालं जायन्त इत्यर्थः ॥

उत्तरार्धे मनूय व्याचष्टे— "मनै नु बभ्रूणा मिति । अमृतरूपेण सर्वेषां भरणात् 'बभ्रुः' सोमः, ओषधयोऽपि सोमदेवताकत्वात् । तदत्र बभ्रुशब्दाभिधेयास्तादृशोषधिपरिष्णामविशेष एव 'पुरुषः' मनुष्यशरीर मिति तत्तादात्म्यम् । अयं मर्थः,— 'बभ्रूणां' सौम्यानां ओषधीनां सम्बन्धानि वक्ष्यमाणानि, 'अहं' 'नु' अयं 'मनै' मन्ये जानामि । कानि पुनस्तानि मन्तव्यानीत्याशङ्क्य चतुर्थपादं व्याचष्टे— "शतं धामानीतीति । ओषधिपरिष्णामस्य पुरुषस्य शरीरस्य यदिदं शतसंवत्सरं जीवनम्, एवं शतसङ्ख्याका अर्थाः प्रयोजनानि, यानि च तन्निष्पादकानि शतसङ्ख्याकानि वीर्याणि सामर्थ्यानि, 'शतानि' खल्वस्य ओषधिविकारस्य शरीरस्य 'तानि' मन्त्रोक्तानि शतसङ्ख्याकानि 'धामानि' । धामशब्दस्य त्रयोऽर्थाः यास्केनोक्ताः,— "धामानि त्रयाणि भवन्ति,— स्थानानि, नामानि, जन्मानीति\* । "सप्त चेति । 'य एवेमे' 'सप्त' सप्तसङ्ख्याकाः 'शीर्षन्' शीर्षि सम्बन्धाश्चक्षुःश्रोत्रादिरूपाः 'प्राणाः' सप्त चेत्येतत्, तानि च 'प्राणान्' प्रतिपादयतीत्यर्थः । उदीरितलक्षणानि शतसङ्ख्याकानि धामानि, सप्तशीर्षणान् प्राणांश्च ओषधीनां सम्बन्धित्वेन जानामीत्यन्वयः ॥ २६ ॥

द्वितीयस्या ऋचः पूर्वार्धे मनूय व्याचष्टे— "शतं वो अम्बेति ।

‘इदम्’ इदानीं ‘शतधा’ शतप्रकारेण ‘सहस्रधा’ सहस्रप्रकारेण च ‘विरुढाः’ ‘उत्पन्नाः’ ओषधयो दृश्यन्त इति ‘यत्’, ‘एतत्’ एतेनार्धर्चेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । ‘अम्ब’ हे मातः ! ओषधयः ‘बः’ युष्माकं ‘धामानि’ स्थानानि ‘शतं’ शतसङ्ख्याकानि । ‘उत’-शब्दोऽप्यर्थे । तथा ‘वः’ युष्माकं ‘रुहः’ प्ररोहाः अङ्कुरा अपि ‘सहस्रं’ सहस्रसङ्ख्याका इति ।

द्वितीयाह मनूय तात्पर्यं माह— “अथा शतक्रत्व इति । ‘अध’-शब्दे हेतौ । हे ‘शतक्रत्वः’ शतकर्माण ओषधयः ! ‘यूयं’ मदीयम् ‘इमं’ पुरुषं ‘अगदं’ व्याधिरहितं ‘कृत’ कुरुत । ‘यम् इमम्’ आतुर मिदानीम् अहं ‘भिषज्यामि’, त मेव कुरुतेत्येतदस्य वाक्यस्य तात्पर्यं मित्यर्थः । “भिषज् चिकित्साया मिति धातुः \* कण्ठादिः ॥ २७ ॥

एव सृद्दयं व्याख्याय उत्तरासा मध्येव मेव व्याख्यान मित्यतिदिशति— “ता एता एकव्याख्याना इति । “ता एताः’ बीजावपनार्था ऋचः ‘एकव्याख्यानाः’ समानव्याख्यानाः, अतो न पृथक्तया व्याख्यायन्त इत्यर्थः ॥

अतिदिष्टं व्याख्यानं योजयति— “एत मेवाभीति । “इमं मे अगदं कृतेति । योऽयं पुरुषोऽनुक्रान्तः, एत मेवाभिलक्ष्य उत्तरा ऋचोऽप्यान्नाताः, तासाञ्चायं तात्पर्यगम्योऽर्थः,— ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘एत मेव’ पुरुषं चिकित्सको ‘भिषज्येत्’ भेषजैर्युक्तं कुर्यात्, तेन च भेषज्येन ‘एतं’ व्याधिप्रस्तं ‘पारयेत्’ पार मारोग्यं प्रापयेत्, हे ओषधयः ! तथा कुरुतेति शेषः ॥



तासां हृद्दोषारणः भेषजहेतुता माह— “ता अनुष्टुभी भवन्तीति । “वागु सर्व भेषज मिति । वाक् खलु सर्वं भेषजम् ; तद्देतुत्वात् । एवं सति ‘एनं’ पुरुषविधं चेष्यमाण मन्त्रिं ‘एतत्’ एतेनानुष्टुप्छन्दसः प्रयोगेण ‘सर्वेषैव भेषजेन’ भिषज्यति’ भेषजं कृतवान् भवतोत्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ विहिताना मनडुद्योजनादीना मोषधवापान्तानां कर्मणां समन्त्रकामन्त्रकत्वं सश्रूय स्तौति— “अथातो निरुक्ता-निरुक्ताना मेवेति \* । ‘अथ’ अनन्तरं यतः समन्त्रकामन्त्रक-भेदेन द्विविधानि विहितानि कर्माणि , अतः कारणात् तेषां ‘निरुक्तानिरुक्तानां’ समन्त्रकामन्त्रकाणां विहिताना मेव कर्मणां स्तुतिः क्रियत इति शेषः । निरुक्तानिरुक्तानि कर्माणि क्रमे-थानुक्तामिति— ‘यजुषा’ मन्त्रेण “सीरा युञ्जन्ति”—इत्यादिकेन † ‘ह्रीं धुर्यावनड्वाह्रीं युनक्ति’, ‘इतरान्’ अनडुहोऽग्रे बध्यमानान् तूष्णीं युनक्ति । तथा ‘चतस्रः सीताः’ पुरुषो मन्त्रेण ‘कषति’ । ‘इतराः’ द्वादश सीताः ‘तूष्णीं’ कषति । तूष्णीं दर्भस्तम्ब मित्याद्येवं व्याख्येयम् ॥ २९ ॥

एवं निरुक्तानिरुक्तभेदेन विहितानि कर्माण्यनूद्य चित्वाग्नि-रूपस्य प्रजापतिरपि निरुक्तानिरुक्तात्मना परिमितापरिमिता-त्मना च हैरूप्य माह— “प्रजापतिरिषोऽग्निरिति । ‘यः’ अथ मन्त्रिः ‘एषः’ एव ‘प्रजापतिः’ । यदेतन्निरुक्तानिरुक्तात्मक मुभय-विधं जगत्, असावेव स प्रजापतिः । अतो निरुक्तानिरुक्तजग-त्तादात्म्यात् प्रजापतिरपि ‘निरुक्तश्च’ ईदृगाकार इति निःशेषे-

\* का० श्रौ० १७. २. ११ ।

† वा सं० १२. ६७, ६८ ।

योक्तव्यं , अनिरुक्तः तद्विपरीतः 'च' अत एव 'परिमितः' परि-  
च्छिन्नश्च , 'अपरिमितश्च' अपरिच्छिन्नश्च भवति ॥

इत्थं प्रजापतिरूपस्यापि निरुक्तानिरुक्तभेदेन द्वैविध्यं मुक्त्वा ,  
समन्वयेन निरुक्तेनानडुद्योजनादिकर्मणा निरुक्तभागस्य , इतरिण-  
तरभागस्य च संस्कारं विभज्य योजयति--"तद्यद्यजुषा करोतीत्या-  
दिना । विहदनुष्ठानं प्रशंसति--"स ह वा इति । 'ऊत्सं' सर्वावयव-  
सहितम् , 'सर्वं' निरवशेषम् ; अतो न पौनरुक्त्यम् । बाह्याभ्यन्तर-  
भावेन निरुक्तानिरुक्तधर्मयोगात् चित्याग्नेः पशुरूपांता मापाद्य  
स्तीति --"बाह्यानि रूपाणोति । यान्येतानि निरुक्तानि कर्माण्यनु-  
क्तास्तानि , तान्यग्नेः 'बाह्यानि रूपाणि' । अनिरुक्तानि 'अन्तराणि'  
अभ्यन्तरवर्तीनि भवन्ति । ईदृशो यदय मनिः , एषः 'पशुः'  
एव , 'तस्मात्' एव कारणात् लोके 'पशोः' 'बाह्यानि' बहिरवस्थि-  
तानि 'रूपाणि' रोमादीनि 'निरुक्तानि' , 'अन्तराणि' अस्तगादीनि  
'अनिरुक्तानि' च दृश्यन्ते ॥ ३० ॥ २ [ २. ४. ] ॥

इति श्रोसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थान्श्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ २ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्दीन् पञ्चसीद्वींस्त्रिंशत्सुतुलताधेगुसीवर्णभूमिः ।

रत्नोन्नां रत्नवाजिद्विपसहितरथौ सायणः सिङ्गणार्यो ,  
 व्यन्नाणोद्विष्वक्त्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटश्च ॥  
 धान्यार्द्रं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
 आज्योत्थं प्राण्यजन्मा लवणज मृणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाब्जो रत्नरूपं गिरि मकृत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

( अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

चितो गार्हपत्यो भवति \* । अचित आहवनीयो-  
ऽथ राजानं क्रीणात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौरा-  
हवनीयोऽथ योऽयं व्यायुः पवत ऽएष सोम एतं  
तुदिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ  
लोकावन्तरेण पवते ॥ १ ॥

युद्धेव चिते गार्हपत्ये † । अचित ऽआहवनीये ‡-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा ऽअग्निः प्राणः सोम  
आत्मन्स्तत् प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादय मात्मन्  
प्राणो मध्यतः ॥ २ ॥

युद्धेव चिते गार्हपत्ये § । अचित ऽआहवनीये-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा ऽअग्नी रसः सोम  
आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादय मान्त मेवात्मा  
रसेनानुषक्तः ॥ ३ ॥

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

†, § 'गार्हपत्ये'—इति क, ख ।

‡ 'आहवनीये'—इति ख ।

राजानं क्रीत्वा पर्युह्य \* । अथास्मा ऽभातिष्युः  
 हविर्निर्ऋपति तस्य हविष्कृता व्याचं विसृजतेऽथ  
 वा ऽएतद्वृतिषजत्यध्वरकर्म चाग्निकर्म च कर्मणः  
 समानतायै समानु मिदं कर्मांसदिति ॥ ४ ॥

यद्वेव व्यतिषृजति । आत्मा वा ऽअग्निः प्राणो  
 ऽध्वरु आत्मंस्तुत् प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादयु  
 मात्मान् प्राणो मध्यतः † ॥ ५ ॥

यद्वेव व्यतिषृजति । आत्मा वा ऽअग्नी रुसो  
 ऽध्वरु आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादयुमान्नु मेवा-  
 त्मा रुसेनानुषक्तोऽथाहवनीयस्यार्द्धं मैति ॥ ६ ॥

तद्वेके । उभयत्रैव पलाशशाखया व्युदूहन्यु-  
 भयत्र वै चिनोतीति न तथा कुर्यादवस्यति व्याव  
 गार्हपत्येनोर्द्ध्व एवाहनीयेन रोहति तस्मात्तथा न  
 कुर्यात् ॥ ७ ॥

अथ गार्हपत्य ऽएवोषान्निवपति ‡ । नाहवनीयेऽयं

\* पर्युह्यः—इति ख । 'पर्युह्य'—इति ग, घ ।

† 'मध्यतः'—इति ग, घ ।

‡ 'निवपति'—इति ग, घ ।

वै लोकी गार्हपत्यः पशव ऊषा अस्मिंस्तुल्लोके पशून्  
दधाति तस्मादिमेऽस्मिंस्तुल्लोके पशवः \* ॥ ८ ॥

अथाहवनीय एव पुष्करपर्णं मुपदधाति । न  
गार्हपत्य उचापो वै पुष्करपर्णं द्यौराहवनीयो दिवि  
तदपो दधात्युभयत्र सिकता निवपति रेतो वै  
सिकता उभयत्र वै व्विक्रियते तस्माद्द्रेतसोऽधि  
व्विक्रियाता ऽव्वृति ॥ ९ ॥

ता नाना मन्त्राभ्यां निवपति । मनुष्यलोकी  
वै गार्हपत्यो देवलोके आहवनीयो नानो वा एत-  
द्यद्वैवं च मानुषं च द्राघीयसा मन्त्रेणाहवनीये नि-  
वपति ऋसीयसा गार्हपत्ये द्राघीयो हि देवायुषः  
ऋसीयो मनुष्यायुषः स पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्ह-  
पत्ये सिकता निवपति रेतो वै सिकता अस्मा-  
द्रेतसोऽधीमा व्विक्रियान्ता ऽव्वृति ॥ १० ॥

तदाहुः । यद्योनिः परिश्रितो रेतः सिकता  
अथ पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्हपत्ये सिकता निव-  
पति कथं मस्यैतद्रेतोऽपरासित्तं परिगृहीतं भवती-

\* 'पशवः'—इति क० 'पशवः'—इति ग, घ ।

त्युत्खं वा ऽजघास्तदादूषान् पूर्व्वान्निवपत्येतेनो हास्यै-  
 तदुत्खेन० रेतोऽपरासिक्तं परिगृहीतं भवत्यथाहव-  
 नीये परिश्रितो ऽभिमन्वयते तस्योक्तो बन्धुरथ सि-  
 कता निवपति रेतो वै सिकता एतयो ऽभस्यै-  
 तद्योन्या रेतोऽपरासिक्तं परिगृहीतं भवति\* ॥ ११ ॥

अथाहवनीय ऽएवाप्यानवतीभ्या † मभिमृशति ।  
 न गार्हपत्येऽयं वै लोको गार्हपत्यः स्वर्गो लोक  
 आहवनीयोऽहो वा ऽअय मस्मिंल्लोके जातो यजमानः  
 स्वर्गं ऽएव लोके प्रजिजनयिषितव्यस्तदादाहवनीय  
 ऽएवाप्यानवतीभ्या ‡ मभिमृशति न गार्हपत्ये स्वर्गं  
 ऽएवैनं तल्लोके प्रजनयति § ॥ १२ ॥

अथ लोकेष्टका ॥ उपदधाति । इमे वै लोका  
 एषो ऽग्निर्दिशो लोकेष्टका ¶ एषु तल्लोकेषु दिशो  
 दधाति तस्मादिमा एषु लोकेषु दिशः ॥ १३ ॥

बाह्येनाग्नि माहरति । आप्ता वा ऽअस्य ता

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

†, ‡ 'प्याप्यानवतीभ्याम्'—इति सायणसम्मत इति डा० वेबरः ।

§ 'प्रजनयति'—इति ग, घ ।

॥ 'लोकेष्टका'—इति सा० सम्मतः; पठ इति डा० वेबरः ।

दिशो या एषु लोकेष्वथ या इमांल्लोकान् परेण  
दिशस्ता अस्मिन्नेतद्दधाति ॥ १४ ॥

बहिर्व्वेदेरियं वै व्वेदिः । आप्ता वा ऽअस्य  
ता दिशो या अस्या मथ या इमां परेण दिशस्ता  
अस्मिन्नेतद्दधाति ॥ १५ ॥

यद्देव लोकेष्टका उपदधाति । प्रजापतेर्व्विस्त्र-  
स्तस्य सर्वा दिशो रसोऽनु व्यचरत् तं यत्र देवाः  
समस्कुर्व्वस्तदस्मिन्नेताभिर्लोगेष्टकाभिस्तः रस मदधु-  
स्तथैवास्मिन्नय मेतद्दधाति ॥ १६ ॥

वाञ्छेनाग्नि माहरति । आप्तो वा ऽअस्य स  
रसो य एषु लोकेष्वथ य इमांल्लोकान् पराङ्गुसो-  
ऽत्यचरत्त मस्मिन्नेतद्दधाति ॥ १७ ॥

बहिर्व्वेदेरियं वै व्वेदिः । आप्तो वा ऽअस्य  
स रसो योऽस्या मथ य इमां पराङ्गुसोऽत्यचरत्त  
मस्मिन्नेतद्दधाति ॥ १८ ॥

स्फ्येनाहरति । व्वञ्जो वै स्फ्यो व्वीर्ये वै व्वञ्जो  
व्वित्तिरियं व्वीर्येण वै व्वित्तिं व्विन्दते ॥ १९ ॥

स पुरस्तादाहरति । मा मा हिंसीञ्जनिता यः



पृथिव्या इति प्रजापतिर्व्यै पृथिव्यै जनिता मा मा  
 हिःसीत् प्रजापतिरित्येतद्यो वा दिवः सत्यधर्मा  
 व्यनडिति यो वा दिवः सत्यधर्माऽजतेत्येतद्यश्चा-  
 पञ्चन्द्राः प्रथमो जजानेति मनुष्या वा ऽत्रापञ्चन्द्रा  
 यो मनुष्यान् प्रथमो ऽजतेत्येतत् कस्मै देवाश्च  
 इषिषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै इषिषा  
 विधेमेत्येतत् ता माहृत्यान्तरेण परिश्रित आत्मन्नु-  
 पदधाति स यः प्राच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत् त  
 मस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्राची मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधातिः  
 ॥ २० ॥

अथ दक्षिणतः । अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन  
 पयसा सहेति यथैव यजुस्तथा बभ्रुर्व्वपां ते ऽग्नि-  
 रिषितो ऽअरोहदिति यद्वै किं चास्याः सास्यै  
 व्वपा ता मग्निरिषित उपादीसो रोहति ता माह-  
 त्यान्तरेण पक्षसन्धि माव्यन्न उपदधाति स यो दक्षि-  
 णायां दिशि रसो ऽत्यक्षरत् मस्मिन्नेतद्दधात्यथो  
 दक्षिणा मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति † ॥ २१ ॥

अथ पश्चात् \* । अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्  
 पूतं यच्च यज्ञिय मित्तीयं वा ऽअग्निरस्यै तदाह  
 तद्देवेभ्यो भरामसीति तदस्मै देवाय कर्मणे  
 हराम इत्येतत्ता माहृत्यान्तरेण पुच्छसन्धि मात्मन्नु-  
 पदधाति स यः प्रतीच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत् त  
 मस्मिन्नेतद्दधात्यथो प्रतीची मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति  
 स नु सम्प्रति पश्चादाहरेन्नेद्यज्ञपथाद्रस माहुराणी-  
 तीत इवाहरति † ॥ २२ ॥

अथोत्तरतः ‡ । इष मूर्जं मह मित आद मित्ती-  
 ष मूर्जं मह मित आदद ऽइत्येतद्वतस्य योनि मिति  
 सत्यं वा ऽऋतुः सत्यस्य योनि मित्येतन् महिषस्य  
 धारा मित्यग्निर्वै महिषः स हीदं जातो महान्त-  
 सर्व्वं मैशादा मा गोषु विश्वा तनूष्वित्यात्मा वै  
 तनूरा मा गोषु चात्मनि च विश्वित्येतज्जहामि  
 सेदि मनिरा ममीवा मिति सिक्ताः प्रह्वंसयति

\* 'पश्चात्'—इति ग, घ ।

† 'इवाहरति'—इति ग, घ ।

‡ 'अथोत्तरतः'—इति ग, घ ।

तद्यैव सिद्ध्यांनिरा यामौवा ता मेतस्यां दिशि  
 दधाति . तस्मादेतस्यां दिशि प्रजा अशनायुकास्ता  
 माहृत्यान्तरेण पक्षसन्धि मात्मन्नपदधाति स य  
 उदीच्यां दिशि रसो ऽत्यचरत्त मस्मिन्नेतद्दधात्यथो  
 ऽउदीची मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति ॥ २३ ॥

ता एता दिशः । ताः सर्व्वत उपदधाति  
 सर्व्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात् सर्व्वतो दिशः  
 सर्व्वतः समीचीः \* सर्व्वतस्तत् समीचीर्दिशो दधाति  
 तस्मात् सर्व्वतः समीच्यो दिशस्ता नानोपदधाति  
 नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना  
 हि दिशस्तिष्ठन्नपदधाति तिष्ठन्तीव हि दिशोऽथो  
 तिष्ठन्वै वीर्य्यवत्तरः ॥ २४ ॥

ता एता यजुष्मत्य दृष्टकाः । ता आत्मन्ने-  
 वोपदधाति न पक्षपुच्छेष्व्वात्मन् न्नैव यजुष्मत्य दृष्टका  
 उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु ॥ २५ ॥

तदाहुः । कथमस्यैताः पक्ताः श्रुता उपहिता  
 भवन्तीति रसो वा ऽएताः स्वयंश्रुत उ वै रसो-

\* 'समीची'—इति क ।

ऽथो यद्वै किं चैत मग्निं वैश्वानरं मुपनि-  
गच्छति तत एव तत् पक्वञ्च शृतं मुपहितं  
भवति \* ॥ २६ ॥

अथोत्तरव्वेदिं निवपति । इयं वै व्वेदि-  
द्यौरुत्तरवेदिर्दिशो लोगेष्टकास्तद्यदन्तरेण व्वेदिं  
चोत्तरवेदिं च लोगेष्टका उपदधातीमौ तन्नोका-  
वन्तरेण दिशो दधाति तस्मादिमौ लोकावन्त-  
रेण दिशस्तां युगमावीं वा सर्व्वतः करोति च-  
त्वारिंशत्पदां वा यतरथा कामयेताथ सिकता  
निवपति तस्योक्तो बभूवुः ॥ २७ ॥

ता उत्तरवेदी निवपति । योनिर्व्व्यां ऽउत्तर-  
वेदिर्योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्वै योनौ रेतः सिञ्चते  
तत्प्रजनिष्णु भवति ताभिः सर्व्वं मात्मानं प्रच्छा-  
दयति सर्व्वं स्मिंस्तदात्मन्वेतो दधाति तस्मात् सर्व्व-  
स्मादेवात्मनो रेतः सम्भवति † ॥ २८ ॥

अग्ने तव श्रवो व्वय इति । धूमो वा ऽश्वस्थ

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

† 'सम्भवति'—इति क, 'सम्भवति'—इति ख ।

श्रुवो व्ययः स ह्येन ममुष्मिंस्त्रीके श्रावयति महि  
 भाजन्ते . चर्चयो विभावसविति महतो भाजन्ते-  
 ऽर्चयः प्रभूवसवित्येतद् बृहन्नानो श्रवसा व्याज  
 मुक्य्य मिति बलं वै श्रुवो बृहन्नानो बलेनान्न  
 मुक्य्य मित्येतद्धासि दाशुषि कव ऽद्वृति यज-  
 मानो वै दाश्वान्दधासि यजमानाय कव ऽद्वृत्ये-  
 तत् ॥ २६ ॥

पावकवर्चाः शक्रवर्चा इति । पावकवर्चा  
 ह्येष शक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि मानुनेत्य-  
 नूनवर्चा उद्दीप्यसे भानुनेत्येतत् पुत्रो मातरा  
 विचरन्नपावसीति पुत्रो ह्येष मातरा विचरन्न-  
 पावति पृथञ्चि रोदसी ऽउभे ऽद्वृतीमे वै द्यावा-  
 पृथिवी रोदसी ते ऽएष उभे पृथञ्चि धूमेनामूं  
 वृष्ट्ये माम् \* ॥ ३० ॥

जुञ्जीनपाञ्जातवेदः सुशक्तिभिरिति + । जुञ्जी-  
 नपाञ्जातवेदः सुष्टुतिभिरित्येतन् मन्दस्व धीतिभि-

\* 'दृष्टेयाम्'—इति ग, घ ।

† 'सुशक्तिभिरिति'—इति क, 'सुशक्तिभिरिति'—इति ग, घ ।

र्हित इति दीप्यस्व धीतिभिर्हित इत्येतत्त्वे ऽद्वेषः  
सुन्दधुर्बहुवर्षस इति त्वे ऽद्वेषः सुन्दधुर्बहुवर्षस #  
इत्येतच्चिद्वोतयो व्वामजाता इति यथैव यजु-  
स्तथा बन्धुः ॥ ३१ ॥

इरज्यन्नने प्रथयस्व जन्तुभिरिति । मनुष्या  
वै जन्तवो दीप्यमानो ऽने प्रथस्व मनुष्यैरित्येत-  
दस्मै रायो ऽन्नमर्त्येयस्मै रयिं दधदमर्त्येतत् सु  
दर्शतस्य व्वपुषो व्विराजसीति दर्शतस्य श्लेष व्वपुषो  
व्विराजति पृणच्चि सानसिं क्रतु मिति पृणच्चि  
सनातनं क्रतु मित्येतत् ॥ ३२ ॥

द्वष्कर्त्तार महुरस्य प्रचेतस मिति । अङ्करो वै  
यज्ञः प्रकल्पयितारं यज्ञस्य प्रचेतस मित्येतत्  
क्षयन्त् राधसो मह इति क्षयन्त् राधसि  
महतीत्येतद्वातिं व्वामस्य सुभगां मही मिष मिति  
रातिं व्वामस्य सुभगां महती मिष मित्येतद्दधासि  
सानसिं रयि मिति द्दधासि सनातनं रयि  
मित्येतत् ॥ ३३ ॥

\* 'सुन्दधुर्बहुवर्षस'—इति च इष्टं, डा० वेबरमहोदयेन ।

ऋतावान मिति । सत्यावान मित्येतन् म-  
 हिष मिथग्निर्वै महिषो विश्वदर्शत मिति विश्व-  
 दर्शतो ह्येषोऽग्निः सुन्नाय दधिरे पुरो जुना  
 द्रुति यज्ञो वै सुम्नं यज्ञाय वा ऽएतं पुरो  
 दधते श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा देव्यं मानुषा  
 युगेत्याश्रुत्वन्तं सप्रथस्तमं त्वा गिरा देवं मनुष्या  
 हवामह ऽद्व्येतत् \* ॥ ३४ ॥

स एषोऽग्निरेव वैश्वानरः । एतत् षडृच  
 मारम्भायैवेमाः सिकता न्युप्यन्तेऽग्नि मेवासिद्धे-  
 तद्वैश्वानरं रेतो भूतं सिञ्चति षडृचेन षडृतवः  
 संवत्सरः संवत्सरो वैश्वानरः † ॥ ३५ ॥

तदाहुः । यद्रेतः सिकता उच्यन्ते कि मा-  
 सा रेतो रूप मिति ‡ शुक्ला द्रुति ब्रूयाच्छुक्लं  
 हि रेतोऽथो पुम्नय द्रुति पृश्नीव हि रेतः ॥ ३६ ॥

तदाहुः । यदाद्रं रेतः शुष्काः सिकता

\* 'ऽद्व्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'वैश्वानरः'—इति ग, घ ।

‡ 'रेतो रूप मिति'—इति क, ख ।

निवृपति कथ मस्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्तीति  
 रसो वै छन्दाः स्याद् उ वै रसस्तद्यदेनाच्छन्दो-  
 भिर्निवृपत्येव मु हास्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्ति  
 ॥ ३७ ॥

तदाहुः । कथ मस्यैता अहोरात्राभ्या मुप-  
 हिता भवन्तीति । द्वे वा अहोरात्रे शुक्लं च कृष्णं  
 च द्वे सिकते शुक्ला च कृष्णा चैव मु हास्यैता  
 अहोरात्राभ्या मुपहिता भवन्ति ॥ ३८ ॥

तदाहुः । कथ मस्यैता अहोरात्रैः सम्पन्ना  
 अन्यना अनतिरिक्ता उपहिता भवन्तीत्यनन्तानि  
 वा ऽअहोरात्राख्यनन्ताः सिकता एव मु हास्यैता  
 अहोरात्रैः सम्पन्ना अन्यना अनतिरिक्ता उपहिता  
 भवन्त्यथ कस्मात् समुद्रियं छन्द इत्यनन्तो वै स-  
 मुद्रोऽनन्ताः सिकतास्तत् समुद्रियं छन्दः ॥ ३९ ॥

तदाहुः । कथ मस्यैताः पृथङ् नाना यजुर्भि-  
 रूपहिता भवन्तीति मनो वै यजुस्तदिदं मनो  
 यजुः सर्वाः सिकता अनुविभवत्येव मु हास्यैताः  
 पृथङ् नाना यजुर्भिरुपहिता भवन्ति ॥ ४० ॥



तदाहुः । कथं मस्यैताः सर्व्वैश्छन्दोभिरुप-  
हिता भवन्तीति यदेवैना एतेन षड्रुचेन निवपति  
यावन्ति हि सप्तानां छन्दसा मन्त्राणि तावन्त्ये-  
तस्य षड्रुचस्याचराण्येव मु हास्यैताः सर्व्वैश्छन्दो-  
भिरुपहिता भवन्ति ॥ ४१ ॥

यदेव सिकता निवपति । प्रजापतिरेषोऽग्निः  
सुर्व्वं मु ब्रह्म प्रजापतिस्तद्वैतद् ब्राह्मण उत्सन्ने \*  
यत् सिकता अथ यदनुत्सन्न मिदं तद्योऽथ मग्नि-  
ञ्चीयते तद्यत् सिकता निवपति यदेव तद् ब्राह्मण +  
उत्सन्नं तदस्मिन्नेतद्व्यतिदधाति ता असङ्गता  
अपरिमिता निवपति को हि तदेद यावत् तद्  
ब्रह्मण † उत्सन्नं ‡ स ह वा ऽएतत् सुर्व्वं कृत्स्नं  
प्रजापतिं संस्करोति य एवं द्विदानिसिकता  
निवपति ॥ ४२ ॥

तदाहुः § । कौतासा मुसङ्गतातानां सञ्छेति  
हे ऽहुति ब्रूयाद् हे हि सिकते शुक्रा च कृष्णा चाथो

\* , † , ‡ 'ब्राह्मण'—इति क, ख ।

§ 'तदाहुः'—इति ग, घ ।

सप्तविंशतिशतानीति ब्रूयादेतावन्ति हि संवत्स-  
रुखाहोरात्राण्यथो हे दापञ्चाशु शते ऽवत्येतावन्ति  
स्येतस्य षड्विंशत्याक्षराण्यथो पञ्चविंशतिरिति पञ्च-  
विंशत् हि रेतः ॥ ४३ ॥

ता एता यजुष्यत्य इष्टकाः । ता आत्मन्ने-  
वोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन् स्त्रेव यजुष्यत्य इष्ट-  
का उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु न सादयति नेद्रेतः  
प्रजातिः \* स्थापयानीति † ॥ ४४ ॥

अथेना आप्यानवतीभ्या मभिसृशति । इदं  
मेवैतद्रेतः सिक्तं माप्याययति तस्माद्योनौ रेतः  
सिक्तं माप्यायते सौमीभ्यां प्राणो वै सोमः प्राणं  
तद्रेतसि दधाति तस्माद्रेतः सिक्तं प्राणं मभि-  
सृशति पृथेह यदृते प्राणात् सन्मन्त्रेदेषो हेवात्र ‡  
सूददोहाः प्राणो वै सोमः प्राणः सूददोहाः  
॥ ४५ ॥

\* 'पञ्चनयति'—इति क ।

† 'स्थापयानीति'—इति ग, घ ।

‡ 'देषां हेवात्र'—इति च डष्ट' उ० वेवरमहोदयेन ।

आप्यायस्व समेतु ते । द्विप्रवतः सीम  
 वृष्णा मिति रेतो वै वृष्णा माप्यायस्व स मेतु  
 ते सर्वतः सीम रेत इत्येतद् भवा व्वाजस्य सङ्गथ  
 ऽइत्यन्ने वै व्वाजो भवान्नस्य सङ्गथ ऽइत्येतत् सं  
 ते पयांसि स मु यन्ति व्वाजा इति रसो वै  
 पयोऽन्ने व्वाजाः सं ते रसाः स मु यन्त्वन्नानीत्ये-  
 तत्त्वं वृष्णान्यभि मातिप्राह इति स र् रेतोऽ-  
 सि पाप्मसह इत्येतदाप्यायमानो ऽश्मृताय सो-  
 मेति प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात् प्रजाति-  
 रमृता दिवि श्रवाञ्छुतमानि धिष्वेति चन्द्रमा  
 वा ऽश्मृत् दिवि श्रव उक्तम सृष्टेन ममुषिंल्लोके  
 श्रावयति द्वाभ्या माप्याययति गायत्र्या च त्रिष्टुभा  
 च तस्योक्तो बभूवुः ॥ ४६ ॥

अथातः सम्पदेव \* । चतस्रो लोकेष्टका उप-  
 दधाति षड्भुवेन निवपति द्वाभ्या माप्याययति  
 तद् द्वादश द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो-

\* 'सम्पदेव'—इति ग, घ ।

ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माचा तावत् तद् भव-  
ति ॥ ४७ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [३. १.]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निश्चमे, त मच्चं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ साग्निचित्ये क्रतो सोमक्रयणस्य कालं विधाय स्तौति—  
“चितो गार्हपत्य इति । गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्यकाले  
चोदकप्राप्तः सोमक्रयः कर्त्तव्य इत्यर्थः । सोमस्य गार्हपत्या-  
हवनीययोर्मध्येऽवस्थानं लोकत्रयरूपेणोपपादयति— “अयं वै  
लोक इति । भूलोकस्वर्लोकौ गार्हपत्याहवनीयौ । ‘यो-  
ऽयं वायुः पवते’, ‘एषः’ एव क्रियमाणः ‘सोमः’; तत्-  
क्रयस्य गार्हपत्यचयनादुर्द्धं माहवनीयचयनात् पूर्वं मितस्मिन्  
समयेऽनुष्ठाभात् । ‘एतं सोमात्मकं वायुं ‘इमौ लोकावन्तरेण’  
अनयोर्लोकयोर्मध्ये ‘दधाति’ स्थापयति । “अन्तरान्तरेणेति \*  
द्वितीया । यस्मादेवं वायुसंस्तुतः सोमो मध्ये क्रियते, तस्मा-  
देव दृश्यमानो ‘वायुः’ ‘इमौ लोकौ’ भूलोकस्वर्लोकौ ‘अन्तरेण’  
‘पवते’ परिवर्त्तते ॥ १ ॥

इत्थं सोमक्रयस्य मध्येऽनुष्ठानं अग्निर्लोकं क्षुत्वा अध्यात्म  
मपि स्तौति— “यद्देवेति । “आत्मा वा अग्निरिति । गार्ह-

पत्याह्ववनीयचित्वात्मकः 'अग्निः' 'आत्मा' विसृष्टावयवस्य प्रजा-  
पतेः शरीरम् । तन्मध्यवर्ती प्राणवायुः 'सोमः' ; अतस्तस्य  
गार्हपत्याह्ववनीयचयनयोर्मध्ये क्रियमाणत्वात् 'आत्मन्' आत्मनि  
शरीरे 'प्राण मेव मध्यतो दधाति' धारयति । 'तस्मात्' एव  
कारणात् पञ्चदश्यात्मकः 'अयम् प्राणः' सर्वप्राणिनां 'आत्मन्'  
आत्मनि शरीरे 'मध्यतः' दृश्यते ॥ २ ॥

राजक्रयस्य मध्येऽनुष्ठान मनूय क्त्स्नशरीरे रसानुषङ्गहेतुत्वेनापि  
स्तीति — "यद्देवेति । "रसः सोम इति । अभिषवादिंसंस्कृतो  
हि सोमः सुखादिषु रसात्मको भवति ; शरीरसंलुतयोर्गार्हपत्या-  
ह्ववनीयनयोर्मध्ये रसात्मकस्य तस्यानुषङ्गात् । 'आत्मानं' शरीरम्  
आध्यायनहेतुना 'रसेन' 'अनुषजति' अनुषक्तं मनुस्यूतं करोति ।  
'तस्मात्' एव कारणात् 'अयं मात्मा' देहः 'आत्मं' शिरःप्रभृति  
पादपर्यन्तं 'रसेन' 'अनुषक्तः' व्याप्तो दृश्यते ॥ ३ ॥

आतिष्णह्विष्कृदन्ते आह्ववनीयचितिसंस्कारं विधिषुः, ततः  
प्राक्तनं चोदकप्राप्तं प्रयोगजातं मनुक्रामति— "राजानं क्रीत्वेति ।  
क्रयानन्तरम्, क्रीतस्य परिवहणं कृत्वापि अनन्तरम्, 'अग्ने'  
सोमाय 'आतिष्यं' पूजार्हं 'हविः' प्रकृतिवत् 'निर्वपति' ; 'तस्य'  
कर्मणः सन्धिनः 'हविष्कृता' । "हविष्कृदेहोति मन्वेण \* प्राङ्-  
नियमितां 'वाचं' 'विसृजते' † । अस्मिन् समये आह्ववनीयचिति-  
संस्कारं विधित्मुस्तदुपोहातत्वेन सौमिकाम्बिकयोः कर्मणोः  
परस्परं व्यतिषङ्गं विधत्ते— "अथ वा इति । 'अथ' खलु 'एतत्'  
एवं कुर्वन्नर्ह्युः 'व्यतिषजति' व्यतिषक्तं परस्परं सङ्गत्

\* वा० सं० १. १५ ३ ।

† अत० आ० १. १. ४. ११ (१ भा० ७४ पृ०) इत्यथम् ।

करोति । “अन्जं सङ्गे #”-इत्यस्माज्जटि “दंशसंज्ञस्वप्नां शपि”-  
इत्यनुनासिकलोपः † । किन्तदिति तदाह--“अध्वरेति । व्यति-  
षङ्गस्य प्रयोजनं माह--“कर्मण इति । सौमिकाम्निकर्मदेन द्विवि-  
धस्य कर्मणः ‘समानतायै’ एकोभवनार्थम् । ननु व्यतिषङ्गमात्रात्  
कथं मनयोरैक्यसिद्धिः, तत्राह--“समानं भिदं मिति । ‘इदम्’  
अनुष्ठीयमानं सौमिकं माम्निकं च ‘कर्म’ ‘समानम्’ एकम्  
‘असत्’ भवेत् ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तदुभयं व्यतिषङ्गतिः ;  
न खलु व्यतिषङ्गं मन्तरेणानयोरैक्यसिद्धि रिति भावः ॥ ४ ॥

इतद्व्यतिषङ्गमनं ननुद्य स्तीति--“यद्देवेति । “प्राणोऽहुर इति ।  
‘अहुरः’ सोमयागः प्राणस्थानीयः, ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘मध्यतः’  
मध्ये ‘तत्’ ‘प्राणं’ स्वापयति । ‘तस्मादयं प्राणः’ शरीरमध्ये  
वर्त्तत इति शेषः ॥

तथा--“रसोऽहुर इति । ‘अहुरः’ सोमयागो रसस्था-  
नीयः ; सर्वप्रकृतित्वात् । गतं मन्यत् । वाग्विसर्जनागन्तरं माह-  
वनीयसमीपदेशगमनं विधत्ते--“अथाहवनीयस्यार्द्धं मैतीति ।  
अर्द्धशब्दो देशवाचो । ‘आहवनीयस्य’ अग्नेः यत् स्थानं कर्ष-  
णादिसंस्कारसंस्कृतं हविष्कृदाह्वानानन्तरम्, तत् स्थानं माग-  
च्छेदित्वर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

गार्हपत्यस्थानवदाहवनीयस्थानस्यापि पलाशशाखया व्युद्-  
हनं भिकीयमतेनोपन्यस्य दूषयति--“तद्देक इति ‡ । ‘तत्’  
तत्र उभयत्रैव, गार्हपत्ये आहवनीये च ‘एके’ शाखिनः ‘पलाश-

\* भा० आ० ६७७ धा० ।

† पा० सू० ६. ४. ३५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ३५ ।

शास्त्रया व्युद्बुद्धनं कुर्वन्ति । 'उभयत्र' खलु 'चिनोति' इति तत्र हेतुः । व्युद्बुद्धनस्य चयनार्थत्वात् आहवनीयचितावपि तत् कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

तदेतन्निराकरोति— “न तथेति । प्रतिज्ञातं मर्थं सुप-  
पादयति— “अवस्यति वावेति । गार्हपत्यचयनेन हि यं प्रदेशं  
मध्यवस्यति अथवसानसमये भूशोधनार्थं व्युद्बुद्धनं मपेक्षितम्,  
अथ पुनरारोहणसमये आहवनीयचयनेनाप्यूर्ध्वः सन्नारोहति,  
'तस्मात्' 'तत्र' कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

गार्हपत्यचितिषत् प्रसक्तं सूषाणां निवपनं मपि तत्रैव  
कर्त्तव्यमिति निगमयति— “अथ गार्हपत्य एवेति । एव-  
कारव्यवच्छेदं माह— “नाहवनीये इति । अत्र हेतुमाह—  
“अयं वै लोक इति । भूरिति व्याहृत्या आहितत्वाद् गार्ह-  
पत्यो भूलोकात्मकः ; “भूरिति गार्हपत्यमादधाति”—इति हि  
ब्राह्मणम् ।\* जषरप्रदेशस्य पशुभिल्लेख्यमानत्वात् जषाणां पश्या-  
त्मकत्वम् ॥ ८ ॥

अथाहवनीये प्रतिनियतं विधास्यमानं पुष्करपर्णीपधानं  
मनुष्यं प्रतिनियतफलप्रतिपादनेन स्तौति— “अथाहवनीय  
एवेति । अवधारणफलमाह— “न गार्हपत्य इति । अत्र हेतु-  
माह— “आपो वा इति । पुष्करपर्णस्वाप्तु जननात् तदवात्मक  
मित्यर्थः । “द्वीराहवनीय इति । सुवरिति व्याहृत्या आहित-  
त्वाद् आहवनीयो सुलोकात्मकः । 'तत्' तत्र पुष्करपर्णीपधानेन  
सुलोके 'अपः' उदकानि दृष्ट्युपादानत्वेन स्थापयतीत्यर्थः ॥

गार्हपत्यवदाहवनीयेऽपि सिकतानिवपनं कर्त्तव्यमिति  
विधत्ते— “उभयत्रेति । तदेतदुपपादयते— “इतो वा इति ।

सिंतभास्वरत्वादिरूपसाम्यात् सिकतानां रेतस्त्वम्, 'उभयत्र' गार्हपत्यस्थाने आहवनीयस्थाने च चितिरूपेण चित्त्योऽग्निः 'विक्रियते' विशिष्टरूपवान् क्रियते । विक्रियमाणश्चासौ 'तस्मात्' सिकतालक्षणात् 'रेतसः' 'अधि' उपरि 'विक्रियाते' विक्रियेत, विक्रितिं भजति । 'इति' अग्नेनाभिप्रायेण उभयत्र सिकतानां निवपनम् ॥ ८ ॥

उभयत्र मन्त्रभेदं विधाय स्तौति — “ता नाना मन्त्राभ्या मिति । 'ताः' सिकताः भिन्नमन्त्राभ्या मित्यर्थः । “अग्नेर्भस्मासीति \* हि मन्त्रेण गार्हपत्ये सिकतानिवपनं विहितम् †” ; “अग्ने तव श्रवो वय ऋ इत्याहवनीये सिकतानिवपनस्य मन्त्रो विधास्यते ‡ । एवं नानामन्त्रत्व मनुष्य स्तूयते— गार्हपत्याहवनीययोर्भूलोकस्वर्लोकालकालं क्रमेण प्रतिपादितम्, “नानो वा एतदिति । 'देवं' देवसम्बन्धि, 'मानुषं' मनुष्यसम्बन्धि च यदेतत् स्थानइयम्, तदेतन्नानैव खलु विभिन्न मेव । 'मन्त्रं दैर्घ्यं ऋस्वत्वाभ्यां स्तौति — “द्राघीयसेति । “अग्ने तव श्रव इति मन्त्रः, “अग्नेर्भस्मासीति मन्त्रापिच्छयां 'द्राघीयान्' अतिशयेन दीर्घः ; तेन 'मन्त्रेण' आहवनीये सिकता निवपति । 'ऋसीयसा' ऋस्वतरेण 'अग्नेर्भस्मासीति' 'मन्त्रेण । मन्त्रगतं द्राघीयस्त्वं ऋसीयत्वं च प्रतिपादयति — “द्राघीयो होति । दीर्घतमं हि 'देवायुषं' देवाना मायुर्जीवितम्, 'ऋसीयः' ऋस्वतमं स्वस्य हि

\* वा० सं० १२. ४६. २ ।

† पुरस्तात् १ प्र० १ ब्रा० ६ क० ( ४, २१८० ) दृश्यम् । ।

‡ वा० सं० १२. १०६ ।

§ पुरस्तादिहैव ६ ऋषिकायां ( १५६ ८० ) दृश्यम् ।



‘मनुष्यायुषं’ मनुष्यजीवितम् ; अतो द्वेषोर्कमनुष्यलोकासंस्तु-  
तयोरामुपनीयमाह्वययोस्तादृक् मन्वसम्बन्धो युक्त इत्यर्थः ॥

गार्हपत्यचयने सिक्रतानिवपनस्य परिश्रितां पूर्वभाषित्व  
मनुष्य स्तीति — “स पूर्वा इति । तथा निवयने कारण  
माह — “रितो वै सिकता इति । ‘अस्मात्’-सिकतारूपात्  
‘रितसः’ ‘अधि’ उपरि ‘इमाः’ परिश्रितो ‘विक्रियाम्ने’ विशिष्ट-  
रूपाः कृता भवेयुः । अन्यथा हि निरुपादानत्वात् परिश्रितां  
विक्रिया न स्यादिति भावः ॥ १० ॥

सिकतानिवपनस्य परिश्रितां पूर्वत्वे दोषं दर्शयति—  
“तदाहुरिति । ‘तत्’ तत्र विषये ‘आहुः’ चोदयन्ति ब्रह्म-  
वादिनः । योनी हि रेतः सिच्यते, परिश्रितश्च योनिसंस्तुताः ;  
तथा सति ‘अस्य’ अग्नेः ‘एतत्’ सिकतारूपं ‘रितः’ ‘अपरासिक्तं’  
आधारादन्यत्र सिक्तम् ; परिश्रिद्रूपयोन्यभावात् कथं परिगृहीतं  
परिवेष्टितं भवतीत्यस्य चोद्यस्य परिहार माह — “उत्सवं वा  
ज्जषा इति । गर्भस्यान्तर्वेष्टन सुखं, तत्संस्तुता जषाः ; तथा  
पूर्वनिवपनात् तदनन्तरम् न्युप्तं सिकतारूपं ‘रितः’ ; तेनोत्सवेन  
‘अपरासिक्तं’ गर्भाशयादन्यत्र सिक्तं ‘परिगृहीतं’ परिवेष्टितं  
च ‘भवति’ ।

आहवनीयचितौ तु सिकतानिवपनात् पूर्वं परिश्रिद्धिः  
परिश्रयणं मभिप्रेत्य तद्भिमन्वणं विधत्ते — “अयाहवनीय इति\* ।  
गार्हपत्यचयनादाहवनीयचित्तैर्वैलक्षण्यद्योतकः ‘अय’-शब्दः । आह-  
वनीयचितौ सिकतानिवपनात् पूर्वं परिश्रिक्तञ्चकान् शर्करा-

परपर्यायान् लुद्रपाषाण मभिमन्त्रयते— “चितः ख्येति \* मन्त्रेण ।  
सूत्रितं हि—“आह्वनोक्तपरिश्रितोऽभिमन्त्रयते चितः, ख्येतीति† ।  
परिश्रितविधिशेषः मर्थवादवाक्यं प्रागाप्नातम् ‡— “योनिर्वै परि-  
श्रित्”—इत्यादिना सतिदिशति— “तस्योक्त इति । ‘तस्य’ परि-  
श्रयणस्य विधिशेष उक्तः ।

सिकतानिवपनं विधाय स्तौति— “अथ सिकतानिवपतीति ।  
‘अथ’ परिश्रयणान्तरम् । “रेतो वा इत्याद्युक्तार्थः, § ॥ ११ ॥  
न्युप्तानां सिकतानां समन्त्रक मभिमर्शनं विधत्ते—  
“अथाह्वनोय इति ॥ । अह्वनीयस्थाने न्युप्ताना मेव सिकता-  
नाम् ‘आप्यायनवतीभ्यां’ आप्यायतिधातुनिष्पन्नशब्दयुक्ताभ्याम्,  
“आप्यायस्वसन्ते ¶”—इत्येताभ्या मृग्भ्या मभिमर्शनं कर्त्तव्य  
मित्यर्थः । अवधारणफलमाह— “न गार्हपत्य इति । एतदेवो-  
पपादयति— “अयं वा इत्यादिना । ‘अस्मिंल्लोके जातः’ ‘अयम्’  
‘यजमानः’—इत्ययं मर्थः । ‘अर्धः’ प्रत्यक्षसिद्धः, न यत्नसम्पाद्यः ।  
‘स्वर्गे लोके एव’ हि ‘प्रजिजनयिषितव्यः’ प्रजनयितुं प्रकर्षेणोत्पा-  
दयितुमिष्टः, अतः स्वर्गलोकसंस्तुते ‘गार्हपत्ये’ तत्र स्वभावेन एव  
जातत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

\* वा० सं० १२. ४६. ३ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. ६ ख ।

‡ पुरस्तात् १५३ पृ० १५ पं० दृश्यम् ।

§ पूर्वमेहेव ६-कण्ठीभाष्यं दृश्यम् ( १७० पृ० ) ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ३. १६ ।

¶ वा० सं० १२. ११२, ११३ ।

अथ लोकेष्टकानां सुपधानं विधत्ते— “अथेति \* । तदेतत् प्रशंसति—, “इमे वै लोका इति । ‘इमे’ खलु पृथिव्यादयस्त्रयो ‘लोकाः’ । ‘एषः’ एव खलु ‘अग्निः’ । लोकसंलुताभिस्त्रिभिर्यजमानाभिर्युक्तत्वात् लोकत एव सिद्धाः लोष्टरूपा इष्टकां ‘लोकेष्टकाः’, परोक्षं ‘लोगेष्टका इत्युच्यन्ते † । तथाविधत्वं च तैत्तिरीये आन्नायते— “दिग्भ्यो लोष्टान् समस्यति, दिशा मेव वीर्यं भवत्यर्थः”—इति ‡ लोकसम्बन्धिन्यः प्राच्यादिदिशः ता लोकेष्टकाः । अतस्तदुपधानेन ‘एषु’ एव लोकेषु ता एव ‘दिशः’ स्थापयति । ‘तस्मात्’ एव कारणात् ‘इमाः’ प्राच्यादि-‘दिशः’ ‘एषु लोकेषु’ दृश्यन्ते ॥ १३ ॥

वेदेर्बाह्यदेशिनेष्टकानां मांहरणं विधाय स्तीति— “बाह्ये-  
नाग्नि मिति । अग्निबाह्येन अग्निक्षेत्राद्बाह्यदेशिनेता इष्टकाः  
‘आहरति’ । “आप्ता वा इत्यादि । ‘अस्य’ अग्नेः यजमानस्य  
वा ‘ता दिशः’ ‘आप्ताः’ प्राप्ताः । ‘याः’ इमाः ‘एषु’ लोकेषु  
दृश्यन्ते । ‘अथ’ या ‘दिशः’ ‘इमान् लोकान्’ परेण एभ्यो लोकेभ्यो  
बहिर्वर्त्तन्ते, ‘अस्मिन्’ अग्नी ‘एतत्’ एतेन बाह्यदेशादाहरणेन  
‘दधाति’ धारयति ॥ १४ ॥

आहरणस्याग्निक्षेत्रापेक्षया बहिर्देशसम्बन्धः, वेद्यपेक्षयापि  
तथात्वं विधत्ते— “बहिर्वेदेरिति § । अग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वात् ततो  
बहिराहरणम्, लोकत्रयाद् बहिरवस्थितानां दिशा मासिष्ठेतु-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. ११ ।

† ‘लोगेष्टकाः ऋत्स्वच्छानि’—इति कर्काचार्यः ।

‡ तै० सं० ५. २. ५. २० दृश्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

श्रित्युक्तम् ; इदानीं तु वेदेर्भूमिरूपत्वात् अस्या बहिरवस्थिताः  
यावत्यो दिशः , तासां प्रात्यर्थं वेदिवाङ्मदेशादाहरणं मित्यभिप्रे-  
तोऽर्थः । “अद् या इमां परेणिति । ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘परेण’  
परस्ताद् , बहिरित्यर्थः । “एनबन्धतरस्याम्”—इति \* परशब्दा-  
देनम् , “एनपा द्वितीया” † ॥ १५ ॥

विहितं लोकेष्टकोपधानं मनुष्यं प्रकारान्तरेण स्तीति—  
“यद्देवेति । ‘विह्वस्तस्य’ विह्वस्तावयवस्येत्यर्थः । ‘सर्वाः’ प्राच्यादि-  
‘दिशः’ अतु लक्ष्यं तदीयो ‘रसः’ व्यञ्जरत्-विविधं मञ्जरत् , ‘यत्’  
यस्मिन् देशे ‘तं’ तथाविधं प्रजापतिं ‘देवाः’ ‘समस्कुर्वन्’ चित्वा-  
न्निरूपेण संस्कृतवन्तः । “अडभ्यासव्यवायेऽपीति ‡ कात् पूर्वः  
सुट् तत्र ‘अस्मिन्’ अग्न्यात्मके प्रजापती ‘एताभिर्लोकैश्चकाभिः  
तं रसम्’ ‘अदधुः’ स्थापितवन्तः । एव मेव ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘अयं’  
यजमानोऽपि ‘एतद्’ रसं ‘दधाति’ धारयति , लोकेष्टकोपधा-  
नेनेत्यर्थः ॥ १६ ॥

आहरणस्याग्निवाङ्मत्वं मनुष्यं स्तीति— “वाङ्मेनेति ।  
पूर्ववदेनम् § , अत एव ‘अग्निम्’ इति द्वितीया ॥ ; अग्नेर्वाङ्मदेशे-  
नेत्यर्थः । “आप्तो वा अस्येत्यादि । “आप्ता वा अस्य ता दिश  
इत्यादिवद् ¶ व्याख्येयः । “इमान् लोकान् पराङ् रस इति ।  
‘इमान्’ पृथिव्यादिलोकान् विहाय परागतो रस इत्यर्थः ॥ १७ ॥

\* पा० सू० ५. ३. ३५ ।

† पा० सू० ३. ३. ३१ ।

‡ पा० सू० १. १४० सू० १ वा० ।

§, ॥ इहेव पूर्वच (\*, †) टीप्यन्तौ द्रष्टव्ये ।

¶ इहेव पूर्वच १७४ पृ० द्रष्टव्यम् ।

बहिर्वेदेरित्येतदपि अनुद्य पृथिवीसकाशाद् बहिर्भूतरक्तं  
स्थापनं हेतुत्वेन स्तौति — “बहिर्वेदेरिति । आहरतीति शेषः ।  
एतदपि पूर्ववद् व्याख्यातप्रायम् \* । “इमां पराङ् इति †  
इमा मतिक्रम्य परागतो रसः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

इत्थं लोकेष्टकाना माहरणे अग्नेर्वेदेश वाञ्छी देशो विहितः ;  
अथ तत्र साधनं विधाय स्तौति — “स्फोनेति । “वञ्चो वै स्फा  
इति, त्रेधा भग्नस्य वञ्चस्त्रांशत्वात् स्फास्य वञ्चात्मकता । तथाहि  
तैत्तिरीयकम् — “इन्द्रो इत्राय वञ्चं प्राहरत्, स त्रेधा व्यभवत्,  
स्फास्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयं मिति ‡ । इत्राहरवधहेतुत्वात्  
स वञ्चो वीर्यात्मकः । ‘इयं’ वेदिलक्षणा भूमिः ‘वित्तिः’ लब्धव्या  
धनरूपा, तथा च स्फोनाहरन् वञ्चरूपेण ‘वीर्येण’ एव ‘वित्तिं’  
लब्धव्यां भूमिं ‘विन्दते’ लभते ॥ १९ ॥

अथ पूर्वस्माद्दिग्भागादाहरणं समन्त्रकं विधत्ते — “स पुरस्ता-  
दाहरतीति § । ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्थाः दिशः सकाशात्लोकेष्टकां स्फोने  
‘आहरति’ । पञ्चमर्थे अस्मातिः § । “मा मा हिंसीदिति ॥ तन्मन्त्रः ।  
‘यः पृथिव्याः’ ‘जनिता’ जनयिता ‘स मां’ ‘मा हिंसीत्’ मा  
वध्निष्ट । य इति सर्वनाम्ना कृत्स्नजगत्कारणत्वेन प्रसिद्धः प्रजापति-  
रेव प्रतिपाद्यते इत्याह — “प्रजापतिर्वा इति । ‘पृथिव्यै’ इति  
षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ¶ । ‘जनिता’ जनयिता “जनिता मन्त्रे”

\* इहेव पुरस्तात् १५ क० भार्य (१७४ पृ०) इत्यम् ।

† ते० सं० ५. २. ६. ४१ ।

‡ का० औ० छ० १७. ३. ११ ।

§ पा० छ० ५. ३. २७ ।

॥ वा० सं० १२. १०२ । † पा० छ० २. ३. ६२ छ० १. ५० ।

इति \* । निपातनाद्विषोपः । उक्त मर्थं योजयति— “मा मा  
हिसीत् प्रजापतिरित्येतदिति ।

द्वितीयपाद मनुष्य तत्र व्यानडिति क्रियापदस्यार्थं माह—  
“यो वा दिव मिति । ‘सत्यधर्मा’ सत्य मवितथं धर्मं साधारण-  
शक्तिर्यस्य तादृशो ‘यः’ ‘दिवं’ ‘व्यानट्’ व्याप्नोत् । व्यापन मत्र  
सर्जन मेवेत्याह— “असृजतेत्येतदिति । “मनुष्या वा इत्यादि ।  
‘चन्द्राः’ आङ्गादिकाः, ‘आपः’ रेतोरूपाः । अनेन च कारण-  
वाचिशब्देन कार्यभूता मनुष्या एवोच्यन्त इत्यर्थः । अत एव  
छान्दोग्ये समान्नातम्— “पञ्चम्या माहुतावापः पुरुषवचसो  
भवन्तीति † । पर्यवसित मर्थं माह— “मनुष्यान् प्रथम इति ।  
सर्वप्राणिभ्यः पूर्वं मुत्पन्नत्वात् प्रजापतिरेव प्रथमः । अत एवा-  
न्नातम्— “हिरण्यगर्भः समवर्त्तताय इति ‡ ।

चतुर्थपाद मनुष्य तत्र ‘किं’-शब्दस्यार्थं माह— “प्रजापतिर्वै  
क इति । निरुक्तानिरुक्तरूपत्वेनानिर्द्धारितस्वरूपत्वात् किं-  
शब्दः प्रजापतेर्वाचक इत्यर्थः । एवम्भूतो यः ‘तस्मै देवाय’  
“क्रियाग्रहण मपि कर्त्तव्य मिति § कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ।  
तं देवं ‘हविषा’ ‘विधेम’ परिचरेमेति, विदधातिः परिचरणार्थः ॥

एव माहताया इष्टकायाः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते—  
“ता माहृत्येति । परिश्रित्तञ्ज्ञाना मुपहितानां शर्कराणा  
मभ्यन्तरदेशे आत्मनि ता मुपदध्यात् स्थापयेत् । तस्य प्रयोजन

\* पा० ६. ४. ५३ सू० ।

† छा० उप० ५. ६. १ द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० १३. ४ ।

§ पा० १. ४. ३२ सू० १ वा० ।

माह— “स य इति । ‘स यः’ प्रसिद्धो यो ‘रसः’ विश्वस्तात् प्रजापतिशरीरात् ‘प्राच्यां दिशि’ ‘अत्यक्षरत्’ अतिक्रम्य सतोऽभ्यत्, अर्तनोपधानेन, ‘तम्’ एव रसम् ‘अस्मिन्’ प्रजापतिरूपेऽन्वौ पुनः स्थापयति । ‘अथो’ अपि च ‘प्राची’ द्विक्रमव्याप्ता मेव दिशम् ‘अस्मिन्’ स्थापितवान् भवति ॥ २० ॥

दक्षिणस्या दिश आहरणं समन्त्रकं विधत्ते— “अथ दक्षिणत इति । पञ्चम्यर्थे तसिः \* । आहरतीति शेषः । अथ वा धूर्वदिग्भागात् यत् आहरणम्, तदनन्तरं दक्षिणस्या दिशः सकाशात् लोकेष्टका माहरतीत्यर्थः । “अभ्यावर्त्तसेति † तन्मन्त्रः । पूर्वाक्षेप्य निगदव्याख्यातत्वं माह— “यथैव यजुस्तथा बभ्रुरिति । यजुर्वाक्यं यथैव श्रूयते, तादृगीव तद्व्याख्यायकं ब्राह्मणवाक्यम् ; अतः स्पष्टार्थत्वात् पृथग् व्याख्यायत इत्यर्थः ।

उत्तरार्धे मनुष्य तत्र वपाशब्दस्यार्थं माह— “यद्वै किञ्चेति । अस्मां पृथिव्यां यदेव किञ्चिद् वसु तरुगुल्मादिकं दृश्यते, स एतन् ‘अस्मै’ ‘वपा’ विधेया । सेति नपुंसकलिङ्गार्थो निर्देशः ‡ । प्रथमं चतुर्थी § । अथ मर्थः— हे पृथिवि ! ‘यज्ञेन’ यागसाधनेन ‘पयसा’ पयोलेखनेन ‘रवेन’ सह अन्नदभिमुखं मावर्त्तस्व । ‘इषितः’ प्रेरितो दोषोऽयं मग्निः त्वदीयं तरुगुल्मादिरूपम् ‘अरौ इति’ अधितिष्ठति । आहूतायास्तासाः स्तानविशेषे उपधानं विधत्ते—

\* पा० सू० ५. ३. ७ ।

† वा० सं १२. १०३ ।

‡ ‘सेति पुंलिङ्गनिर्देशः’— इति ङ-पाठः ।

§ पा० २. ३. ६२ सू० वा० ।

“ता माहृत्येति । ‘तां’ लोकेष्टकां दक्षिणदिग्भागाद् बह्विन्देः  
‘आहृत्य’ पक्षसन्धि मन्तरेण’ दक्षिणपक्षस्य आत्मभागस्य च यः  
सन्धिप्रदेशः, तस्माभ्यन्तरे आत्मभागे स्थापयेदित्यर्थः । अनेनापि  
पूर्ववद्द्रसस्थापनं दिक्स्थापनज्ञानं कृतं भवतीत्याह— “स यो  
दक्षिणाया मिति ॥ २१ ॥

प्रतीच्यां दिशि समन्वकं लोकेष्टकाया आहरणं विधत्ते—  
“अथ पथादिति \* । ‘अथ’ अनन्तरं प्रतीच्याः दिशः सकाशात्  
स्केन लोकेष्टका माहरतीति शेषः । तन्मन्त्रः— “अग्ने यत्त  
इति † । अत्रान्निशब्देन तदधिष्ठिता भूमिरेव अग्नेदोपचारे-  
णोच्यत इत्याह— “इयं वा अग्निरिति । ‘अस्यै’ पृथिव्यै ‡  
तादर्थ्यं चतुर्थी । पूर्वोक्तेन प्रार्थनं पृथिव्यर्थं मित्यर्थः । तृतीय-  
पादं मनूय देवशब्दस्य विवक्षितं मर्थं माह— “तदस्मै देवा-  
येति । एतदग्निचयनाख्यं कर्मैवात्र देवशब्दस्वार्थः । चिति-  
रूपावयवभेदापेक्षया बहुवचनं मित्यभिप्रायः ॥

अर्थस्तु— हे पृथिवि ! त्वदीयं यत् ‘शुक्रं’ रसवद्द्रवम्, यच्च  
‘चन्द्रम्’ आह्लादकरम्, तथा ‘पूतं’ शुद्धम्, ‘यज्ञियं’ यज्ञार्हञ्च  
यदस्ति, ‘तत्’ ‘अस्मै’ अग्न्याख्याय देवाय ‘कर्मणे’ आहरामं  
इति । ‘तां’ लोकेष्टकाम् ‘आहृत्य’ इत्यादि पूर्ववत् † । “शुष्क-  
सन्धि मिति । पक्षाकारस्य चित्वाग्नेः पुच्छस्यात्मभागस्य च यः  
सन्धिः, ‘तम्’ अन्तरेण’ तस्य मध्ये ‘आत्मन्’ आत्मनि । अन्यद्  
गतार्थम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

† वा० सं० १२. १०४ ।

‡ एतत्पूर्वकण्ठीभाष्यं ( १ पं० ) द्रष्टव्यम् ।



साक्षात्पश्चादाहरणं निषेधति— “स न सम्प्रतीति । ‘सः’ अर्ह्युः †, ‘सम्प्रति’ मुख्या या प्रतीची दिक्, तत्सकाशात् ‘नाहरेत्’ । निषेधुरभिप्राय माह— “नेद्यन्नपथादिति । यन्नस्य पन्थाः यन्नपथः, अग्नेः पाशाख्यो देशो हविर्दानादिः ; ततः सकाशात् नैव \* रस माहुराणीति । यदि खलु तादृग्विधात्साक्षात्पश्चाद्गादाहरेत्, तर्हि प्रजापतिसम्बन्धिनो विस्रस्तरसस्याहृतत्वात् तत्र करिष्यमाणो यज्ञो नीरसः स्यादित्यभिप्रायः । कथं तर्हि तत्राहरणं मित्यत आह— “इत इवेति । ‘इतः’ प्रतीच्या दिग् ‘इव’, न तु साक्षात् प्रतीच्या दिग्, उत्तरापरस्या दिग् आहरेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन— “उत्तरापरस्याः पथादिति † ॥ २२ ॥

उत्तरस्या दिग् आहरणं विधत्ते— “अथोत्तरत इति । आहरेतीति शेषः । “इष सूक्तं मित्याहरणमन्त्रः ‡ । ‘आदम्’-इतिक्रियापदस्यार्थं माह— “आदद् इत्येतदिति । मनसा यथार्थं सङ्कल्पनम् ‘ऋतम्’, यथार्थभाषणं ‘सत्यम्’ । अत्र तु “ऋतस्य योनिम्”-इति § मन्त्रभागे तादृशो भेदो न विवक्षित इत्यभिप्रेत्याह— “सत्यं वा ऋत मिति । “महिषस्य धारा मिति । महिषशब्दस्यार्थं माह— “अग्निर्वै महिष इति । कथं मस्य महिषशब्दाभिधेयतेत्याशङ्क्य तन्निरूपते— “स हीदं जात इति । ‘सः’ खल्वग्निः ‘इदस्’ इदानीं ‘जातः’ जातमात्र एव ‘महान्’

\* ‘नेद्’-इति च-पाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

‡ वा० सं० १२. १०५ ।

§ वा० सं० १२. १०५ ख ।

अतिरिक्तो \* भूत्वा 'सर्व' जगत् 'ऐष्यात्' व्याप्नोत्, अतो महत्त्वा-  
देषित्वाच्च महिषशब्दाभिधेयः सम्यक् इत्यर्थः । 'ऐष्यात्'-  
इति "इष आभो ऋष" - इत्यस्मात्तु १ । तृतीयं पादं मनूय तत्र  
तनूशब्दस्यार्थं मभिधाय योजयति— "आ मेति । तनूष्विति  
बहुवचनम् तेन बहुवचनोपेत आत्मा देह उच्यते । गत मन्वत् ॥

मन्वार्थस्तु— 'इषम्' इष्यमाण मन्त्रम् । 'जर्ज' बलकरं रसम् ।  
'इतः' अस्या उदोद्या दिशः सकाशादहम् 'आददे' । किंविशि-  
ष्टम् ? 'ऋतस्य' सत्यस्य यथार्थफलस्य यज्ञस्य 'योनिः' कारणम्,  
'महिषस्य' महतोऽग्नेः 'धारा' धाराप्रवाहभूता तदस्माधिताम् ।  
ईदृशी च सा, मा मुद्दिश्य मदीयास्तु 'गोषु' 'तनूषु' शरीरेषु  
'आविशतु'—इति चतुर्थेन पादेन सम्बन्धः ॥

तस्यां दिशि सिकतानां प्रध्वंसनं विधत्ते— "जहामीति ।  
अत एवोक्तां कात्यायनेन— "उत्तरस्याः सिकताः प्रमार्ष्टि जहामि  
सेदि मिति † ॥

मन्वस्यार्थं माह— "तथैवेति । 'तत्' तत्र 'यैव' खलु  
'सेदिः' अवसादापरपर्याया हानिः, या च 'अनिरा' इरा  
अन्नं तदभावरूपा पीडा, 'या' च 'अमीवा' रोगालिका ।  
'ताम्' एतस्याम्' उत्तरस्यां 'दिशि' एतन्मन्त्रकरणकेन सिकता-  
प्रध्वंसनेन स्थापयति । इरादीनां तत् आहृतत्वादिति भावः ।  
एतच्च तत्कार्यदर्शनादवगम्यत इत्याह— "तस्मादिति । यस्माद्  
अवसादादीनि स्थापितानि, तस्मादेतस्यां सुत्तरस्यां दिशि

\* 'अविवेकी'—इति उ, च ।

† क्रमा० प० ५३ ध्रु० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १३ ।

सर्वाः 'प्रजाः' 'अशनायुक्ताः' अशनाया अशनेच्छा क्षुधा , तया पीडिता अट्टश्यन्त इत्यर्थः ॥

“ता माह्वत्येत्यादि पूर्ववत् \* ॥ २३ ॥ .

अथैताः सम्भूय प्रशंसति— “ता एता दिश इति । 'ताः' प्राच्यादिदिक्षु क्रमेणोपहिताः 'एताः' इष्टकाः 'दिशः' दिशाभिकाः , 'ताः' सर्वाभ्यो दिग्भ्यः आह्वत्य 'उपदधाति' । तेन चोपधानेन 'सर्वतः' एव 'दिशः' 'दधाति' स्थापयति । 'तस्मात्' एव कारणात् इदानीं सर्वतो दिशो दृश्यन्ते ।

धर्मविशेषं विधाय स्तौति— “सर्वतः समीचीरिति † । सर्वासु दिक्षु 'समीचीः' सङ्गतदिगाभिसुख्यं गता उपदधाति , न तु तिर्यक्त्वेनेत्यर्थः । 'तत्' तेन 'सर्वतः' दिश एव 'समीचीः' अन्नूचीनायाः स्थापयति । “तस्मादिति फलनिर्देशः । उपधानादीनां पृथगनुष्ठानं विधत्ते— “ता नानोपदधातीति । प्रतीष्टकं समन्त्रकं स्थापनं पृथगेव कर्त्तव्यम् , “तया देवतयेति स्नादन मपि पृथक् , “ता अस्येति सूददोहसा मन्त्रेणाधिवदन मपि पृथक् । तत्र कारण माह— “नाना हीति । 'हि' यस्मात् 'दिशः' परस्परं विभिन्नाः , अतो दिक्कंसुताना मयासां पृथगुपधानादिकं युक्तमित्यर्थः । तस्मिन्नुपधाने स्थितिगुणं विधत्ते— “तिष्ठन्निति । 'तिष्ठन्' , न तु आसीन्न इत्यर्थः । “तिष्ठन्तीव हि दिश इति । प्राज्ञायाः 'दिशः' अपि 'हि' 'तिष्ठन्तीव' अर्थाकारतया दृश्यमानाः स्थितियुक्ता इव लक्ष्यन्त इत्यर्थः ।

\* २१-कच्छीभाष्यं ( १७६ पृ० , १ पं० ) दृश्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. १४ ।

‘अथो’ अपि च आसीनात् पुरुषात् ‘तिष्ठन्’ खलु ‘वीर्यवत्तरः’  
अधिकवीर्यवान् । इतोऽपि तिष्ठता उपधेया इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथासां समन्वकत्व मन्व्य अग्निक्षेत्रस्यात्मभागे एवोपधानं  
प्रतिपादयति— “ता एता इति । “यजुष्यत्व इति । करण-  
भूतैर्यजुर्मन्वैर्युक्ता इत्यर्थः । ‘ताः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि आत्मभागे  
एव ‘उपदधाति’ । अवधारणफल माह— “न पचेति । तत्र  
कारण माह— “आत्मन् ह्येवेति । आत्मभागे एव हि यजु-  
र्मन्वोपधेया वक्ष्यमाणा इष्टका उपधेयन्ते ; अत एवासां  
मुपधान मपि समन्वक मित्यात्मन्वेवेति नियमद्वय मुपपन्न  
मित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथेतरैष्टकावदासां अपणाभावादशृतत्व माशङ्क्य निरस्यति  
— “तदाहुरिति । ‘अस्य’ अग्नेः ‘एताः’ लोकेष्टकाः ‘कथं’ केन  
प्रकारेण ‘पक्ताः शृताः’ पाचनसंस्कारसंस्कृताः सुशृताः \* सत्य  
उपहिताः ‘भवन्ति’-इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । ‘रसो वा एताः’-  
इति अस्योत्तरम् । विस्त्रस्तस्य प्रजापतिशरीरस्य रसरूपाः खल्वेता  
इष्टकाः ‘स्वयं शृताः’ खलु , अन्यादिपाकानपेक्षः खलु रसः ।  
परिहारान्तर माह— “अथो इति । ‘अथो’-शब्दः पक्षान्तर-  
स्योतने । एष एव हि चित्तोऽग्निः जीव्यो † भूत्वा विश्वनरसम्बन्धी  
वर्तते , ‘यत्’ किञ्चिदप्यामद्ब्रह्मम् ‘एत मग्निं वैश्वानरं’ प्राप्नोति ,  
‘तत एव’ तस्मादेव संसर्गात् ‘तत्’ सर्वं ‘पक्वं शृतं’ पाकेन  
संस्कृतं सुशृतं ‘तत्’ तत्र ‘उपहितं भवति’ इत्यर्थः ॥ २६ ॥

\* पद मेतत् छ-पुस्तकमार्गे ढश्यते ।

† ‘माथो’-इति छ-पाठः ।

चोदकप्राप्त सुत्तरवेदिनिवपनं यस्मिन् काले कर्त्तव्य मिति विधत्ते— “अथेति । लोकेष्टकोपधानानन्तर्यं मयशब्दार्थः । एतदुपपादयति— “इयं वा इत्यादिना । ‘इयं’ भूमिरेव महावेदिः, उत्तरवेदिसु द्युलोकात्मिका, लोकेष्टकात्मिका दिशः । एवं च वेद्युत्तरवेद्योर्मध्ये लोकेष्टकोपधानं द्यावापृथिव्योर्मध्ये दिशां स्थापनाय भवति । ‘तस्मात्’ कारणादिदानी मनयोर्लोकयोर्मध्ये दिशोऽलक्ष्यन्तं इत्यर्थः । उत्तरवेदेः परिमाणं विधत्ते— “तां युगमात्रौ मिति । षडशीत्यङ्गुलपरिमितं युगम् ; उक्तं ह्यापस्तम्बेन— “अष्टाशीतिशत मीषातिर्यगच्चतुःशतम्, षडशीतिर्युगं वास्येति । ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु तावन्मात्रा सुत्तरवेदिं कुर्यादित्येकं परिमाणम्, ‘चत्वारिंशत्यदां वेति परिमाणान्तरम् । चत्वारिंशत्यदानि प्रमाण मस्याः सा तथोक्ता । अनयोः प्रमाणयोर्मध्ये ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘कामयेत’ तथा कुर्यादित्यर्थः ॥

सिकतानिवपनं विधत्ते— “अथेति \* । उत्तरवेदिनिवपनानन्तर्यं मयशब्दार्थः । “तस्योक्त इति । ‘तस्य’ सिकतानिवपनस्य स्थावको वाक्यशेषः “अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकताः” —इत्यादिः † प्रागान्नात इत्यर्थः ॥ २७ ॥

तस्य निवपनस्य स्थानविशेषं विधाय स्तौति— “ता उत्तरवेदाविति । अग्निवपनक्षेत्रे युगमात्रौत्यादिलक्षणा योत्तरवेदिर्नियुक्ता, तस्यां सिकतां निवपति । “योनिर्वा, उत्तरवेदिरिति ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. १३ ।

† पुरस्तात् १ प्र० १ ब्रा० ६ क० (७भा० ४८०) इत्यम् ।

निश्चिन्तयागोत्यसिंकार्थाहवनीयस्थानत्वात् 'उत्तरवेदिः' अपि  
'योनिः'; अत एवान्निप्रणयनीयास्त्रायायते \*—“जर्षावन्तं प्रथमः  
स्रीद् योमि मिति † । 'तत्' तेन उत्तरवेदी सिक्तानां निवृपनेन  
'योनी' एव 'रितः' सिक्तं भवतीत्यर्थः । 'व्रत्' खलु 'योनी'  
सर्भाशये रितः 'सिच्यते', 'तत्' 'प्रजतिष्णु' प्रजननशीलम्,  
उत्पत्तिमद् 'भवति' ॥

अस्यात्मभागस्य ताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—“ताभिः सर्वं  
मिति । 'तत्' तेन प्रच्छादनेन 'सर्वस्मिन्नेव' आत्मनि 'रितः'  
'दधाति' स्थापयति । 'तस्मात्' एव कारणात् 'सर्वस्मादेव'  
हस्तापादादिसर्वावयवसहितात् 'आत्मनः' देहात् 'रितः' 'सम्भवति'  
उत्पद्यते । अतएव मन्त्रवर्णः—

“अङ्गादङ्गात् सश्वसि हृदयादधिजास्ये”—इति ‡ ॥ २८ ॥

अस्मिन्निवपने “अग्ने तवेति षडृचं सूक्तं § ऋणत्वेन विधत्ते—  
“अग्ने तव श्वो वय इतीति ॥ । तत्र श्व इति पदस्याभिप्रेतं मर्षं  
आह—“धूमो वा अस्येति । 'अस्य' अग्नेः 'श्वः' श्वव्यङ्गितः  
'वयः' स्वरूपं 'धूमी वै' धूमः खलु । एतदुपपादयति—“स ह्येन  
मिति । 'एनम्' अग्निम् 'असुषिन्' स्वर्गे 'लोके' 'सः' खलु धूमः  
'श्रावयति' प्रस्थापयति ; अत्राग्ने धूमं इन्द्रा यागार्थं मन्मथ  
प्राहिता इति शुक्लौकवर्त्तिनो देवा बुध्यन्त इत्यर्थः । अतोऽग्न-

\* ऐ० ब्रा० १. ५. २ । . . .

† ऋ० मं० ६. १५. १६ (ख) ।

‡ सा० वे० म० ब्रा० १प्र. ५ख. १६म ।

§ वा सं० १२. ३०६-१११ ।

॥ का० औ० सू० १७. ३. २५ ।

भाषितस्वर्यात् शृणोतिः श्रावयत्यनेनेति कारणे अपि सति \* प्रत्यये  
श्रव इति रूपं भवति ।

द्वितीयं पाद मनूय तत्रत्यं पदद्वयं व्याचष्टे— “महि  
भ्राजन्त इति । महत्प्रातिपदिकस्य अष्टब्दलोपे सति महीति  
सप्तम्यन्तं पदम् । अत्र “सुपां सुलुक्”-इति † व्यत्ययेन षष्ठ्यर्थी  
वर्त्तत इति व्याचष्टे— “महतो भ्राजन्त इति । ‘विभा’-  
शब्दस्य तेजोवाचकत्वं प्रसिद्धम्, अत्र तु भूयस्त्व मेव तेन शब्देन  
विवक्षित मित्याह— “प्रभूवसवित्वेतदिति ।

तृतीयपाद मनूय शवसेत्यस्य बल मर्थः, ‘वाज’-शब्दस्य  
चात्र मर्थ इत्याह— “बलं वै शव इति ।

चतुर्थपाद मनूय दाशुष इति पदस्यार्थं माह— “यजमानो  
वै दाश्वानिति । “दान् दाने”-इत्यस्मात् ‡ क्सी “दाश्वान्  
साह्वान्”-इति § निपातनाद् दत्तवानित्यर्थो भवति । स चात्र  
प्रकारणाद् यजमान एवेत्यभिप्रायः ॥

ऋगर्थस्तु, — हे ‘अग्ने !’ ‘तव’ सम्बन्धी ‘श्रवः’ धूमः आहुति-  
परिणामरूपत्वाद् ‘वयः’ देवाना मन्नम् । हे ‘विभावसो’ प्रभूत-  
‘धनान्ने !’ ‘महि’ महत्स्त्वव ‘अर्षयः’ अवींषि ‘भ्राजन्ते’ दीप्यन्ते ।  
किञ्च हे ‘बृहद्भानो’ महादीप्ते ! हे ‘कवे’ क्रान्तदर्शिन् !  
‘शवसा’ बलेन सहितम् ‘उकथ्यम्’ उक्थार्हे प्रशस्यं ‘अजम्’ अन्नं  
‘दाशुषे’ दत्तवते यजमानाय ‘दधासि’ प्रयच्छसीति ॥ २८ ॥

\* “ऋदोरम्”—पा० सू० ३. ३. ५७ ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ भा० उ० ८२ धा० ।

§ पा० सू० ६. १. १२ ।

॥ वा० सं १२. १०६ ।

द्वितीया वृच मध्येव मेव \* पादशो व्याचष्टे— “पावकवर्चा इति † । ‘एषः’ अग्निः ‘पावकवर्चाः’ शोधकदीप्तिः, ‘शुक्लवर्चाः’ शुक्लवर्णतेजस्क इत्येतदुभयं प्रसिद्धम् ; अतो न पृथग् व्याख्येयमिति ‘हि’-शब्दार्थः । उदियर्षीत्यस्यार्थं माह— “उद्दीप्यस इति । अग्नेरुद्गमनं नामोर्ध्वज्वलनम्, अत उद्दीप्यस इत्यकि-  
वर्थं पर्यवस्यतीत्यभिप्रायः । तृतीयपादार्थोऽपि प्रसिद्ध इति ‘हि’-शब्देनैव व्याचष्टे— “पुत्रो ह्येष इति । चतुर्थपाद मन्वूय व्याचष्टे— “इमे वा इति । ‘इमे’ खलु, ‘द्यावापृथिव्यौ’ ‘रोदसी’-शब्देन वाचे ‡ ‘एषः’ अग्निस्ते ‘उमे’ पृणक्ति, संयुक्ते करोति । केन किं मिति तदाह— “धूमेनेति । द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्त्तमानोऽय मग्निः ‘धूमेन’ उदगच्छता ‘अमू’ दिवं पृणक्ति ; आहुति-  
द्वारा जनितया ‘वृष्ट्या’ च ‘इमां’ पृथिवीं संयोजयति ॥

मन्वार्थलु— ‘पावकवर्चाः’ शोधकदीप्तिः, ‘शुक्लवर्चाः’ निर्मलदीप्तिः, ‘अनूनवर्चाः’ न्यूनतारहिततेजस्कस्य स्य, हे अग्ने ! त्वं ‘भानुना’ तेजसा ‘उदियर्षि’ उद्गच्छसि, उद्दीप्यसे, द्यावा-  
पृथिव्योर्मध्ये जातत्वात् तयोः ‘पुत्रः’ भूत्वा ‘मातरौ’ सकल-  
भूतानां निर्मात्रौ द्यावापृथिव्यौ ‘विचरन् उपावसि’ समीपगते रक्षसि । यथा लौकिकः पुत्रो माहसमीपे सञ्चरन् तां रक्षति, तद्वत् । रक्षप्रकारोऽभिधीयते— ‘उमे’ ‘रोदसी’ द्यावापृथिव्यौ क्रमात् धूमेन वृष्ट्या च ‘पृणक्ति’ संयोजयसि । “पृची सम्पन्नं”— इति § धातुः ॥ ३० ॥

\* ‘वृच मन्वूय ता मेव’—इति ङ-पाठः ।

† वा० सं० १२. १०७ ।०

‡ निघ० ३. ३०. ६ ।



तृतीया सूचं व्याचष्टे—“ऊर्जीनपादित्वादिना \* । सुशस्तिभिरिति पदं व्याचष्टे—“सुष्टुतिभिरित्येतदिति । द्वितीयतृतीययोः पादयोः ‘मन्दस्व’-‘भूरि’-शब्दावनुवादेन व्याख्याती । चतुर्थपादसु निगदसिद्ध इत्याह—“यथैव यञ्जुरिति ॥

ऋगर्थसु— हे ‘जातवेदः’ जातानां वेदितः । हे ‘ऊर्जीनपात्’ बलकरस्य अन्नरसस्य न पातयितः !, पौत्र ! वा, ‘सुशस्तिभिः’ सुष्टुतिभिः अस्मत्प्रयुक्ताभिः हृष्टो भूत्वा ‘हितः’ निहितस्त्वं ‘धौतिभिः’ क्रमभिः, प्रभाभिर्वा ‘मन्दस्व’ दीप्यस्व । ‘त्वे’ त्वयि खलु ‘इषः’ इष्यमाणान्यन्नानि ‘सन्दधुः’ संहितानि बभूवुः । इषो विशेष्यन्ते—‘भूरिवर्षसः’-इति । “वर्षः”-इति रूपनाम † । बहुरूपाः, ‘चित्रोतयः’ विचित्ररक्षणोपेताः, ‘वामजाताः’ प्रशस्तजननोपेताः ॥ ३१ ॥

चतुर्थी सूच मनुष्य व्याचष्टे—“इरज्यन्नम् इति ‡ । “मनुष्या वै जन्तव इति । जायन्ते पुरुषार्थोपयोगित्वेनोत्पद्यन्त इति जन्तवोऽत्र मनुष्याः; न तु क्रिमिकीटादय इत्यर्थः । “इरज्यतिः §” कण्डूदिदीप्तिकर्मैत्यभिप्रेत्याह—“दीप्यमान इति । द्वितीयपादे ‘रिः ॥’-शब्द-स्वार्थं माह—“रयिं दधदिति । तृतीयपादार्यः प्रसिद्ध इति ‘हि’-शब्देन व्याचष्टे—“दर्यतस्य ह्येष इति । चतुर्थपादे

\* वा० सं० १२. १०८ । .

† निघ० ३. ७. ३ ।

‡ वा० सं० १२. १०६ ।

§ कण्डा० ६ घा० ।

॥ ‘रायः’-इति ङ-पाठः, ‘रयि’-इति ह-पाठः ।

‘सानसि’-शब्दः सनातनपर्याय इति \* च व्याचष्टे— “सनातनं  
क्रतुं मिथेतदिति ॥

ऋगर्थस्तु — हे ‘अग्ने !’ ‘जन्तुभिः’ प्रशस्तजनैर्मनुष्यैर्ऋत्विग्भिः  
‘इरज्यन्’ दीव्यमानः सन् ‘प्रथयस्व’ । स्वार्थिको णिच् । प्रथस्व ,  
विस्तीर्णो भव । हे ‘अमर्त्य’ मरणरहिताग्ने ! त्वग्रसादात् ‘अस्मे’  
अस्माकं ‘दायः’ धनानि सन्तु । ब्राह्मणे तु “अस्मे रयिं  
दधदित्यर्थतो व्याख्यानम् † । तथाविधः ‘सः’ त्वं ‘दर्शतस्य’ ‘दर्श-  
नीयस्व वपुषः’ ज्वालारूपस्य शरीरस्य शोभातिशयेन ‘विराजसि’  
विशेषेण ‘दीव्यसे’, तथा ‘सानसि’ सनातनं नित्यफलविषयं ‘क्रतुं’  
यजमानसङ्ख्यं ‘पृणसि’ फलेन संयोजयसीति ॥ ३२ ॥

पञ्चमी ऋचं व्याचष्टे—“इष्कर्त्तार मिति ‡ । उपसर्गस्यादिलोप-  
श्चाद्दसः । निष्कर्त्तारम् । तथैव तैत्तिरीयैरान्नायते § । ‘अध्वरस्य’  
यज्ञस्य निःशेषेण कर्त्ता निष्कर्ता । तथैव यज्ञस्य प्रकल्पयिते-  
त्यर्थः सिद्धातीत्याह— “अध्वरो वा इति । द्वितीयपादे राधसो  
मह इति षष्ठान्तयोः सप्तम्यर्थता माह— “राधसि महतीति ।  
द्वितीयपादे ‘महि’-इतिशब्दस्य ‘महती’-शब्दपर्यायता माह—  
“महती मिषं मिथेतदिति ॥

अथ मर्थः— ‘इष्कर्त्तारं’ यज्ञस्य निःशेषेण कर्त्तारम् , अत  
एव प्रकृष्टज्ञानवन्तम् । ‘राधः’-इति धननाम ॥ । ‘महति’ प्रभूते

\* उक्त् ४ पा० १०६ सू० दृश्यम् ।

† पुरस्तात् १६१ पृ० ७ पं० दृश्यम् ।

‡ वा० सं० १२. ११० ।

§ तै० सं० ४. २. ७. १० दृश्यम् ।

॥ निघ० २. १० १७ ।

‘राधसि’ धने विषये ‘अयन्तं’ । “अयतिरैश्वर्यकर्मा” \* । ईश्वर-  
त्वेन सक्तम्, ममेति शेषः । स त्वं ‘वामस्य’ वननीयस्य धनस्य  
‘रातिं’ दानं ‘सुभगां’ शोभनां ‘महीं’ महतीम् ‘इषम्’ इष्य-  
माणं मन्त्रं च ‘सानसिं’ सनातनं चिरन्तनं गवाश्वादिपशुरूपं ‘रयिं’  
च यजमानाय ‘दधासि’ धारयसीति ॥ ३३ ॥

षष्ठी सूच मनूय पादशो व्याचष्टे — “ऋतावान मिति † ।  
यद्यपि ऋतसत्ययोर्मानसवाचिकयथार्थसङ्कल्पनतद्भाषणरूपत्वाद्  
भेदोऽस्ति, तथाप्यत्र तादृशो भेदो न विवक्षित इत्याह — “सत्यावान-  
मित्येतदिति । “अग्निर्वै महिष इति । “स हीदं जातो महा-  
ऋषर्व मैष्णरादिति ‡ तन्नामनिर्वचनस्य प्रागान्नातत्त्वादिति भावः ।  
सर्वदर्शनीयत्व मस्य प्रसिद्धं मतो न पृथग् व्याख्यातव्यं मित्यभिप्रे-  
त्याह — “विश्वदर्शतो ह्येष इति । “यज्ञो वै सुक्न मिति ।  
यद्यपि सुखवाची ‘सुक्न’-शब्दः §, तथाप्यत्र प्रकरणात्तत्त्वाधने  
यज्ञ एव तस्यार्थः । उत्तरार्धे मनूय श्रुत्कर्णपदं व्याचष्टे —  
“आश्रुत्स मिति । श्रवणशीलकर्णोपेतम्, आ समन्तात्  
श्रुत्स मिति यावत् । ‘गिरा’-इतिविशिष्टसाधनश्रवणात्  
योग्यक्रियाध्याहारेण वाक्यं पूरयति — “मनुष्या हवामह इत्येत-  
दिति ॥

ऋतार्थसु — सत्यवन्तं, महान्तं, सर्वेषां दर्शनीयम्, एव-  
भूतं मन्त्रम्, ऋत्विग्यजमानलक्षणाः ‘जनाः’ ‘सुक्नाय’ सुखसाध-

\* निघ० २. २१. ३ ।

† वा० खं० १२. १११ ।

‡ पुरस्तात् १५७ पृ० १२ पं०, ततः १८० पृ० १७ पं० ।

§ निघ० ३. ६. १६ ।

नाय यज्ञाय 'पुरो दधिरे' पुरस्कुर्वन्ति, वय मपि 'शुक्लार्णम्'  
अभिमतफलप्रार्थनं सम्भक् शृण्वन्तं, 'सप्रथस्तमम्' अतिशयित-  
कीर्त्तिवन्तं, 'दैव्यं' स्वार्थिकस्तद्धितः, देवं 'त्वा' त्वां 'गिरा'  
सुतिरूपया वाचा 'ह्वामहे' आह्वयामः । कर्त्तारो विशे-  
षन्ते— "मानुषेति । 'मानुषाणि' मनोः सम्बन्धीनि 'युगा'  
युगानि, युगलानि भूत्वा, जायापत्यात्मना युगलभूता मनुष्या  
इत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

इत्थं सिकतानिवपने करणभूतं षडृचं व्याख्याय तस्य वैश्वान-  
रान्म्यात्मकतां प्रतिपादयन् स्तौति— "स एष इति । यत्  
'एतत् षडृचं' सूक्तम्, 'एषः' साक्षात् 'वैश्वानरोऽग्निरेव', तथा-  
विधस्याग्नेः 'आरन्ध्राय' उत्पादनाय 'एव' हि 'इमाः सिकता  
न्युप्यन्ते'; तस्माद्वैश्वानरान्मकेन सूक्तेन तन्निवपनात् 'वैश्वानरं'  
तम् अग्निं 'रितोभूतं' रितोरूपेणावस्थितम्, एतस्मिंश्चेथमाषि अग्नौ  
'सिञ्चति' प्रक्षिपति । षडृचकरणकत्त्वं मनूय्य तत् सङ्घा-  
हारेण स्तौति— "षडृचेति \* । न्युप्यत इति शेषः । "संवत्सरो  
वैश्वानर इति । संवत्सरधारणेन जायमानत्वात् वैश्वानरान्मेः  
संवत्सरात्मकता ॥ ३५ ॥

सिकतानां रेतस्त्वे तस्मान्मय मवश्यं वर्णनीय मिति प्रश्न-  
पूर्वकं तदाह— "तदाहुरिति । यदीमाः सिकता रेतःसंस्तुताः,  
तत्रावश्यं तस्माधर्म्यं वक्तव्यम्,— 'किं' तदासां सिकतानां सम्बन्धि  
'रितोरूपं' रेतःसम्बन्धी-धर्मविशेष इति प्रश्नार्थः । "शुक्ला इत्या-  
द्युत्तरम् । शौक्ल मासां रेतसश्च तादात्म्यहेतुः साधारणो धर्मः ;

अथ मेकस्तादात्म्यहेतुः । 'अथो' अपि च 'पृथग्यः' सूक्ष्मपरिमाण-  
विन्दुरूपा हि सिकताः, 'रितोऽपि हि' 'पृथ्नीव' सिकतोपमैः  
सूक्ष्मपरिमाणविन्दुभिर्युक्त मिव भवति ; अथ अपरस्तादात्म्य-  
हेतुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

नन्वाद्दं रेतः, शुष्काः सिकताः, कथं मासा मार्द्रत्वलक्षणं  
रितोरूपं स्यादिति प्रश्नपूर्वकं तत् प्रतिपादयति— "तदाद्दुरिति ।  
"कथं मस्यैता इति । 'अस्य' वैश्वानरस्याग्नेः 'एताः' सिकताः  
'कथं मार्द्राः' सत्यो 'रितोरूपं' रेतसः सम्बन्धि चार्द्रत्वलक्षणं  
स्वरूपं 'भवन्तीति' प्रश्नः । "रसो वा इत्याद्युत्तरम् । गायत्र्या-  
दीनि हि 'छन्दांसि' 'रसः' ; सारवत्त्वात् । रसस्य चार्द्रत्व मन्वथ  
प्रसिद्धं मित्वाह— "आर्द्रं उ वा इति । ततः किं मित्वाह  
— "तद्यदेना इति । अस्मिन् षड्रुचे गायत्र्यादीनां सप्तानां  
छन्दसा मून्तर्भावोऽग्रे प्रतिपादयिष्यते \* ; 'तत्' तथा सति 'यत्'  
यस्माद् 'एताः' † सिकताः शब्दरसात्मकैः 'छन्दोभिर्निर्वपति',  
ततः 'एवम्' अनेन प्रकारेण खलु 'अस्य' सम्बन्धिन्यः सिकताः  
'आर्द्राः' सत्यः रेतःस्वरूपं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अथ सिकतानां शुक्ललक्षणरूपद्वयं स्तोतुं पृच्छति— "तदाद्दु-  
रिति । ननु त्रित्योऽग्निः संवत्सरात्मकः, संवत्सरश्चाहोरात्रा-  
त्मकः, तत्समुदायरूपत्वात् ; अतः सिकतोपधानं मस्यहो-  
रात्राभ्यां करणभूताभ्यां निष्पादनीयम्, तत् कथं नुपपद्यत  
इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । "हे वा इति परिहारः । 'हे' एव हि

\* इहैव परस्तात् ४१ काण्डे ( मूलम्—१६४८० १५० ) द्रष्टव्यम् ।

† 'एताः'—इति सर्वेऽतीकापुस्तकभाष्यैः, मूलपुस्तके तु मद्दृष्टेऽ  
सर्वेष्वेव 'एताः'—इति ।

‘अहोरात्रे’ पर्यावर्त्तमाने ; तत्र ‘शुक्लम्’ अहः, ‘कृष्णं’ रात्रिः ; सिकता अपि शुक्लकृष्णभेदेन द्विविधाः ; अतस्तद्वर्णयोगादेतासा सुपधानम् ‘अहोरात्राभ्याम्’ एव क्तं भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इत्थं वर्णतोऽहोरात्रसाम्यं मुक्तम्, अथ सङ्घासम्पत्तिरपि कथं मित्याशङ्कापूर्वकं प्रतिपादयति— “तदाङ्कुरिति । संवत्सर-सम्बन्धिभिः ‘अहोरात्रैः’ समानसङ्घाकाः, न्यूनाधिकसङ्घारहिताः कथम् ‘उपहिता भवन्तीति’ प्रश्नः । “अनन्तानि वा”—इत्युत्तरम् । संवत्सराणां मानक्यात् तदवयवा अहोरात्रा अप्यनन्ताः । यद्यपि “रात्राङ्गाहाः पुंसि”—इति \* पुल्लिङ्गेन भवितव्यम्, तथापि “हेमन्तशिशिवावहोरात्रे च च्छन्दसि”—इति † निपातनास्तिङ्गाद् बहुवचनान्तस्यापि नपुंसकलिङ्गता । “एव सु हास्वेत्यादि स्पष्टम् ॥

अथैतदुपधानकरणस्य षडृचस्य यच्छन्दस्तस्य समुद्रिय मिति नाम कस्मान्निमित्तादिति पृच्छति— “अथ कस्मादिति । तन्निमित्तं माह—“अनन्तो वा इति । ‘अनन्तः’ अन्तरहितः ; समाप्तिरहितः खल्वयम् समुद्रो जलनिधिः, सिकताधानन्ताः ; परिगणनानर्हत्वात् । अतस्तासां सुपधानमन्त्रसम्बन्धिनश्छन्दसोऽपि अन्तराहित्यात् समुद्रसाम्यात् समुद्रे भवं समुद्रिय मिति व्युत्पत्त्या तन्नामधेयतेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

नन्वनन्तानां सिकतानां सुपधानम् पृथक् पृथक् कथं समन्त्रकं स्यादिति पृच्छति— “तदाङ्कुरिति । “मनो वा इत्याद्युत्तरम् । मन एव हि सर्वासां सिकतानां साधारणं यजुः ; तदुच्चारणहेतुत्वात् मनसो यजुष्टम् । ‘तदिदं’ मनो-

\* पा० सू० २. ४. ३६ ।

† पा० सू० २. ४. २८ ।

रूपं 'यजुः' सर्वाः सिकताः 'अनुः'-लक्ष्य 'विभवति' प्रत्येकं व्याप्तं शक्नोति । अनेनैव हि प्रकारेण 'अस्य' चित्यस्याग्नेः 'एताः' सर्वाः सिकताः 'पृथक् नाना' 'यजुर्भिः' विभिन्नैः यजुर्मन्त्रैः 'उपहिता भवन्ति' ॥ ४० ॥

अपि एतस्मिन् षड्रुचे सप्तानां छन्दसा मन्तर्भावप्रदर्शनाय स्तौति— "तदाङ्गुरित्यादिना । 'एताः' सिकताः 'सर्वैः' गायत्र्यादिभिः सप्तभिः 'छन्दोभिः' 'कथं मुपहिता भवन्ति' । "अग्ने तव श्रवः"—इत्यादीनां षष्ठाः श्रुचां \* प्रतिनियतैकच्छन्दोरूपत्वादित्यभिप्रायेण प्रश्नः । "यदेवैना इत्युत्तरम् । 'यत्' यत एव कारणात् 'एनाः' 'एतेन' षड्रुचेन सूक्तेन 'निवपति', तेनैताः सर्वैश्छन्दोभिः उपहिता भवन्ति' ।

कथं मिति चेत्, उच्यते— गायत्र्यादीनां जगत्सप्तानां सप्तानां छन्दसां यावन्त्यक्षराणि मिलित्वा सम्पद्यन्ते, तावन्त्येतस्य षड्रुचंस्वाक्षराणि भवन्ति । तथाहि,— गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा, उष्णिगष्टाविंशत्यक्षरा, अनुष्टुभो द्वात्रिंशदक्षराणि, षड्रुचः षड्विंशत्यक्षराणि, पञ्चम्विंशत्यक्षराणि, चतुश्चत्वारिंशत् त्रिष्टुभः, अष्टाचत्वारिंशत्सप्तत्यक्षराः ; तानि च सम्भूय द्विपञ्चाशदधिकशतद्वयसङ्ख्याकानि भवन्ति ।

अस्मिन् षड्रुचे प्रथमा चत्वारिंशदक्षरा, द्वितीया एकचत्वारिंशत्, तृतीया चतुर्थी च चत्वारिंशदक्षरा, पञ्चमी-षष्ठ्योः द्विचत्वारिंशदक्षराणि ; एवं पञ्चचत्वारिंशदधिकशतद्वयसङ्ख्याकानि भवन्ति । अन्यानि सप्ताक्षराणि द्वैप्रसंयोगविभागेन

द्रष्टव्यानि । एवं समच्छन्दास्त्रसङ्गाहारेणास्मिन् षड्रुचे अन्त-  
र्भवन्ति । “एव सु हास्येति , प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ४१ ॥

उक्तत्रयप्रभागस्य पुनराहरणार्थत्वेन सिकतानिवपनं स्तौति—  
“यद्देवेति । ‘एषः’ चित्योऽग्निः विराडात्मकः ‘प्रजापतिः’ । ‘सर्वे’  
निरवशेष मेव कृत्स्नं ‘ब्रह्म’ मन्त्रजातम् , स ‘प्रजापतिः’ । ‘तत्’  
तथा सति तस्य ब्रह्मणो यदेतत् ‘उक्तत्रं’ विशेषणं स्वरूपम् ,  
तत् सिकतात्मना परिणतम् । ‘अथ ‘यत्’ तु ‘अनुक्तत्रम्’ अवि-  
नष्टं ब्रह्मणो रूपं चीयमानाग्निरूपम् । ‘तत्’ ततोऽग्नेन सिक-  
तानिवपनेन ‘ब्रह्मण उक्तत्रम्’ एव रूपं पुनः अस्मिन् प्रजापत्या-  
त्मकेऽग्नौ सन्धधातीति ॥

तासा मपरिमितत्व मनूय स्तौति— “ता असङ्गाता इति ।  
‘तद्ब्रह्मण उक्तत्रं’ रूपम् , यत् परिमाणविशिष्ट मिति , तत् को  
नाम जानीयात् ? अस्तृतासा मपरिमितत्वम् ; अपरिमित-  
स्योक्तत्ररूपस्य प्राप्ते सम्प्रदात इत्यर्थः ॥

विहदनुष्ठानं प्रशंसति— “स ह वा इति । ‘सर्वे’ निरवशेषम् ,  
‘कृत्स्नं’ सर्वावयवसहितम् । स्पष्ट मन्यत् ॥ ४२ ॥

अपरिमिताना मध्येनासां सङ्गाविशेषप्रदर्शनेन स्तुतिषिकी-  
र्षिता , तदर्थं पृच्छति— “तदाङ्कुरिति । ‘असङ्गातानाम्’  
अपरिमितानाम् ‘आसां’ सम्बन्धिनी सङ्गा कौटुशोति प्रश्नः ।  
चतुर्था सङ्गासङ्गावं प्रशंसति— “हे इत्यादिना । शुक्लकृष्णात्मना  
हैराश्यादपरिमितानां सिकतानां हित्वम् । “सप्तविंशतिशतानीति ।  
सिकताना महोरात्ररूपता प्रागुक्ता \* । संवत्सरसम्बन्धिना



मङ्गां रात्रीणाञ्च परिगच्छने सति विंशत्यधिकानि सप्तशतानि भवन्ति ; अतस्तदात्मिकानां सिकताना मपि सैव सङ्ख्या भवतीत्यर्थः । “हे हापञ्चाशे शते इति । द्विपञ्चाशदधिकद्विशत-सङ्ख्याया सङ्ख्यायाः सिकता इति ब्रूयात् । तदुपधानमन्त्रस्य षडृचस्य तावत्सङ्ख्याकाक्षरोपेतत्वात् तेषा मन्त्रराणां सिकतानाञ्च तादात्म्य मित्यर्थः ।

“अथो पञ्चविंशतिरिति । पञ्चविंशतिसङ्ख्याया सङ्ख्यायाः सिकताः कुत इत्यत आह — “पञ्चविंशं ह्येति । शरीरं हि प्रकृतिमहदादि-चतुर्विंशतितत्त्वात्मकम् , तत उत्पन्नं ‘रेतः’ पञ्चविंशं पञ्चविंशति-सङ्ख्यापूरकम् \* , रेतःसंयुताश्च सिकताः ; अतः पञ्चविंशति-सङ्ख्याकत्वं तासां प्रतिपत्तव्य मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

लोकैष्टकावत् सिकताना मथ्यात्मभागे एवोपधानं विधत्ते — “ता एता इति । इद मपि लोकैष्टकाप्रकरणस्यवाक्य-वद् व्याख्येयम् † । सिकताना मपीष्टकात्वादितरेष्टकास्त्रिव प्रसक्तं सादनं निषेधति — “न सादयतीति । “तया देवतयेति ‡ मन्त्रेण स्थापनं सादनम् , तन्न कर्त्तव्यम् । निषेधकारण माह — “नेद्रेत इति । प्रजोत्पत्तिकारणं ‘रेतः’ शुक्रम् , नैव क्वचिदेव ‘स्थाप-यानि’ इति अनेनाभिप्रायेण ; सादने हि तत् क्वचिदेव प्रतिष्ठितं स्यात् , न तु चलितं सत् गर्भाशये प्रविशेदिति भावः ॥ ४४ ॥

अथ समन्वक जेतासा मभिमर्शनं विधत्ते — “अथैता

\* शरीरनिष्ठाद्येतदन्तं नागाऽशुडुपाठसमन्वित मिरं वाक्यं ज-पुस्तके ।

† पुरस्तादिहैव २२-कण्ठीभाष्य मारभ्य दृश्यम् ( १७६ पृ० ) । का० श्रौ० सू० १७. ३. ११, १२ दृश्ये ।

‡ वा० सं० १२. २ । का० श्रौ० सू० १७. १. १२ ।

इति । 'आप्यायनवतीभ्यां' आप्यायनक्रियाप्रतिपादकः शब्दः , आप्यायनम् , उपचारात् ; तद्वतीभ्यां "आप्यायस्व"—"सन्ते"—इत्येताभ्याम् \* । "इद मेवैतदिति । 'इद मेवैतत्' सिकतात्मकं रूपं 'सिक्तं रेतः' 'आप्यायति' धातुयुक्तमन्त्रकरणकाभिमर्श-  
नेनाप्यायति प्रवर्द्धयति । यत एवैवं यज्ञे , तस्मादेव स्त्रीणां 'योनी' पुरुषैः 'सिक्तं रेतः' 'आप्यायते' शरीराकारेण परिणतं सङ्घर्षते । मन्त्रसम्बन्धिदेवताद्वारेण प्रशंसति— "सौमीभ्या मिति । सोमोऽनयोर्देवता "सास्य देवतेत्यर्थे सोमात् अण् णि" "टिड्ढाण-  
जिति ः डीप् । ऋग्भ्या मभिमृशतीति शेषः † ॥

"प्राणो वै सोम इति । प्राणस्य तावदुदकमयत्वं प्रसिद्धम् ; "आपोमयः प्राणः"—इति श्रुतेः॥ । तथाच सोमोऽपि अमृतमयरसा-  
त्मकतया प्राणोपादानत्वात् प्राण एव । 'तत्' तेन सौमीभ्या मभि-  
मर्शनेन सिकतात्मके सिक्ते रेतसि सोमात्मकं प्राण मेव स्थापयति । "तस्मात्"—इत्यादिना लोकस्थितिनिरूपणम् । यस्माद्वैदिके कर्मणि रेतसि प्राणः स्थापितः , तस्मादेव कारणात् प्राण मभिलक्ष्य प्राणसहित मेव गर्भाशये 'सिक्तं रेतः' 'सम्भवति' शरीराकारेण परिणमते । यत्तु प्राणादृते रेतः सिच्यते , तत् पूयेदेव , न शरीरा-  
कारेण सम्बध्यत इत्यर्थः । एव मेवैतरेयकैश्चान्नातम्— "न ह वा

\* वा० सं० १२. ११२, ११३ ।

† पा० सू० ४. २. २४ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १६ ।

§ पा० सू० ४. १. ३५ ।

॥ द्वा० उप० ६. ५. ४ ।

ऋते प्राणाद्भेतः सिच्यते , यदा ऋते प्राणाद्भेतः सिच्यते , पूयेन्न सन्धवेदिति ।

अस्याभिमर्शनस्य सूददोहसाधिवदनकार्यकरत्वात् तदात्मकता माह— “एषो हैवात्रेति । यत् सोमोभ्या मभिमर्शनम् , ‘एषा’ वा ‘अत्र’ सिकतोपधाने ‘सूददोहाः’ “ता अस्य सूददोहस इति \* मन्त्रकरणक मधिवदनम् ॥

कथं मन्त्रस्यान्यात्मतेत्यत आह— “प्राणो वा इति । अभिमर्शनमन्त्रप्रतिपाद्यस्य सोमस्य सूददोहसश्च प्राणात्मकत्वसाभ्यादित्यर्थः ॥ ४५ ॥

तत्र प्रथमा ऋच मनूद्याप्रसिद्धार्थं पदं व्याचष्टे— “आप्यायस्वेति । “रेतो वै हृष्या मिति । हृषा सेचनसमर्थो युवा , तत्र भवं हृष्या मिति व्युत्पत्तेः हृष्याशब्देन रेतः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥

पदार्थं मुक्त्वा वाक्यार्थं योजयति— “सर्वतः सोम रेत इत्येतदिति । “अन्नं वै वाज इति । वाजशब्दस्य “वज व्रज गती” † -इत्यस्माद् व्युत्पन्नस्य गत्यर्थत्वात् अत्र च तत्प्रतिपादकत्वायोगात् रूढ्या वाजशब्देनात्र मुच्यत इत्यर्थः । अत एव वाजशब्दोऽन्ननामसु पठ्यते— “अन्धः वाजः पय”-इति ‡ । हे सोम ! त्वम् ‘आप्यायस्व’ वर्धस्व , अस्मान् वर्धय वा । त्वदीयं ‘हृष्यां’ हृषसम्बन्धि ‘रेतः’ इमं मग्निं ‘विश्वतः’ सर्वतः ‘समेतु’ प्राप्नोतु । अन्नस्य सङ्गमनाय त्वं मस्माकं भवेति मन्वार्थः ॥

\* वा० सं० १२. ५५ । का० श्रौ० सू० १६. ७. १४ ।

† भा० प० २५२, २५३ धा० ।

‡ निघ० २. ७. २ ।

द्वितीया माध्यायनवती मनूद्याप्रसिद्धार्थानि पदानि व्याचष्टे—  
 “सन्ते पर्यासीति \* । अत्र पर्यःशब्दो रसपरः , वाजशब्दोऽन्नपरः ,  
 तथा चाय मर्थ इत्याह— “सन्ते रसा इति । द्वितीयाहं ‘अभि-  
 माति’-शब्देन पाप्मोच्यत इत्याह— “पाप्मसह इत्येतदिति ।  
 द्वितीयपादे ‘अमृत’-शब्दस्याभिप्राय माह— “प्रजात्या मिति ।  
 पुत्रपौत्रादिरूपेण यैव प्रजातिलक्षणा प्रजोत्पत्तिरूपा क्रिया  
 ‘अमृता’ , “आध्यायमान इत्यनेन मन्त्रभागेन , तस्यां प्रजा-  
 त्या ममृतत्वं स्थापयति । यस्मादेवं ‘तस्मात्’ ‘प्रजातिः’  
 प्रजोत्पत्तिः ‘अमृता’ मरणरहिता अविच्छिन्ना सार्वकालिकी  
 वर्तते इत्यर्थः । चतुर्थपादे ‘श्रवः’-शब्दस्यार्थं माह— “चन्द्र-  
 मा वा अस्य दिवि श्रव इति । ‘अस्य’ ( अधियज्ञं † ) लता-  
 रूपेण वर्त्तमानस्य सोमस्य ‘दिवि’ द्युलोके ‘उत्तमम्’ उत्कृष्टं  
 ‘श्रवः’ नाम चन्द्रमा एवोच्यते । कथं मस्य श्रवःशब्दाभिधेयतेति  
 तत् प्रतिपादयति— “स ह्येन मिति । ‘अमुष्मिन्’ स्वर्गे लोके  
 ‘सः’ खलु ‘चन्द्रमाः’ ‘एनं’ सोमम् अमृतात्मना पीयमानः सन्  
 ‘श्रावयति’ प्रस्थापयति , अतः श्रावयित्वात् श्रवःशब्देन स  
 उच्यत इत्यर्थः ॥

मन्त्रगतं द्वित्वं छन्दोविशेषश्चानूद्य ‘तस्य’ स्तावको वाक्यशेषः  
 प्रागान्नात इत्याह— “दाभ्या मिति । “द्विपाद्यजमान इत्यादि-  
 द्वित्वसङ्गस्युक्तिः ॥ ४६ ॥

लोकेष्टकादिसङ्गं सम्भूय स्तीति—“अथातः सम्पदेवेति । स्यष्टो-

\* वा० सं १२. ११३ ।

† अ-पुस्तके एषोऽधिकः पाठः ।

ऽर्थः । “यावानग्निरित्यादि । प्रागुक्तोऽर्थः \* ॥ ४७ ॥ ३ [३.१.] ॥

इति, श्रीसायणाचार्यविरचिते माध्वीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

आप्यानवतीभ्या मभिसृश्य । प्रत्येत्यातिथ्येन  
 प्रचरत्यातिथ्येन प्रचर्य प्रवर्ग्यीपसङ्गां प्रचरति  
 प्रवर्ग्यीपसङ्गां प्रचर्याथैतां चूर्मणि चितिꣳ समवश-  
 मयन्ति तद्यच्चूर्मणि चूर्म वै रूपꣳ रूपाणा मुपाप्तौ  
 लोमतो लोम वै रूपꣳ रूपाणा मुपाप्तौ रोहिते  
 रोहिते ह सर्वाणि रूपाणि सर्वाेषाꣳ रूपाणा  
 मुपाप्तौ ऽन्नानडुहे ऽग्निरेष यदनड्वानग्निरूपाणा  
 मुपाप्तौ प्राचीनग्रीवे तद्धि देवता † ॥ १ ॥

तदग्रेण गार्हपत्यम् । अन्तर्ब्बद्युत्तरलोम प्रा-  
 चीनग्रीव मुपस्तृणाति तदेतां चितिꣳ समवशम-

\* पुरस्तात् ११८ पृ० द्रष्टव्यम् ।

† 'देवता'—इति ग, घ ।

यन्मध्य प्रोक्षति तद्यत् प्रोक्षति शुद्धं मेवैतन्मध्यं करो-  
त्याज्येन तद्धि शुद्धं मेध्यं मयो ऽन्नभ्यारोहाय न  
हि किञ्चनान्यद्विराज्येन प्रोक्षन्ति तूष्णीं मनि-  
रुक्तं वै तद्यत् तूष्णीं सर्वं वा ऽन्निरुक्तं सर्वे-  
णैवैतच्छुद्धं मेध्यं करोत्यथो ऽन्नभ्यारोहाय न हि  
किञ्चनान्यद्विस्तूष्णीं प्रोक्षन्ति ॥ २ ॥

यदेव प्रोक्षति । हविर्वा ऽएतत् तदेतदभि-  
घारयति यद्वै हविरभ्यक्तं यदभिघारितं तच्छुष्टं  
तन्मध्यं माज्येनाज्येन हि हविरभिघारयन्ति तूष्णीं  
तूष्णीं हि हविरभिघारयन्ति दभैस्ते हि शुद्धा  
मेध्या अघैरयं हि देवानाम् ॥ ३ ॥

तदाहुः । यत् प्रथमा मेव चितिं प्रोक्षति  
कथं मस्यैष सर्वाऽग्निः प्रोक्षितो भवति कथं चर्मणि  
प्रणीतः कथं मश्वप्रणीत इति यदेवात्र सर्वासां  
चितीना मिष्टकाः प्रोक्षत्येव मुहाल्लेष सर्वाऽग्निः  
प्रोक्षितो भवत्येवं चर्मणि प्रणीत एव मश्वप्रणीत  
उद्यच्छत्येतां चितिम् ॥ ४ ॥

अथाहाग्निभ्यः प्रक्रियमाणेभ्योऽनुब्रूहीति । एतद्वै

देवानुपप्रैष्यत् एतं यज्ञं तस्यमानान् रुचांसि  
 नाष्टा अजिघासन्न \* यद्यध्वे न यज्ञं तस्यध्व  
 ऽद्भुति तेभ्य एतानग्नीनेता इष्टका व्यचान् क्षुर-  
 पवीन् कृत्वा प्राहरंस्त्रैरेनानस्तृष्वत तानस्तृत्वाभये  
 ऽनाष्ट एतं यज्ञं मतन्वत ॥ ५ ॥

तद्वा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं  
 नु तानि रुचांसि देवैरेवोपहतानि † यत् त्वेतत्  
 करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत् करवाणीत्यथो यद्देव रुचो  
 यः पाप्मा तेभ्य एतानग्नीनेता इष्टका व्यचान्  
 क्षुरपवीन् कृत्वा प्रहरति तैरेनानस्तृणुते ता-  
 नस्तृत्वाभयेऽनाष्ट एतं यज्ञं तनुते ॥ ६ ॥

तद्यदग्निभ्य इति । बहवो ह्येतेऽग्नयो यदे-  
 ताश्चितयोऽथ यत् प्रक्रियमाणेभ्य इति प्र हि  
 हरति ॥ ७ ॥

तद्वैकीऽन्वाहुः । पुरीष्यासो ऽअग्नयः प्राव-  
 षोभिः सजोषस इति प्रायणरूपं न तथा कुर्या-

\* 'आजिघासन्न'—इति क ।

† 'देवैरेवापहतानि'—इति क, ख ।

दाग्नेयीरेव गायत्रीः कामवतीरनुब्रूयाद् तां व्वत्सो  
मनो यमत्तुभ्यं तां अङ्गिरस्तमाग्निः प्रियेषु धाम-  
स्विति ॥ ८ ॥

आग्नेयीरन्वाह । अग्निरूपाणां सुपाप्ल्यै काम-  
वतीः कामानां सुपाप्ल्यै गायत्रीर्गायत्रीऽग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन. मेतद्रेतो भूतः  
सिञ्चति तिस्रस्त्रिष्टुप्त्वाग्निर्ग्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतद्रेतो भूतः सिञ्चति ताः सप्त सम्प-  
द्यन्ते सह त्रिरनूक्ताभ्यां सप्तचितिकोऽग्निः सप्त-  
ऽर्त्तवः संवत्सुरः संवत्सुरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावत् तद् भवत्युपाऽश्वन्वाह रेतो वा  
ऽश्वत् यज्ञ उपाऽशु वै रेतः सिञ्चते पश्चादनु-  
ब्रुवन्नन्वेति छन्दोभिरेवैतद्यज्ञं पश्चादभिरक्षन्वेति  
॥ ९ ॥

अथाश्वः शुक्लं पुरस्तान्नयन्ति । एतद्देवै देवा  
अबिभयुर्यद्देवै न इह रक्षांसि नाष्टा न हन्य-  
रिति त एतं व्वञ्च मपश्यन्न मु मेवादित्य मसौ वा  
ऽआदित्य एषो ऽश्वस्त एतेन व्वञ्चेण पुरस्ताद्



रुक्षांसि नाष्टा अपहत्याभयेऽनाष्टे स्वस्ति समा-  
 श्रुवत तथैवैतद्यजमान एतेन वृक्षेण पुरस्ताद्-  
 रुक्षांसि नाष्टा अपहत्याभयेऽनाष्टे स्वस्ति समश्रुत  
 ऽभ्रागच्छन्त्यग्निं दक्षिणातः पुच्छस्य चिति मुपनिद-  
 धत्युत्तरतोऽश्व माक्रमयन्ति ॥ १० ॥

त मुत्तरार्द्धेनाग्नेः\* । अन्तरेण परिश्रितः प्राञ्चं  
 नयन्ति तत् प्राच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति तं  
 दक्षिणा तद्दक्षिणायै दिशः पाप्मान मपहन्ति तं  
 प्रत्यञ्चं तत् प्रतीच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति त  
 मुदञ्चं तदुदीच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति सर्वाब्ध  
 एवैतद्दिग्ब्यो रुक्षांसि नाष्टा अपहत्याथैन मुदञ्चं  
 प्राञ्चं प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुः ॥ ११ ॥

तं प्रत्यञ्चं यन्तम् । एतां चिति मवघ्नापयत्यसौ  
 वा ऽभ्रादित्य एषोऽश्व इमा उ सर्वाः प्रजा या  
 इमा इष्टकास्तद्यदवघ्नापयत्यसावेव तदादित्य इमाः  
 प्रजा अभिजिघ्रति तस्माद् ह्येतत् सर्वाऽस्मीति  
 मन्यते प्रजापतेर्वीर्येण तद्यत् प्रत्यञ्चं यन्त मवघ्ना-

\* 'त मुत्तरार्द्धेनाग्ने'—इति ग, घ ।

पुयति प्रत्यङ् छेवैष यन्निमाः सूर्वाः प्रजा अभि-  
जिघ्रति ॥ १२ ॥

यद्देवावघ्नापयति । असौ वा ऽआदित्य एषो-  
ऽश्व इम ऽउ लोका एताः स्वयमात्स्यस्तद्यदव-  
घ्नापयत्यसावेव तदादित्य इमांस्त्रिकान्तसूत्रे समाव-  
यते तद्यत् तत् सूत्र मुपरि तस्य बन्धुः ॥ १३ ॥

यद्देवावघ्नापयति । अग्निर्देवेभ्य \* उदक्रामत्सो-  
ऽपः प्राविशत्तेदेवाः प्रजापति मब्रुवंस्त्वमिम मन्विच्छ  
स तुभ्यः स्वाय पितृ ऽआविर्भविष्यतीति त मश्वः  
शुक्लो भूत्वान्वैच्छत् मद्ग उपोदास्यत् पुष्करपर्णे  
व्विवेद त मभ्यवेचाञ्चक्रे स हैन मुदुवोष तस्मा-  
दश्वः शुक्ल उदुष्ट मुख इवाथो ह दरचो भावुकस्त  
मु वा ऽऋत्वेव हिंसित्वेव मेने तः होवाच व्वरं  
ते ददामीति ॥ १४ ॥

स होवाच । यस्त्वानेन रूपेणान्विच्छाद्विन्दा-  
देव त्वा स इति स यो हैन मेतेन रूपेणान्विच्छति  
व्विन्दति हैन व्वित्त्वा हैवैनं चिनुते ॥ १५ ॥

\* 'अग्निर्देवेभ्यः'—इति क ।

सु शुक्लः स्यात् । तद्देवतस्य रूपं य एष तपति  
यदि शुक्लं न विन्देदप्यशुक्लः स्यादशुक्लस्त्वेषु स्याद्य-  
द्यश्वं न विन्देदप्यनङ्गानेषु स्यादान्नेयो वा ऽअनङ्ग-  
नग्निरु सुर्वेषां पाप्मना मपहन्ता \* ॥ १६ ॥

अथातोऽधिरोहणस्यैव † । तं ह्यैकी पुरस्तात्  
प्रत्यञ्च मधिरोहन्ति पश्चाद्वा प्राञ्चं न तथा कुर्यात्  
पशुरेषु यदग्निर्यो वै पशुं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मधि-  
रोहति विषाणाभ्यां तं हन्त्यथ यः पश्चात् प्राञ्चं  
पद्भ्यां तं मात्मनैवैन मारोहेद्यं वा ऽआत्मना पशु-  
मारोहन्ति स पारयति ‡ स न हिनस्त्युत्तरतो यं  
हि कञ्चं पशुमारोहन्त्युत्तरत एवैन मारोहन्या-  
रुद्भ्याग्नि मौत्तरवेदिकं कर्म कृत्वात्मन्नग्निं गृह्णीत  
ऽआत्मन्नग्निं गृहीत्वा सत्यं साम गायति पुष्कर-  
पर्णा मुपदधाति तस्यातः § ॥ १७ ॥

अथैतं साधे भूतेऽश्वं परिणयन्ति । एतदे

\* 'मपहन्ता'—इति ग, घ ।

† 'अथातोऽधिरोहणस्यैव'—इति ग, घ ।

‡ 'मारयति'—इति क ।

§ 'तस्यातः'—इति क । 'तस्यातः'—इति ग, घ ।

देवा अविभयुर्यद्वै न इम मिह रुक्षांसि नाष्ट्रा  
 न हन्युरिति तस्मा ऽएतं वृच्च मभिगोप्तार मकु-  
 र्वन्नमु मेवादित्य मसौ वा ऽआदित्य एषोऽश्वस्तथै-  
 वास्मा ऽअथ मेतं वृच्च मभिगोप्तारं करोति ॥ १८ ॥

तं वा ऽउपास्तमय मादित्यस्य परिणयति । एष  
 वा ऽअस्य प्रत्यक्षं दिवा गोप्ता भवति रात्रि सा  
 च यान्यु वै रुक्षांसि रात्या एवास्मा ऽएतं वृच्च  
 मभिगोप्तारं करोति सर्व्वतः परिणयति सर्व्वत  
 एवास्मा ऽएतं वृच्च मभिगोप्तारं करोति त्रिष्कृत्वः  
 परिणयति त्रिवृत मेवास्मा ऽएतं वृच्च मभिगोप्तारं  
 करोत्यथैन मुदच्चं प्राञ्चं प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुरथ  
 स पुनर्व्विपल्ययति तस्योपरि बन्धुः ॥ १९ ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [३, २.] ॥

एव माह्वनीयदेशस्य संस्कारसमनन्तरं कर्त्तव्यं प्राक्तं  
 प्रयोगजात मनुक्तामयितुं प्रागुक्तयोः \* आग्निक्सीकिकयोः  
 कर्मणोर्व्यतिषङ्गं दर्शयति †— “आप्यानवतीभ्या मित्यादिना ।  
 ‘प्रत्येत्य’ उत्तरवेदिदेशात् प्राग्वंशम् प्रत्यागत्येत्यर्थः । अन्यत्

\* ‘प्रागुक्त’—इति ङ, क, ज, ।

† ‘दर्शयितुं’—इति ङ, क, ज, ।

निगदव्याख्यातम् । प्रथमं प्रवर्ग्योपसदन्तं कर्त्तव्यं मिति समुदायार्थः ॥

अनन्तर माग्निं कर्मणः प्रवेशं दर्शयति— “अथैता मिति । ‘अथ’-शब्दः प्रथमोपसदानन्तर्ये । आनडुहे लोहिते ‘चर्मणि’ ‘एतां’ प्रथमां ‘चितिं’ प्रथमचित्यर्थं मिष्टकासमूहं ‘समव-शमयन्ति’ सम्यग् घृतावोक्षणेन तप्ताना मिष्टकानां शमनं कुर्युरित्यर्थः । तस्य चर्माधिकरणतां स्तौति— “तद्यच्चर्मणि चर्म वै रूप मिति । चर्मसम्बन्धिनां \* लोम्नां नानावर्णोपेतत्वाद् असृगादीना अन्तरधातूनां त्वचाच्छादने सति रूपकरणत्वेन चर्मणो रूपात्मकता, अतश्च तस्मिन्निष्टकानिधानं सर्वेषां रूपाणां प्राप्तौ सम्पद्यत इत्यर्थः । तच्च लोमप्रदेशे कर्त्तव्यं मिति विधाय स्तौति— “लोमत इति । ‘चितिं’ समवश-मयन्ति—इत्यनुषङ्गः । लोहित्वगुणं चर्मणो विधाय स्तौति †— “रोहित इति । एतत् सर्वं कात्यायनेनापि सूत्रितम्— “आतिथ्यशेषाद्योपसदः कृत्वा रोहिते चर्मस्थानडुहेऽन्तःपात्यस्य पुरस्तादिष्टकाः करोति प्रथमचितेरिति ‡ । लोहितवर्णेषु लोमसु मूलमध्यायमेदेन शृङ्गादीनि सर्वाणि रूपाणि दृश्यन्त इत्यर्थः ॥

चर्मणोऽनडुहिकारतां विधाय स्तौति— “आनडुह इति । अनो वहतोत्यनडुहान्, तथापिघस्य बन्नीवर्द्धस्याग्निरूपत्वं प्रागान्नातम्

\* ‘चर्मसम्बन्धानां’—इति ७ ।

† लोमन इत्यारभ्य स्तौतोख्येतदन्तः पाठो न दृश्यते ७-पुस्तकादभ्यच ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १७ ।

—“अग्निदग्ध मिव वा अस्य बहं भवतीति \* । “अग्निरूपाणा-  
मिति । चित्तस्याग्नेः सम्बन्धीनि यानि रूपाणि , तेषां मध्येऽन-  
द्वानप्येकं रूपम् ; अतस्तत्सम्बन्धिनश्चर्मण आस्तरणेन तेषां अग्नि-  
रूपाणां मुक्तवक्ष्यमाणानां कारस्त्रेण प्राप्त्यर्थं सम्पद्यत इत्यर्थः ।  
स्तरणे प्रकारविशेषं विधत्ते—“प्राचीनग्रीवे इति । प्राचीना  
प्रागायता ग्रीवा यस्य तत्तद्योक्तम् , एतच्च विधेयविशेषणम् , चर्मणः  
प्राचीनग्रीवता यथा भवति तथा स्तृणीयादित्यर्थः । “तद्वि-  
देवत्वेति । ‘तद्वि’ प्राग्दिकसम्बन्धित्वं ‘देवत्वा’ देवेषु योष्यम् ;  
तस्याः दिशो देवैरात्मीयत्वेन स्वीकृतत्वात् । अत एव हि तैत्ति-  
रीयके श्रूयते—“देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवा इति † ।  
देवत्वेति “देवमनुष्येत्यादिना ‡ सप्तम्यर्थे ङा-प्रत्ययः ॥ १ ॥

उदीरितलक्षणस्य चर्मणो देशविशेषे स्तरणं विधत्ते—“तदप्ये-  
षेति । ‘गार्हपत्य मग्रेण’ गार्हपत्यचितेरदूरेण पूर्वभागे महावेदि-  
मध्ये ‘तत्’ चर्म उदीरितविशेषणविशिष्टम् ‘उपस्तृणाति’ । ‘तत्’  
‘तत्र’ ‘एतां’ प्रथमां ‘चितिं’ प्रथमचितिः पर्याप्तमिष्टकासङ्गं § ‘समव-  
शमयन्ति’ संशान्तीणां ॥ कुर्युः । आञ्चयेन प्रोक्षणं विधत्ते—  
“अथेति । औष्ण्यसंशमनानन्तरं चिति माञ्चयेन ‘प्रोक्षति’

\* पुरस्तात् ( ३६६ पृ० ) १. १. २. ६ द्रष्टव्यम् ।

† तै० सं० ६. १. १. १ ।

‡ प्रा० सू० ५.०४. ५६ ।

§ ‘सङ्घातं’—इति ङ-पाठः ।

॥ ‘सौख्यं सौख्यं’—इति ङ-पाठः , वेवरदृष्टम् ।

प्रकर्षेण सिञ्चति \* । तदेतदनूथ स्वीति— “तद्यदिति । तस्मिन् प्रोक्षणे द्रव्यं विधत्ते— “आण्येनेति । प्रोक्षतीत्यनुषङ्गः । “तच्च यद्य मिति । ‘तत्’ खल्व्वाण्यं यद्यम् ; “तेजो वै घृत मित्वादि श्रुत्या † तस्य तेजोरूपत्वप्रतिपादनात् पुरोडाशादिहविःशुद्धिहेतुत्वाच्च । अत एव ‘मिध्वं’ मिधार्हम् । ‘अथो’ अपि च ‘अनभ्यारीहाय’ अभ्यारीहण मतिक्रमणम्, आण्येन प्रोक्षण मन्तिकाक्रमणाय श्रेष्ठाय सम्पद्यते । एतदेव दर्शयति— “न हीति । इष्टकाभ्योऽन्यत् चरुपुरोडाशादिकं कि मपि हविर्न हि आण्यकरणेन प्रोक्षणेन संस्क्रियते ; उदकेनैव हि तस्य प्रोक्षणम् ; अश्विलक्षणेन तेजोरूपेणाण्येनेष्टकानां प्रोक्षणम्, चित्तेः पादसंस्पर्शविरहरूपानभ्यारीहणाय भवतीत्यर्थः । प्रोक्षणस्वात्मिकत्वं विधाय स्वीति— “तूष्णी मिति । “अनिरक्तं वा इत्यादि गतम् ‡ । न हि अन्यत्र तूष्णीं प्रोक्षण मस्ति, अतस्तदेतदण्येनेष्टकाप्रोक्षणस्य सर्वात्मकानिरक्तत्वसम्पादनं तस्य चित्वाङ्गेरन्तिक्रमणीयत्वाच्च कल्प्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अथैतत् प्रोक्षण मन्मूथ हविष्टसम्पादनद्वारा स्वीति— “यदेवेति । “हविर्वा इत्यादि यत्, तदिष्टकारूपं हविः खलु हविरिष देवानां तप्तिकारम् ; अतस्तदेतदिष्टकारूपं हविः आण्यप्रोक्षणेन ‘अभिचारयति’ अभितो घृतधारया सिञ्चति । तस्य प्रयोजन माह— “यहा इति । ‘यत्’ खलु पुरोडाशादिकं ‘हविः’ अभितः सर्वतः

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० क ।

† ते० सं० २. २. ६. ७ ।

‡ पुरस्तात् १२४ प० ४ पं० ( ७. २. १. ३ ) द्रष्टव्यम् ।

आज्येन 'अक्तं' सिक्तं 'यत्' च 'अभिघ्नारितम्' उपदि कृतभारवा  
 संस्कृतम्, 'तत्' 'सुष्टं' देवेः सेवितं योग्यम्, अत एव 'तत्' 'मिथ्यम्'  
 यच्चाहम् । आज्यकरणकत्वा मन्वूयः स्वीति—“आज्येनेति । इविषां  
 वाकसमये सुष्टुतत्त्वे सति आज्येन स्वल्पभिषारणं क्रियते, अतो-  
 ऽजाप्याज्येन प्रोक्षणं युक्तं मिति । अमन्वकृत्यतः मन्वूयः स्वीति  
 —“तूष्णीं मिति । आज्यप्रोक्षणे कारणविशेषं विधाय स्वीति—  
 “दभैरिति । दभैः कारणभूतेराज्याभ्यक्तैस्तात् प्रोक्षणं कर्त्तव्यं  
 मित्यर्थः । “ते हि शुद्धा इति । “ता हैता अनापूर्यिता चापो  
 यद्भर्मा इति \* अतस्तेषां शुद्धत्वम् । तथाप्यप्रभागैः कर्त्तव्यं मिति  
 विधायोपपादयति—“अप्रैरिति । “अप्रं हीति । दभैर्दुःश्रयभागो  
 देवानां सम्बन्धी ; अत एवान्यत्रान्नातम्—“यत् पक्षि दिनं  
 तद्देवानां, यदन्तरा तन्ननुष्णाणां, यत् समूलं तत् पितृष्व  
 मिति † ॥ ३ ॥

प्रथमचित्प्रोक्षणसमये द्वितीयतृतीयादिचित्कर्त्तव्यानां मिष्ट-  
 कानां प्रोक्षणं विधिस्तन् ॥ ऋद्धवादिनां प्रश्न मवतारयति—  
 “तदाहु रिति । प्रथमा भेदस्थेवकारेण प्रोक्षणस्यान्ययोगव्यावृत्तिः  
 सूच्यते । एवं प्रथमचित्तेरेव प्रोक्षणात् सप्तचित्त्वात्कश्च एषो-  
 ऽग्निरस्य यजमानस्य कथं प्रोक्षितो भवति ? न क्लेशदेय-  
 प्रोक्षणे कर्त्तव्योऽग्निः प्रोक्षणसंस्कारसंस्कृतो भवतीत्यर्थः ; तथा  
 प्रागुक्तानुष्ठर्म्मणि द्वितीयादिचित्तीनां प्रणयनं कथम् ? अत्र-

\* १ का० १ प्र० ३ ब्रा० ५ क० ( १भा० ६० पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† तै० ब्रा० १. ६. ८. ६, ७ ।

‡ 'विधित्'—इति चभाटः ।



सहितं प्रणयनञ्च कथं सिध्यति ? इति त्रयः प्रश्नाः । अस्योत्तर-  
माह—“यदैवालेति । ‘अत्र’ अस्मिन् समये ‘सर्वासां चितीनां’  
सम्बन्धिनीः ‘इष्टकाः’ आज्येन दर्भाभिः ‘प्रोक्षति’ इति यदस्ति,  
‘एवम्’ एव अनेन प्रकारेणैव खलु ‘अस्य’ यजमानस्य ‘एषः सर्वः’  
सप्तचितिकः ‘अग्निः’ ‘प्रोक्षितो भवति’ । एव मेव चर्माधि-  
करणकप्रणयन मञ्जसहितप्रणयनं चास्मादेव प्रोक्षणात् सिध्य-  
तीत्यर्थः । अथ चर्मस्थवस्थितानां प्रथमचित्त्वर्धानां मिष्टकानां  
सुदृग्दृष्टं विधत्ते—“उद्यच्छन्तीति । चर्मणः सकाशादिष्टका  
उदृष्टञ्चन्ति यजमानपरिचारकाः ॥ ४ ॥

अथाहवनीयदेशं प्रति निनयनं विधिस्तदर्थं होतार  
मुद्दिश्याध्वर्योः सम्प्रैषवचनं विधत्ते—“अथाहेति । “अग्निभ्यः  
प्रक्षियमाणेभ्योऽनुब्रूहि”—इति सम्प्रैष मध्वर्युर्ब्रूयात् । बहुवचनान्ते-  
नाग्निशब्देनान्यवयववाक्षितयो विवक्षिताः \* । आहवनीयदेशं प्रति  
प्राचीनं क्षियमाणेभ्य इष्टकारूपेभ्योऽन्यवयवेभ्यः “हे होतरनु-  
ब्रूहि”—इति प्रैषार्थः † । तच्चानुवचनं होतुराश्वलायनेन दर्शि-  
तम्—“प्रेषितः पुरीथ्यसञ्चितयेऽन्वाहेति प्रक्षम्य पुरीथ्यासो  
अग्नय इति ‡ त्रिरुपांश्च सप्रणवा मिति । एतच्चाप्ये एकौय-  
मतत्वेनोपन्यस्य पञ्चान्तर मप्यान्वास्वते—“आग्नेयोरन्वाहेति § ।  
सम्प्रैषानन्तरम् प्रथमचित्त्वर्धानां मिष्टकानां पूर्वस्थां दिशि हरणं

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २१ ।

† ‘सम्प्रैषार्थः’—इति च-पाठः ।

‡ वा० सं १२. ५० ।

§ पुरस्तादिहैव २०३ ए० ४ पं० इत्यम् ।

विधित्सुस्तदाख्यायिकया स्वीति— “एतद्दे देवानिति । ‘एतद्’  
 एतस्मिन् समये ‘रक्षांसि’ रक्षोरूपाः ‘नाद्राः’ नाशकारिण्यः प्रजाः  
 ‘देवान्’ ‘अजिघांसन्’ हन्तुं मैच्छन् । कथम्भूतान् ? ‘मैच्छतः’  
 प्राचीन माह्वनोयं देशं गन्तुं मुद्युक्तान् । ‘एतन्’ अग्निचयना-  
 क्तकं ‘यज्ञं’ ‘तंस्यमानान्’ विस्तारयिष्यमाणान् \* । जिघांसूना  
 मभिप्राय माह — “न यच्छब्ध इत्यादि । हे देवाः ! यूयं न  
 ‘यच्छब्धे’ यागं न करिष्यथ , तथा ‘यज्ञं’ ‘न तंस्यब्धे’ न विस्तार-  
 यिष्यथ † । ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण एवं दृष्टाभिप्रायेभ्यः ‘तेभ्यः’  
 रक्षोभ्यः ‘एतान्’ चितिरूपान् ‘अग्नीन्’ ‘एताः’ तदवयवभूताः  
 ‘इष्टकाः’, द्वितीयाबहुवचन मितत् , ‘सुरपवीन्’ सुरवक्त्रोष्णधारोपे-  
 तान् वज्रान् ‘क्षत्वा’ ‘प्राहरन्’ पूर्वादिदिगवस्थितानि तानि रक्षांसि  
 लक्ष्मीकृत्य प्रहृतवन्तः । ‘तैः’ इष्टकारूपैर्वज्रैः ‘एतान्’ असुरान्  
 ‘अस्तृण्वत’ अहिंसन् । ‘तान्’ ‘स्तृत्वा’, ‘अभये’ भयरहिते ‘अनाद्रे’  
 नाशरहिते ‡ ‘एतं यज्ञम्’ अतन्वत विस्तारितवन्तः ॥ ५ ॥

एव माख्यायिकया इष्टकाहरणस्य रक्षोनिरसनहेतुता  
 मुक्ता प्रकृते योजयति— “तदा एतदिति । ‘तत्’ खलु ‘एतद्’  
 वैः कृत मिष्टकानां प्रहरणं मत्र ‘क्रियते’ यजमानैरनुष्ठीयते ।  
 किं पुनस्तदेतदित्याह— “यद्देवा इति । देवैरेव रक्षसां  
 निरस्तत्वादिदानोन्तनयजमानकर्तृकं मिष्टकानां प्रहरणं केवलं  
 तदनुकरणार्थं मित्याह— “इदं न्वित्यमदिना । ‘इदं तु’ इदानीं

\* ‘विस्तारिष्यमाणान्’— इति च-पाठः ।

† ‘विस्तारयथ’—इति च-पाठः ।

‡ ‘नान्नाकरहिते’—इति छ-पाठः ।

खलु यन्नविरोधीनि 'तानि रक्षांसि' 'देवैरेव' 'अपहतानि' \*  
बाधितानि । अतो 'यद्' 'देवाः' 'पूर्वम्' अङ्गुर्वन् 'तत्' इदानीं मह  
मपि 'करवाणीति' तदनुकरणे मेवेदानोन्मनेष्टकाप्रहरणस्य  
प्रयोजनं मित्यर्थः ॥

निरस्तसजातीनां रक्षसां पापनाञ्च विद्यमानत्वात्तच्चिरसन-  
हेतुत्वं मपि सम्भवतीति पश्चान्तरं माह— "अथो यदेवेति ।  
पश्चान्तरस्योत्पत्तौऽथोऽशब्दः । 'यदेव रक्षो यः पाप्मा' इति च  
जातावेकवचनम् ; "तेभ्य इति प्रतिनिर्देशबहुत्वस्य श्रुतत्वात् ।  
'तेभ्य एतानित्यादि, पूर्ववत् योज्यम् ।

अस्माच्चार्धवादादिष्टकाः पुरस्ताद्दरेदिति विधिरुचेतव्यः † ॥ ६ ॥  
स प्रैषं व्याचष्टे— "तद्यदग्निभ्य इति । ननु एक एव  
चित्तोऽग्निः, कथं मस्य बहुत्वं मित्याशङ्क्याह— "बहुवो हीति ।  
सप्तचित्तभिप्रायेण बहुवचनम् । तासां मन्त्रेकदेशत्वादाग्निशब्दा-  
भिधेयता ॥

"अथ यत् प्रक्रियमाषेभ्यः"—इति । पदं मनूय निर्वाह—  
"प्र हीति । 'हि' यस्मादध्युरिमा इष्टकाः 'प्रहरति' पुरस्तादा-  
ह्वनीयदेशं प्रापयति, अतः प्राचीनं क्रियन्त इति प्रक्रिय-  
माणासोऽन्य उच्यन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र होत्राशुवत्तव्या मृच मिकीयमतेनोपन्यस्य व्याचष्टे— "त-  
च्चैक इति ‡ । 'तत्' तत्र खलु 'एके' केचन ऋक्शाखाध्यायिनः

\* 'अपहतानि'—इति च बहुमूलपुस्तकपाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. २४ ।

“पुरीषासो अग्नय इत्येता सृच मन्वाषुः \* , तत्र पुरीषशब्दस्य पशुपर्यायत्वात् पुरीषास इत्यस्य पशुव्यास इति व्याख्यानम् ; पशुभ्यो हिता इत्यर्थः । “प्रावणेभिरिति । प्र शब्दोपेतं पदं सूचकं रूप मित्यर्थः ॥

एतदेकीयं मतं प्रतिषिध्य स्वमत माह— “न तथा कुर्यादिति । ‘आग्नेयीः’ अग्निदेवताकाः , ‘कामवतीः’ कामशब्दोपेताः , ‘गायत्रीः’ गायत्रीच्छब्दस्त्वा एव ऋचः ‘अनुब्रूयात् । काः पुनस्ता इति ता आह— “आ ते वक्ष इत्यादिना ॥ ८ ॥

आग्नेयीत्यादिधर्मानवयुत्थानूद्य स्तौति— “आग्नेयीरन्वाहेति । देवतारूपेणाग्निना तक्षमन्विना सर्वेषां रूपाणां सुषाप्तिर्भवतीत्यर्थः । तथा तासां सृचां कामशब्दोपेतत्वात् सर्वकामोपाप्तिरपि भवति । “रितोभूतं सिञ्चतीति । अस्मा मवस्थायां रितःसंस्तुतानां सिक्तानां निवपनात् रितोरूपापन्नः स्वस्वयं चित्योऽग्निस्तादृशं ‘सिञ्चति’ अङ्गप्रत्यङ्गयुक्तं संस्तरतीत्यर्थः । ऋचां चित्त्वं मनुष्य स्तौति— “तिस्र इति । निगदसिद्ध मेतत् । “ताः सप्तेत्वादि । ‘ताः’ तिस्र ऋचः ‘सप्त’ सङ्ख्याकाः ‘सम्पद्यन्ते’ । सम्पत्तिप्रकारमाह— “सहेति । ‘त्रिः’ त्रिवार मुक्ताभ्या माद्योत्तसाभ्यां ‘सह’ ‘सप्त’ सङ्ख्या सम्पद्यत इत्यर्थः । “सप्तसर्वः संवत्सर इति । वसन्ताद्याः षट् , संसर्प्याहस्यतिस्रश्चणः स्मृत ऋतुः † ॥

\* ऋ० बं० इ. २२. ४ ; वा० बं० १२, ५० ।

† वा० बं० १२. ११५, ११६, ११७ ।

‡ “संचर्पोऽस्यं ह्यस्यत्वात् त्वा”-इति तै० बं० १. ४. १४. १ ।

अनुवचने उपांशुस्वरं विधाय स्तीति— “उपांशुन्वाहेति । यथा पार्श्वस्था जना न शृण्वन्ति , तथाशुश्रूयादित्यर्थः । ‘अत्र’ अस्मिन् समये रतीरूपः खलु ‘यन्नः’, रेतःसेचनस्वीपांशुत्वं परैरन्नायमानतयाकत्तश्चलं लोके प्रसिद्धम् ; तस्मादनुवचनमुपांशु कर्त्तव्यमित्यर्थः । अनुवचनसमये होतुरनुगमनं विधत्ते— “अनुवचनन्वेतीति । अनुवचनं कुर्वन् होता स्वयं मपीष्टकाः ‘अन्वेति’ अनुगच्छति । सर्वेषु छन्दःसु गायत्र्या अन्तर्भावात्तदन्तर्भूतैः ‘छन्दोभिरेव’ ‘एतत्’ एतेनानुगमनेन ‘यन्नं’ ‘पश्चात्’ पृष्ठतः ‘अभिरक्षन्’ अभितः ‘पश्चात्’ सर्वतो रक्षःप्रभृतिभ्यो गोपायन् ‘एति’ ॥ ६ ॥

इष्टकाहरणसमये श्वेतस्याश्वस्य पुरतो नयनं विधत्ते— “अथाश्व मिति \* । अश्वस्यादित्यरूपवज्जात्मकत्वं कथयन् तस्य पुरस्तान्नयनं यन्नविघातकरञ्चोनिर्हरणहेतुत्वेन स्तीति— “एतद् वा इत्यादिना । “यद्दे न इति । ‘नः’ अस्मानित्यर्थः । “असौ वा आदित्य एषोऽश्व इति । विड् रूपस्य प्रजापतेश्चन्द्रसूर्यौ हि चक्षुषी , अश्वश्च तदीयाश्चक्षुष उत्पन्नः । तथा च श्रूयते— “प्रजापतेरश्वाश्चयत् तत्परापतत् ततोऽश्वः समभवदिति † । अत एव तैत्तिरीयेऽपि श्रूयते— “असु मादित्य मश्वं श्वेतं भूतं

“संसर्पोऽस्यं हस्यत्वाय खेत्वाहास्ति त्रयोदशो मास इत्याहुः”—इति तद्ब्राह्मणम् । तै० सं० ६. ५. ३. १० । ऋ० सं० १. २५. ८ । य० वा० सं० २२. ३०, ३१ । “असङ्कान्ति-दिसङ्कान्ती संसर्पोऽहस्यती समौ”—इति च नारदसंहितायाम् (ज्यो०) ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ख ।

† तै० सं० ५. ३. १२. १ ।

दक्षिणा मनयन्निति । “स्वस्ति समाश्रवतेति । ‘स्वस्ति’  
अविनाशरूपं क्षेमं सम्यगाप्नुवन्नित्यर्थः \* । अन्यद् व्याख्यात-  
प्रायम् । अग्निचेत्रसमीपगमनं विधत्ते — “आगच्छत्यग्नि मिति ।  
अश्वप्रमुखास्ते ऋत्विग्यजमाना इष्टकाभिः सहाग्निसमीप  
भागेच्छेद्युः, आगत्य च अग्निपुच्छस्य दक्षिणभागे चर्मणा-  
द्धतां ‘चितिम्’ ‘उपनिदधति’ चित्यर्थं भागोता इष्टकाः स्थाप-  
यन्तीत्यर्थः † ॥ १० ॥

“तं मुत्तराह्णेनेति । तस्याग्निपुच्छस्योत्तरभागेन परिश्रिताद्याः  
शर्कराः ‘अन्तरेण’ परिश्रिता मन्नेष मध्यप्रदेशे ‘प्राञ्चं’ प्राङ्मुखं  
‘नयन्ति’ । ‘तत्’ तेन ‘प्राञ्चै’ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । प्राचीदिक्स्वन्धि  
‘पाप्मानम्’ आदित्यात्मकाश्चलक्षणेन वज्रेण ‘अपहन्ति’ हिनस्ति ।  
पुनः ‘तम्’ अश्वं पूर्वस्यां दिशि अग्नेः परिश्रितां च मध्ये ‘दक्षिणा’  
दक्षिणतो निहितमुख मित्यर्थः । “दक्षिणादाच्” ‡ । गत मन्यत् ।  
“तं प्रत्यञ्च मित्यादावेवं योज्यम् । एवं चतस्रषु दिक्षाङ्गाभयेन  
‘सर्वाभ्य एव दिग्भ्यः’ ‘रक्षांसि’ विनाशानन्तरम् ‘एनम्’ अश्वम्  
‘उदञ्चन्प्राञ्चं’ प्रागुदङ्मुख मित्यर्थः । ‘प्रसृजति’ विमुञ्चति ।  
‘तस्य’ प्रागुदङ्मुख स्थावको वाक्यशेषः प्रागान्नात इत्यति-  
दिशति — “तस्योक्त इति । एवं हि प्रागान्नातम् — “एषा  
होभयेषां देवमनुष्याणां दिग् यदुदीची-प्राचीत्यादि § ॥ ११ ॥

तस्याश्वस्य प्रत्यङ्मुखनयनसमये चित्तेरवव्रापणं विधत्ते — “तं

\* ‘सम्यगाप्नुवन्तीत्यर्थः’ — इति च-पाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २२ ।

‡ पा० सू० ५. ३. ३६ १      § इका० ४प्र० ४ब्रा० ३क० ।

प्रत्यञ्च मिति \* । पुच्छस्य दक्षिणतो निहिताम् 'एतां चितिं' 'प्रत्यञ्चं'  
 प्रत्यञ्चुखं 'यन्तं' गच्छन्तं 'तम्' अश्वम् 'अवप्रापयति' यथा सोऽश्व-  
 सिति भवजिघ्रति , तथा तं प्रेरयेदित्यर्थः । "व्रा गन्धोपादाने" †  
 -इत्यस्मात्सिचि "अतिङ्गीत्यादिना ‡ पुक् । तदेतद्विष्टकाना  
 मादित्येऽवप्रापणं प्रजासु प्राणप्रतिष्ठापनहेतुत्वेन स्तीति—  
 "असौ वा आदित्य इत्यादिना । अश्वस्यादित्यात्मकत्व मुक्तम् § ।  
 'इमाः' परिदृश्यमाना देवतिर्यङ्गनुष्थादिरूपाः 'सर्वाः प्रजाः'  
 ईदृक्प्रजारूपाः 'इष्टकाः' बहुत्वसाम्यात् । "असावेवेत्यादि ।  
 'तत्' तेनाश्वकर्तृकेष्टकावप्रापणेन 'असौ' द्युलोकस्य आदित्यः  
 'एव' 'इमाः प्रजाः' प्राणात्मकैः स्वरश्मिभिः 'भवजिघ्रति' ॥  
 अवप्राणं करोति । तस्मादेव कारणात् 'एतद्' इदानीं 'सर्वैः'  
 जनः 'अस्मिन्' लब्धात्मको भवामि 'इति' 'अन्यते' स्वात्मसत्ता  
 भवगच्छति । 'प्रत्यङ्' ह्येवैष इति । प्रत्यञ्चुख एव 'एषः'  
 सूर्यो 'बन्' गच्छन् 'इमाः सर्वाः प्रजाः' स्वरश्मिभिः 'अभिजिघ्रति'  
 'हि' यस्मादेवं प्रत्यञ्चुखेन गच्छता अश्वेन चितेरवप्रापणं  
 युक्तमित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथैतदवप्रापणं लोकत्रयसमावयने हेतुत्वेन स्तीति—“यद्दे-  
 वेत्यादिना । याः 'एताः' उपधास्यमानास्त्रिभ्यः स्वयमाह-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २६ ।

† घा० भ्वा० प० ६२६ ।

‡ पा० सू० ७. ३. २६ ।

§ पुरस्तादिहैव २१६ पृ० १३ पं० दृश्यम् ।

॥ 'अभिजिघ्रति'—इति रुर्वमूलपुस्तकसम्मतः पाठः ।

खाख्याः 'शर्कराः' शुद्धपाषाणाः पृथिव्यादिलोकत्रयात्मिकास्ताः ।  
 'तत्' तथा सति अस्मिन् 'अवत्रापयति' इति 'यद्' अस्ति ; 'तत्'  
 तेन 'असावादित्य एव' 'इमान्' पृथिव्यादीन् 'लोकान्' खरन्ध्या-  
 त्मके \* 'सूत्रे' मणित् 'समावयते' सम्यक् प्रोतान् करोति ।  
 "वेञ् तन्मुसन्ताने"—इति † धातुः । यदेतत् सूत्रं , 'तस्य' प्रति-  
 पादको वाक्यशेष उपरिष्ठादान्नास्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथैतदेवास्त्रकर्तृकं मन्त्रप्रापणं मनुष्य अश्वत्थस्यैवैव प्रजा-  
 पतिना रूपेण निलोयमानस्याम्बेक्षेतव्यस्व.पुत्रलाभो नान्येनेत्या-  
 ख्यायिकया स्तोति— "यहैवेत्यादिना ‡ । "स्वाग्र्य पित्र इति ।  
 ज्ञात्याख्यायां वर्त्तमानत्वादस्य स्व-शब्दस्य सर्वनामसङ्ज्ञा पर्यु-  
 दस्ता "स्व मन्त्रातिधनाख्याया मिति § ; अतः सर्वनामकार्यं न  
 क्रियते । "त मश्वः शुक्ल इत्यादि । इत्थं देवैरभ्यर्थितः प्रजा-  
 पतिः 'शुक्लः' शुक्लवर्णः 'अश्वो भूत्वा' स्वपुत्रं अप्तुं निलीनं तम्  
 अग्निम् 'अन्वेच्छत्' अन्विष्टवान् । अन्विष्टं 'तम्' अग्निम्  
 'अद्भ्यः' सकाशात् 'उपोदास्रमम्' उपनिष्क्रान्तम् पद्मिनीपत्रे स्थितं  
 'विवेद' लेभे । 'तम्' 'अभि'-गम्य 'अवेक्षाञ्चक्रे' ईक्षितवान् । 'सः'  
 खल्वग्निः 'एनम्' अश्वरूपिणं प्रजापतिम् 'उदुवोषे' उत्पल्य  
 ददाह । "जष दाहे ॥"—इत्यस्मात्सिद्धं । एवं यस्मादुवोष , 'तस्मात्'

\* इह 'खरन्ध्यात्मके'—इति च-पाठः ; 'खरन्ध्यात्मके'—इति  
 छ-पाठः । अन्यत्र ग्रन्थाभावः ।

† धा० भ्वा० उ० १००७ ।

‡ का० श्री० सू० १७. ३. २६ ।

§ पा० सू० १. १ ३५ ।

॥ धा० भ्वा० प० ६२३ ।



कारणात् शुक्लवर्णः 'अश्वः' 'उदुष्ट सुख इव' उत्त्थितसुख इव लोके दृश्यते । 'अथो' खलु तस्मादेवाग्निशाहात् सोऽश्वो 'दुरक्षो भावुकः' दुष्टे अक्षिणी यस्यासौ दुरक्षः । "बहुव्रीहौ सकथ्यस्यो रिति \* अच्-समासान्तः । दुष्टाक्षिभ्यां युक्तो भवितुं शीलवान् भवतीत्यर्थः । 'तम्' अश्वरूपिण मेव प्रजापतिं 'ऋत्वेव' अर्त्तिं † गमयिष्वेव, 'हिसिष्वेव' हिसनं कृत्वेव । 'इव'-शब्दो वाक्यालङ्कारे, अर्त्तिहिसयोरपारमार्थ्यद्योतको वा ; न अश्वसम्बन्धिर्हिसादिना परमार्थतः प्रजापतेर्हिसा भवतीत्यभिप्रायः । एव मश्वं दाह्नेन हिसित्वा पश्चान्मदीयः प्रजापतिरेवाय मश्वरूपेण स्थित इति 'मिने' ज्ञातवान् । अथ च भीतः सन् 'तम्' अश्वरूपिणं प्रजापतिम् 'उवाच' हे प्रजापते ! 'तुभ्यं वरम्' अभिलषित मर्षं 'ददामि' प्रयच्छामीति ॥ १४ ॥

"स होवाचेति । 'सः' खलु 'उवाच' प्रजापतिः । 'अनेन' अश्वेन मदीयरूपेण 'यः' यजमानः 'त्वा' त्वाम् 'अन्विच्छात्' । लोट आडागमः‡ । 'सः' यजमानस्त्वां 'विन्दादेव' लभेतेव । एतं वर मर्षं वृषे इत्यर्थः । "स यो ह्येन मित्वादिना आस्थायिकासिद्धस्वार्थस्य प्रकृते योजनम् । 'एनम्' अग्निम् 'एतेन' अश्वेन 'रूपेण' 'वित्त्वा' लब्ध्वेत्यर्थः । स्पष्ट मन्यत् ॥ १५ ॥

तस्याश्वस्य वर्षानियमं विधाय स्तौति—“स शुक्लः स्यादिति § ।

\* पा० सू० ५. ४. ११३ ।

† 'अर्त्तिं'—इति जातिरिक्तेषु पुस्तकेषु पाठः ।

‡ पा० सू० ३. ४. ६४ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ग ।

‘तत्’ खलु शीकाम् ‘एतस्य’ सूर्यस्य ‘रूपम्’, ‘य एषः’ परिदृश्य-  
मानः सन् अन्तरिक्षे रश्मिभिः ‘तपति’, अतस्तत्कारूप्याय शुक्ल-  
वर्ण एवाश्रो नेतव्य इत्यर्थः । तदसम्भवे वर्षान्तरविशिष्टोऽपि  
स्यादित्याह— “यदि शुक्ल मिति । शुक्लाभावे लोहितश्चामा-  
दिवर्षविशिष्टो भवेत्, स च तादृशोऽखस्वेव कर्त्तव्यः ।

अश्वासम्भवे पञ्चान्तर मप्याह— “यद्यश्न मिति ॥  
ननु अन्तर्दुहः सूर्यात्मकवज्जरूपत्वाभावात् पापहननरूपशक्तकार्य-  
कारत्वं कथं स्यादित्याशङ्क्याह— “आम्बेयो वा इति । अग्नि-  
समीपे निर्वापार्थं स्थितस्यानसो वह्नादनड्डानग्निदेवताकः,  
‘अग्निः’ अपि ‘सर्वेषां पापनां’ रक्षसाश्च ‘अपहन्ता’ बाधकः,  
अतस्तथाविधाग्निदेवताकत्वादनड्डानप्यश्ववत् रक्षांसि पापनञ्च  
विनाशयितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अग्निक्षेत्रस्याधिरोहणे प्रकारविशेषं विधिस्तुः प्रस्तौति—  
“अथात इति † । यतोऽध्वर्युणा आहुतिप्रदानसंभयेऽग्निक्षेत्र-  
स्याधिरोहण मपेक्षितम्, अतः कारणात् ‘अथ’ अन्तरम् ‘अधि-  
रोहणस्यैव’ । अधिरूपर्यर्थः ‡ । अग्निक्षेत्रस्योपरि पादनिधान-  
कक्षणं क्रमण मधिरोहणम्, तस्यैव विचारः क्रियत इति  
शेषः । तत्रैकीयं मत मुपन्यस्य निरस्यति— “तं हैक इति ।  
“पुरस्तात् प्रत्यश्च मिति । पूर्वभागे प्रतिमुख मच्चन्त माम्ना-  
भिसुस्थेन स्थित मग्निं मुखप्रदेशे ‘अधिरोहन्ति’-इत्येकः पक्षः ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ग ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २३ ।

‡ निरु० १. १. ५ ।

“पश्वाहेति”, पश्चान्तरम् । ‘पश्वाद्’ भागे पुच्छभागे ‘प्राञ्चं’ प्रकर्षेणाञ्चन्तम् अनभिमुखं मग्निं मारोहन्तीत्यर्थः \* । “न तथा कुर्यादिति । एतस्य पक्षद्वयस्य निषेधः । पक्षद्वयेऽपि दोषमाह— “पशुरेष इति । अस्मिरिति यदस्ति पशुरूपः †, ‘यः’ खलु ‘पशुं’ ‘पुरस्तात्’ पूर्वभागे ‘प्रत्यञ्चं’ प्रतिमुखं मञ्चन्तम् ‘अधिरोहति’ ‘तं’ पशुं ‘विषाणाभ्यां’ शृङ्गाभ्यां ‘हन्ति’ ॥

‘अथ’ एतद्दोषपरिहाराय ‘पश्वाद्’ भागे ‘प्राञ्चं’ प्रकर्षेणाञ्चन्तं ‘तम्’ अनभिमुखं सन्तं पशुं मारोहति, ‘तम्’ आरोहन्तं पुरुषं स पशुः ‘पद्गां’ पश्चात्पदाभ्यां माहन्ति । यद्येवं पूर्वपश्चिमभागयोरुभयत्राप्यारोहणे दोषः, कथं तर्हि तदारोहणं कर्त्तव्यमित्यत्राह— “आत्मनेवेति । शिरःप्रदेशं पादप्रदेशञ्च विहाय ‘आत्मना’ आत्मभागेन मध्यप्रदेशेन ‘एव’ ‘एनम्’ अर्धर्युः ‘मारोहति’ । लौकिकस्यापि पशोर्मध्यदेहेनैवारोहणं यतो दृश्यत इत्याह— “यं वा इति । ‘यं’ खलु ‘पशुम्’ अश्वादिकम् ‘आत्मना’ शिरःपुच्छदेशी विहाय मध्यदेशेन ‘मारोहन्ति’, ‘सः’ पशुः तान् ‘पारयति’ पारं गन्तव्यावधिम् प्रापयति; ‘न’ च ‘हिनस्ति’ आरूढं पुरुषं न व्यथयति । एव मन्नेरप्यधिरोहणं आत्मभागे कर्त्तव्यं मिति विहितम् । तत्राप्युत्तरतः कर्त्तव्यं मिति विधत्ते— “उत्तरत इति । पुच्छस्योत्तरभागे उत्तरपक्षस्य च समीपे तदधिरोहणं कर्त्तव्यम् । लोकप्रसिद्धिरप्येवमेवेत्याह— “यं हि कश्चेति । ‘यं’ कम् अपि अश्वादिलक्षणं

\* का० श्रौ० सू० १७.३. २४ ।

† ‘सन्पशुरूपः’—इति च-पाठः ।

‘पशु मारोहन्ति’ लौकिकाः, ‘उत्तरतः’ वामभागत ‘एवैन मारोहन्ति ॥

आरोहणानन्तरं प्राकृतवैकृतपदार्थानां मनुष्ठाने क्रमविशेष मनुक्तामति— “आरुह्याग्नि मिति । आरोहणानन्तरम् ‘प्रीत्तर-वेदिकम्’ उत्तरवेदिसंस्काररूपं यत् कर्मजात मस्ति, तत् कृत्वै-त्यर्थः \* । तच्च कात्यायनेन विशदं मुक्तम्— “पशुवदुत्तरवेदि-प्रोक्षणाद्या सभारनिवपनात् कृत्वैति † । तदनन्तरम् ‘आत्मन्’ अध्वर्युः स्वात्मनि स्वकोयम् ‘अग्निं’ गृह्णीते, यथा बह्वि-धित्याग्निप्रदेशे न निष्क्रामति, तद्य “मयि गृह्णामि”—इति ‡ मन्त्रजपेन § स्वात्मनि धारयेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन— “उत्तरवेदि मन्तरेण ॥ ०—० मयि गृह्णामीति जपतीति ¶ । अग्निप्रहणानन्तरं यत् सत्यसामेति प्रसिद्धं सामवेदे \*\* तद्यज-मानो गायेत् †† ॥

पुष्करपर्णस्योपधानं विधत्ते— “पुष्करपर्णं सुपदधातीति ‡‡ । “तस्मात् इति । ‘तस्य’ पुष्करपर्णीपधानस्य ‘अतः’ अस्माद् ब्राह्मणादुत्तरस्मिन् ब्राह्मणे (३प्र० १ब्रा० ७क०) “योनिर्वै पुष्कर-पर्णं मित्यादिना वाक्यशेषेण स्तुतिः करिष्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

\* ‘उत्तरवेदिसंस्काररूपं कर्म कृत्वैत्यर्थः’—इति ज-पाठः ।

† का० औ० छ० १७. ३. २६, २७ ।

‡ वा० सं १३. १ । § ‘मन्त्रपद्धेव’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘मपरेण’—इति का० औ० छ० वाल्मीकि-सुदित-पाठः ।

¶ का० औ० छ० १७. ३. २७ ।

\*\* सा० वि० ब्रा० १. १. २ ।

†† का० औ० छ० १७. ३. २८ । ‡‡ का० औ० छ० १७. ४. १ ।

सायङ्काले कर्त्तव्यं विधत्ते— “अथैत मिति । ‘अथ’  
 पुष्करपर्णापधानानन्तरम् ‘एत मश्वं’ ‘साये भूते’ अङ्गोऽवसाने  
 जाते ‘परिणयन्ति’ अग्निदेवं परित आवर्त्तयन्ति \* । “धी अन्त-  
 कर्मणि †”—इत्यस्मात् जातः सायशब्दः । अथैतदश्वस्य परितो  
 नयनं यज्ञविघातकरक्षोनिमित्ताद् भयाद्द्रक्ष्यहेतुत्वेन स्तौति—  
 “एतहै देवा इति । “एतं वक्ष मिति । अश्वत्वाकं वक्ष  
 मित्यर्थः । ‘अभिगोप्ता’ अभितः सर्वासु दिक्षु रक्षितारम् ।  
 “अनु मेवादित्य मिति । अनुभिन्नाकाशे दृश्यमानम् ‘आदित्यम्’  
 आदित्यात्मक मश्वम् । अश्वस्य चादित्यात्मकता प्रागेवोक्ता ‡ ,  
 इदानी मप्याह— “असौ वा आदित्य इति । “तथैवास्मा इति ।  
 यथा सूर्यो राक्षसाद्यज्ञस्याभिगोप्ता , तेनैव प्रकारेण ‘अयम्’  
 अध्वर्युः ‘अक्षौ’ चेष्यमाणायाम्नये ‘एतम्’ अश्वत्वाकं वक्षम् ।  
 सिद्ध मन्थत् ॥ १८ ॥

सायङ्कालेऽप्यस्तमयात् प्रागेवाश्वपरिणयनस्य कर्त्तव्यता  
 माह— “तं वा इति । ‘आदित्यस्य’ ‘अस्तमय सुप’ अस्त-  
 मवञ्च समीपे आदित्ये विद्यमाने सत्येवेति यावत् । “एष  
 वा अस्तेत्यादि । ‘एवः’ खलु आदित्यः ‘अस्य’ चौर्यमान-  
 स्यान्नेः ‘दिवा’ अङ्घ्रि ‘प्रत्नञ्चं गोप्ता भवति’ । राशिं सञ्चन्ते  
 समवयन्ति इति ‘रात्रिसाचर्यानि’ रात्री सञ्चरन्शीलानि  
 खलु ‘रक्षांसि’ तादृश्यां ‘रात्र्या’ एव सकाशात् ‘अक्षौ’ चित्वा-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २५ ।

† धा० दि० प० ४१ ।

‡ अश्वत्वात्मकत्वे २०. ४. १७. १०. इत्यस्य ।

अथे 'एतम्' अक्षान्कं 'वञ्जं' परोक्षमादित्वात्कम् 'अभि-  
 गोप्तारम्' अभितो रक्षितारं करोति । 'परिणयति'-इति परि-  
 शब्देन सूचिन मये स्तोतुमाविष्करोति— "सर्वत इति ।  
 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु । परिणयनक्रियायाः त्रिरावृत्तिं विधाय  
 स्तोति— "त्रिष्कृत्व इति । "त्रिवृत्तमेवास्मा इति । 'त्रिवृत्तं'  
 त्रिगुणितम् । "अथैन सुदञ्च भित्वादि । 'अथ' त्रिष्कृत्वः  
 परिणयनानन्तरम् 'एनम्' अञ्जं प्रागुदञ्चं विस्मृजेत् । तस्य च  
 स्थावको वाक्यशेषः प्राक्समान्नात इत्यर्थः । तस्याम्बस्य पुनः  
 प्रयोगं विधत्ते— "अथ स पुन रिति । 'सः' अञ्जः पुनर् 'विपल्ययते'  
 विपरिवर्त्तते, उपधानकाले \* कर्मणोऽङ्गभावं प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।  
 "अथ पय गतौ †"—इत्यस्मात् सट्, "उपसर्गस्वायतौ"—इति  
 सत्वम् ‡ । 'तस्य' अक्षपर्यावर्त्तनस्योपरिष्ठात् प्रयोजनमभिधास्यत  
 इत्यर्थः ॥ १८ ॥ ४ [३. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशिन तमो हार्षं निवारयन् ।

पुमर्थास्तुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेम्बरः ॥ ३ ॥

\* 'उपचारकाले'—इति च-पाठः ।

† घा० भा० षा० ४७४ ।

‡ पा० ष० द. २. १६ ।

ब्रह्माण्डं मोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्मम्,  
 सप्तम्वीन् पञ्चसीरीं किदशतससताधेनुषीवर्षभूमिः ।  
 रजोक्षां रश्मिवाजिद्विपसहितरघी सायधिः सिङ्गुषायीं,  
 अत्रासीद्विषयक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
 घान्याद्रिं धन्यजसा तिलभव मतुलः स्वर्भजं वर्षसुख्यः,  
 कार्पासीयं ज्ञपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूष्यः ।  
 धान्योद्यं प्राण्यजसा सवषज मृचः शर्करं चार्कतीजाः,  
 रक्षाण्यो रत्नरूपं गिरि मङ्गत मुदा पाचसाक्षिङ्गुषायः \* ॥

इति श्रीमद्भ्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसास्त्रान्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे द्वितीयप्रपाठकश्च समाप्तः † ॥

\* अथत्वाष्टीप्यन्वः-पञ्चमकाण्डीयद्वितीयाध्यायान्ते द्रष्टव्याः ।

† एतस्मात्प्रपाठकसमाप्तिवचनादनन्तरम्—“कञ्चिकाः १०५”—  
 इति क, ख, “कञ्चिकासप्त्या १०५”—इति ग, घ । तत्र, १ ब्रा० ६ क०,  
 २ ब्रा० ३ क०, ३ ब्रा० ४ क०, ४ ब्रा० १६ क०; सङ्कलनयान्न द्वितीय-  
 प्रपाठकीयचतुर्षु ब्राह्मणेषु १०५ कञ्चिकाः श्रुता इति सिद्धम् ॥

अथ

तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

आत्मन्नग्निं गृह्णीति चेप्यन् । आत्मनो वा  
ऽएत मधिजनयति यादृशाह्वे जायते तादृङ्ङेव  
भवति स यदात्मन्नगृहीत्वान्निं चिनयान् मनुष्या-  
देव मनुष्यं जनयेन्मर्त्यान्मर्त्यं मनपहतपाप्मनोऽनप-  
हतपाप्मन मथ यदात्मन्नग्निं गृहीत्वा चिनोति  
तद्गनेरेवाध्यन्निं जनयत्यमृतादमृत मपहतपाप्मनो-  
ऽपहतपाप्मानम् ॥ १ ॥

स गृह्णाति । मयि गृह्णाम्यये ऽअग्नि मिति ।  
तदात्मन्नेवाद्येऽग्निं गृह्णीते \* शयस्योषाय सुप्रजा-

\* 'यह्णाति'—इति ग, घ ।



स्वाय सुवीर्यायेति तद् सुर्व्या आशिष आत्मन्  
 गृह्णीते मा सु देवताः सचन्ता मिति तद् सुर्व्यान्  
 देवानात्मन् गृह्णीते तद्यत् किञ्चात्मनोऽधि जन-  
 यिष्यन् भवति तत् सर्व्वं मात्मन् गृह्णीते स वै  
 तिष्ठान्नात्मन्नग्निं गृह्णीत्वानूपविश्य चिनोति पशु-  
 रेष यदग्निस्तस्मात् पशुस्तिष्ठन् गर्भं धित्वानूप-  
 विश्य व्विजायते \* ॥ २ ॥

अथ सत्यं साम गायति । एतद्दे देवा  
 अभवन्सत्यं मस्य मुखं करवाम ते सत्यं भविष्यामः  
 सत्यं नोऽनुवर्त्यति सत्यो नः स कामो भविष्यति  
 यत् कामा एतत् करिष्यामह ऽद्वृति ॥ ३ ॥

त एतत् सत्यं साम पुरस्तादगायन् । तदस्य  
 सत्यं मुखं मकुर्व्वंस्ते सत्यं मभवन्सत्यं मेनानन्व-  
 वर्त्तत सत्यं एषां स कामोऽभवद्यत्कामा एतद्-  
 कुर्व्वत ॥ ४ ॥

तथैवैतद्यजमानः । यत् सत्यं साम पुरस्ताद्

\* 'व्विजायते' - इति क० ख० ।

गायति तदस्य सत्यं मुखं करोति स सत्यं भवति  
सत्य मेन मनुवर्त्तते सत्योऽस्य स कामो भवति यत्-  
काम एतत् कुरुते \* ॥ ५ ॥

तद्यत् तत् सत्यम् † । आप एव तद्वापो हि  
वै सत्यं तस्माद्येनापो यन्ति तत् सत्यस्य रूप  
मित्याहुरप एव तस्य ‡ सर्वस्याय मकुर्व्वस्तस्मा-  
द्यदेवापो यन्त्यथेदं § सर्वं जायते यदिदं  
किञ्च § ॥ ६ ॥

अथ पुष्करपर्णं मुपदधाति । योनिर्वै पुष्कर-  
पर्णं योनि मेवैतदुपदधाति ॥ ७ ॥

यद्देव पुष्करपर्णं मुपदधाति । आपो वै  
पुष्करं तासा मियं पर्णं यथा ह वा ऽद्दं पुष्कर-  
पर्णं मण्ड्व्याहित मेवमिय मण्ड्व्याहिता सेयं योनि-  
रग्नेरियं ह्यग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयत ऽद्दमा

\* 'कुरुते'—इति ग, घ ।

† 'सत्यम्'—इति क ।

‡ 'तदस्य'—इति क, ख ।

§ 'किञ्च'—इति ग, घ ।

मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः सत्यादुप-  
 दधातीमां तत् सत्ये प्रतिष्ठापयति तस्माद्वियुः  
 सत्ये प्रतिष्ठिता तस्माद्वियु मेव सत्य मियुः ॥ वैषां  
 लोकाना महातमाम् ॥ ८ ॥

अपाम्पृष्ठ मसि योनिरर्जुरिति । अपाः  
 हीयं पृष्ठं योनिर्हीय मन्नेः समुद्र मभितः पिन्व-  
 मान मिति. समुद्रो हीमा मभितः पिन्वते वर्द्ध-  
 मानो महा २॥७ ऽथा च पुष्कर ऽइति वर्द्धमानो  
 महीयस्व पुष्कर ऽइत्येतद्विवो मात्रया व्वरिम्णा  
 प्रथस्त्रेखनुविमार्ष्टसौ वा ऽथादित्य एषोऽग्निर्नी  
 हैत मन्यो दिवो व्वरिमा यन्तु मर्हति द्यौर्भूत्वैनं  
 यच्छेत्वेतदाह स्वराजोपदधाति स्वाराज्यं अपाः  
 सादयित्वा सुददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः  
 ॥ ९ ॥

अथ रुक्म मुपदधाति । असौ वा ऽथादित्य  
 एष रुक्म एष हीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते  
 रोचो ह वै तः रुक्म इत्याचक्षते परोऽर्चं परो-  
 ऽर्चकामा हि देवा अमु मेवैतदादित्य मुपदधाति

सु हिरण्ययो भवति परिमण्डल एकविंशति-  
निर्बाधस्तस्योक्तो बभ्रुरधस्ताद्विर्बाध मुपदधाति  
रश्मयो वा ऽएतस्य निर्बाधा अवस्ताद् वा ऽएतस्य  
रश्मयः ॥ १० ॥

तं पुष्करपर्णं ऽउपदधाति । योनिर्वै पुष्कर-  
पर्णं योनावैवैन मेतत् प्रतिष्ठापयति ॥ ११ ॥

यद्देव पुष्करपर्णं ऽउपदधाति । प्रतिष्ठा वै  
पुष्करपर्णं मिथं वै पुष्करपर्णं मियु मु वै प्रतिष्ठा यो  
वा ऽअस्या मप्रतिष्ठितोऽपि दूरे सन्नप्रतिष्ठित एव  
स रश्मिभिर्वा ऽएषोऽस्यां प्रतिष्ठितोऽस्या मेवैन  
मेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥ १२ ॥

यद्देव पुष्करपर्णं ऽउपदधाति \* । इन्द्रो हवत्  
हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्ता अन्न-  
वीहिभेमि वै पुरं मे कुरुतेति स योऽपात् रस  
आसीत् मूर्ध्वा समुद्रौहस्ता मस्यै पुर मकुर्व्वस्तद्यदस्यै  
पुर मकुर्व्वस्तस्मात् पुष्करं पुष्करं † ह वै तत् पुष्कर

\* 'उपदधाति'—इति क, ख ।

† 'पुष्करं पुष्करं'—इति घ, पुस्तकपाठः, इदञ्च डा० वेबरमहोदयेनापि ।

मित्वाचक्षते परोऽद्यं परोऽद्यकामा हि देवास्त-  
 द्यात् पुष्करपर्णं ऽउपदधाति य मेवास्मैत मापो रसः  
 समुद्रोऽन्या मस्यै पुर मकुर्व्वस्तस्मिन्नेवैन मेतत् प्रति-  
 ष्ठापयति ॥ १३ ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति । असौ वा  
 ऽथादित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्ताज्जायते वि सीमतः  
 सुरुचो व्वेन आवरिति मध्यं वै सीमेमे लोकाः  
 सुरुचो ऽसावादित्यो व्वेनो यद् वै प्रजिजनिषमाणो  
 ऽवेनत्तस्मादेनस्तानेष सीमतो मध्यतो व्विष्टगवक्षु-  
 देति स बुध्या उपमा अस्य व्विष्टा इति दिष्टो  
 वा ऽस्य बुध्या उपमा व्विष्टास्ता श्लेष उपवि-  
 तिष्ठते सतश्च योनि मसतश्च व्विवरितीमे वै  
 लोकाः सतश्च योनिरसतश्च यश्च ह्यस्ति यश्च न  
 तदेभ्य एव लोकेभ्यो जायते तिष्ठभोपदधाति  
 त्रैष्टुभो श्लेष सादयित्वा सुददोऽसाधिवदति तस्यो-  
 क्तो बन्धुः ॥ १४ ॥ . . .

अथ पुरुष मुपदधाति । स प्रजापतिः सी-  
 ऽग्निः स यजमानः स हिरण्मयो भवति ज्योति-

वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृतं हिरण्यममृतमग्निः  
पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः ॥ १५ ॥

यद्देवपुरुषमुपदधाति । प्रजापतेर्ब्रह्मसा-  
द्रम्या तनूर्मध्यत उदक्रामत्तस्या मेन मुत्क्रान्तायां  
देवा अजहुस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वन्स्तदस्मिन्नेतां  
रम्यां तनूं मध्यतोऽदधुस्तस्या मस्य देवा अरमन्त  
तद्ददस्वैतस्यां रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त  
तस्माद्दिरम्यं हिरम्यं ह वै तद्दिरण्यं मित्वा-  
चक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तथैवास्मि-  
न्नय मेतां रम्यां तनूं मध्यतो दधाति तस्या  
मस्य देवा रमन्ते प्राणो वा ऽअस्य सा रम्या  
तनूः प्राण मेवास्मिन्नेतं मध्यतो दधाति ॥ १६ ॥

तं रुक्म उपदधाति । असौ वा ऽआदित्य  
एष रुक्मोऽथ य एष पतस्मिन् मण्डले पुरुषः स  
एष त मेवैतदुपदधाति ॥ १७ ॥

उत्तानमुपदधाति । एतद्देवा अत्रुवन् यदि  
वा ऽइमावर्वाञ्चा ऽउपधास्यामः सर्वं मेवेदं प्रध-  
क्ष्यतो यद्यु पराञ्चैः पराञ्चावेव तप्स्यतो यद्यु

सम्यञ्चावन्तुरैवैतावितञ्जोतिर्भविष्यत्यथो ऽपन्योऽन्यत्  
 हिऽसिष्यत ऽइति तेऽर्वाञ्च मन्य मुपादधुः  
 पराञ्च मन्यत् स एष रश्मिभिरर्वाङ् तपति रुक्मः  
 प्राबैरेष ऊर्ध्वः पुरुषः प्राञ्च मुपदधाति प्राङ्  
 ह्येषोऽग्निश्चीयते ॥ १८ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताय ऽइति । हिरण्य-  
 बर्भो ह्येष समवर्त्तताये भूतस्य जातः पतिरेक  
 आसीदित्येष ह्यस्य सर्वस्य भूतस्य जातः पति-  
 रेक आसीत् दाधार पृथिवीं द्या मुतेमा मित्येष  
 वै दिवं च पृथिवीं च दाधार कस्मै देवाय  
 इविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै इविषा  
 विधेमेत्वेतत् ॥ १९ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवी मनु द्या मिति । असौ  
 वा ऽपादित्यो द्रप्सः स दिवं च पृथिवीं च  
 स्कन्दतीत्यमू मित्तीमा मिमं च योनि मनु यश्च पूर्व  
 प्रतीमं च लोकं ममं चेत्येतद्यो यश्चेद् मेतर्हि  
 चीयते यश्चाद् पूर्व मचीयतेति समानं योनि  
 मनु सञ्चरन् मिति समानत् ह्येष एतं योनि मनु

सञ्चरति द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा इत्यंसी वा  
ऽआदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्रा अमुं तदादित्यं  
दिक्षु प्रतिष्ठापयति ॥ २० ॥

हाभ्या मुपदधाति । द्विपाद्यजमानो यजमानो-  
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतदुप-  
दधाति । त्रिष्टुभ्यां त्रैष्टुभो षोष सादयित्वा  
सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥ २१ ॥

अथ साम गायति । एतद्वै देवा ऽएतं  
पुरुष मुपधाय \* त मेतादृश मेवापश्यन्थैतच्छुष्कं  
फलकम् † ॥ २२ ॥

तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथास्मिन् पुरुषे  
व्वीर्यं दधामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्व मिति चिति  
मिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन् पुरुषे  
व्वीर्यं दधामेति ॥ २३ ॥

ते चेतयमानाः । • एतत्सामापश्यंस्तदगायं-

\* 'मुपधाय'—इति क ।

† 'फलकम्'—इति ग, 'फलकम्'—इति घ ।



सुदस्मिन् वीर्यं मदधुस्तथैवास्मिन्नय मेतद्दधाति पुरुषे  
 गायति पुरुषे तद्दीर्यं दधाति चित्रे गायति सर्वाच्चि  
 द्वि चित्राख्यमिस्तु मुपधाय न पुरस्तात् परी-  
 याक्तेन्नाय मन्निर्द्दिनसदिति \* ॥ २४ ॥

अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत † । ऽब्रुमे वै लोकाः  
 सर्पास्ते हःनेन सर्वेषां सर्पन्ति यदिदं किञ्च सर्वेषां  
 मु ह्येष देवानां मात्मा यदन्निस्ते देवा एत मात्मान  
 मुपधायाविभयुर्यदै न ब्रुमे लोका अनेनात्मना न  
 सर्पेयुरिति ॥ २५ ॥

तु ऽएतानि सर्पनामान्यपश्यन् । तैरुपतिष्ठन्त  
 तैरस्मा ऽब्रुमँल्लोका ‡ नस्थापयन्तैरनमयन्वदुनमयं-  
 स्तस्मात् सर्पनामानि तथैवैतद्यजमानो यत् सर्प-  
 नामैरुपतिष्ठत ऽब्रुमानेवास्मा ऽएतल्लोकानस्थापयती-  
 मँल्लोकांन्नमयति तथो हास्यैत ऽएतेनात्मना न  
 सर्पन्ति ॥ २६ ॥

\* '०र्द्दिनसदिति'—इति ग, घ ।

† '०रुपतिष्ठते'—इति क, ख ।

‡ 'ऽब्रुमँल्लोका'—इति ग, घ ।

युद्धेव सर्पनामैरुपतिष्ठत । ऽद्धमे वै लोकाः  
 सर्पा यद्दि किञ्च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति  
 तद्यत् सर्पनामैरुपतिष्ठते येवेषु लोकेषु नाष्टा यो  
 व्यहरो या शिमिदा तदैवैतत् सर्व्वं शमयति  
 ॥ २७ ॥

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो \* ये के च पृथिवी मनु ।  
 ये ऽचन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति  
 ये ऽएवेषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति  
 ॥ २८ ॥

या इषवो यातुधानाना मिति । यातुधान-  
 प्रेषिता हैके दशन्ति ये वा व्यनस्पतीर॥२९॥ + ये  
 व्यावटेषु शिरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ये चैव  
 व्यनस्पतिषु सर्पा ये चावटेषु शिरते तेभ्य एतन्नम-  
 स्करोति ॥ २९ ॥

ये व्यामो रोचने दिवो । ये वा सूर्य्यस्य

\* 'सर्पेभ्यः । ये'—इति क, ख ।

† 'व्यनस्पतीरु'—इति ख, 'व्यनस्पतीरु'—इति ग, घ । व्य-  
 स्पतीरु'—इति च इहो आ० वेचरेण ।

रश्मिषु येषा मसु सदस्कातं तेभ्यः सर्पेभ्यो नम  
 इति यत्र-वत्रैते तदेवैभ्य एतन्नमस्करोति नमो  
 नम इति यत्रो वै नमो यन्नेनैवैनामेतन्नमस्का-  
 रेण नमस्यति तस्माद् इ नायन्निषं ब्रूयान्न-  
 मस्त ऽइति यथा हैनं ब्रूयाद्यन्नस्त ऽइति तादृक्  
 तत् ॥ ३० ॥

त्रिभिरुपतिष्ठते । त्रय इमे लोका अथो त्रिष्टु-  
 द्मिर्यावान्मिर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मा ऽएत-  
 दिमांश्लोकान्स्थापयत्यथो तावतैवैतदिदं सर्वं  
 श्रमयति तिष्ठन्नुपतिष्ठते तिष्ठन्तीव वा ऽइमे लोका  
 अथो तिष्ठन्वै व्यौर्यवत्तरः \* ॥ ३१ ॥

अथैन मुपविश्याभिजुहोति † । आज्येन पञ्च-  
 गृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः सर्वतः परिसर्पं सर्वाभ्य  
 एवैन मेतद्दिग्भ्योऽन्नेन प्रीणाति ॥ ३२ ॥

यद्देवेन मभिजुहोति । एतद्दे देवा एत मा-

\* 'व्यौर्यवत्तरः'—इति क ।

† 'जुहोति'—इति क ।

त्मान्मुपधायाविभयुर्यद्द्वै न ब्रूममिह रक्षांसि  
 नाष्टा न हन्युरिति त एतान् राक्षोग्रान् प्रतिसरा-  
 नपश्यन् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथी मिति  
 राक्षोग्रा वै प्रतिसरास्त एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो  
 दिग्भ्यो रक्षांसि नाष्टा अपहत्याभये ऽनाष्ट एत  
 मात्मान् समस्कुर्वन्त तथैवैतद्यजमान एतैः प्रति-  
 सरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षांसि नाष्टा अपहत्या-  
 भयेऽनाष्ट एत मात्मान् संस्क्रुते ॥ ३३ ॥

आज्येन जुहोति । वृञ्चो वा ऽआज्यं वृञ्चो-  
 नैवैतद्रक्षांसि नाष्टा अपहन्ति पञ्चगृहीतेन  
 पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरो-  
 ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैतद्रक्षांसि  
 नाष्टा अपहन्त्याग्नेयीभिरग्निर्वै ज्योती रक्षोहाग्नि-  
 नैवैतद्रक्षांसि नाष्टा अपहन्ति त्रिष्टुग्भिर्वृञ्चो  
 वै त्रिष्टुब् वृञ्चोनैवैतद्रक्षांसि नाष्टा अपहन्ति सर्त्तः  
 परिसर्पुं सर्त्तः एवैतद्दिग्भ्यो रक्षांसि नाष्टा  
 अपहन्ति ॥ ३४ ॥

पश्चाद्गनेः प्राङ्गासीनः । अथोत्तरतो \* दक्षि-  
 ञ्चाय पुरस्तात् प्रत्यङ्ङ्य जघनेन परीत्य दक्षि-  
 ञत उदङ्ङासीनस्तद्दक्षिणात्तद्दि देवत्रायानुपरीत्य  
 पश्चात् प्राङ्गासीनस्तयो हास्यैतत् प्रागेव कर्म कृतं  
 भवति † ॥ ३५ ॥

अथ सूचा उपदधाति । बाहू वै सूचौ बाहू  
 ऽएवास्मिन्नेतत् प्रतिदधाति ते यत् सूचौ भवतः  
 सूचौ हि बाहू ऽइद् मेव कपुच्छल ‡ मयं दण्डो हे  
 भवतो हौ शीमौ बाहू पार्श्वत उपदधाति पार्श्वतो  
 शीमौ बाहू ॥ ३६ ॥

कार्घ्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । एतद्दे  
 देवा अविभयुर्यद्दे नो यन्नं दक्षिणतो रक्षांसि  
 नाष्टा न हन्युरिति त् ऽएतए रक्षोहृषं व्यनस्पति  
 मपश्यन् कार्घ्यं त् ऽएतेन व्यनस्पतिना दक्षिणतो

\* 'प्राङ्गासीनोऽथोत्तरतो'—इति ग ।

† 'भवति'—इति क ।

‡ 'कपुच्छल'—इति क, ख । 'कपुच्छल'—इति, 'करच्छल'—

इति च पाठौ मा०-सम्मतौ इत्यत्र डा०-विचरिच ।

रुचांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्ट एतं यच्च मत्-  
 न्वत तथैवैतद्यजमान एतेन व्यनस्पतिना दक्षिणतो  
 रुचांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्ट एतं यच्च  
 तनुत ऽभ्राज्येन पूर्णा भवति व्यञ्जो वा ऽभ्राज्यं  
 व्यञ्जेणैवैतद्वक्षिणतो रुचांसि नाष्टा अपहन्ति  
 ॥ ३७ ॥

अथौदुम्बरी मुत्तरत उपदधाति । ऊर्ज्वै रस  
 उदुम्बर ऊर्ज्व मेवास्मिन्नेतद्रसं दधाति दध्ना पूर्णा  
 भवति रसो वै दधि रस मेवास्मिन्नेतद्वधाति ॥ ३८ ॥

युद्देव स्रुचा उपदधाति । प्रजापतेर्व्विस्रस्त-  
 स्यामिस्तेज आदाय दक्षिणाकर्षत् सोऽवोदरं मद्यत्  
 कृष्टोदरमत्स्मात् कार्श्र्यीऽथास्येन्द्र षोड आदायो-  
 दङ्कुदक्रामत् स उदुम्बरोऽभवत् ॥ ३९ ॥

तावन्नवीत् । उप मेतं प्रति म एतद्वत्तं येन  
 मे युव मुदक्रमिष्ट मिति ताभ्यां वै नौ सर्व्वं मन्नं  
 प्रायच्छेति तौ वै मा बाहू भूत्वा प्रपद्येथा मिति  
 तथेति ताभ्यां वै सर्व्वं मन्नं प्रायच्छत्तावेनं बाहू  
 भूत्वा प्रापद्येतां तस्माद् बाहुभ्या मेवान्नं क्रियते

बाहुभ्यां जयति बाहुभ्यां हि स सर्वं मङ्गं  
प्रावच्छत् ॥ ४० ॥

स कार्घ्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । अग्नेष्टु  
तेजसा सादयामीति \* यदेवास्य तदग्निस्तेज आदाय  
दक्षिणाकर्षत्तदग्निज्ञेतत् प्रतिदधात्यग्निर्मूर्धा दिवः  
ककुदित्येष उ सोऽग्निर्गायत्या गायत्रोऽग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैना मेतदुपदधाति  
घृतेन पूर्णा भवत्वग्नेयं वै घृतं खेनैवैन † मेतद्  
भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥ ४१ ॥

अथौदुम्बरी मुत्तरत उपदधाति । इन्द्रस्य  
त्वौजसां सादयामीति यदेवास्य तदिन्द्र षोडश  
आदायोदङ्ङुदक्नामत्तदग्निज्ञेतत् प्रतिदधाति भुवो  
यज्ञस्य रवसश्च नेतेत्येष उ स इन्द्रः सा यदाग्ने-  
व्यग्निर्वर्षं ह्यय यत्तिष्टुप् चैष्टुभो होन्द्र ऐन्द्राम्नी-  
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैना मेतदुप-

\* 'तेजसादयामीति'—इति ॥

† 'खेनैव'—इति ॥

दधातीन्द्राग्नी वै सर्व्वे देवाः सर्व्वदेवत्वोऽग्नि-  
 र्यावानग्निर्यावत्वस्य मात्रा तावतैवेना मेतदुप-  
 दधाति दधा पूर्णा भवत्यैन्द्रं वै दधि स्वेनैवेन  
 मेतद्वागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥ ४२ ॥

तावस्यैताविन्द्राग्नी ऽएव बाहू \* । तावेनं तेजसा  
 च क्षीर्येण च सह प्रपद्येते स सम्प्रत्युरः पुरुष †  
 माकाश्च ब्रवाभ्याप्नोति तदालिख्यैने ऽउपदधात्येषु  
 हैतयोर्लोकः ‡ ॥ ४३ ॥

ते हैके तिरश्चा ऽउपदधति । तिर्यञ्चौ वा  
 ऽद्रमौ बाहू § ऽद्रति न तथा कुर्यात् प्राच्यावेवो-  
 पदध्यात् प्राङ् छेषोऽग्निश्चीयतेऽथो ऽएवं वै बाहू  
 क्षीर्यवत्तरौ ते नानोपदधाति नाना सादयति  
 नाना सुददोऽसाधिवदति नाना हीमौ बाहू ॥

॥ ४४ ॥

\* , ॥ 'बाहू'—इति क , 'बाहू'—इति ग , घ ।

† 'पुर एव'—इति ख ।

‡ 'हैतयोर्लोकः'—इति ग , घ ।

§ 'बाहू'—इति ख ।



तदाहुः \* । नैतस्य पुरुषस्य बाहू कुर्यादितौ  
 वा ऽपस्य बाहू ये ऽपते सुचौ नेदतिरेचयानीति  
 स वै कुर्यादिवैतौ वा ऽपस्य बाहू ऽपन्वेते सुचा-  
 वयो ऽपतौ पद्मावयो यान्वेतस्मिन्नमनौ रूपाय्युप-  
 धास्यन् भवति यान्स्तोमान् यानि पृष्ठानि यानि  
 छन्दाऽस्येतयोरेव सा संस्कारितेतयोर्वृद्धिस्तस्माद्  
 कुर्यादिवैतस्य पुरुषस्य बाहू † ॥ ४५ ॥ १ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [४. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःशसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्भमे , त मङ्गं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अग्निग्रहण-सत्यसामगान-पुष्करपर्षीपधानानि पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे  
 सहस्रेण विहितानि , इदानीं तानि क्रमेण प्रपञ्चयति— “आत्म-  
 न्निं गृह्णीते चेष्वन्नित्यादिना ‡ । ‘चेष्वन्’ चयनं करिष्यन्  
 अध्वर्युः ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘अग्निं’ ‘गृह्णीते’ मन्त्रेण धारयेत् ।

\* ‘तदाहुः’—इति ख , ‘तदाहुः’—इति ग , घ ।

† ‘बाहू’—इति ख ।

‡ का० जी० ख० १७. ३. २७ क ।

“आत्मनो वा इत्यादि । अध्वर्युः ‘आत्मनोऽधि’ अधिः पञ्च-  
 म्बर्धानुवादी ; “अधिपरी अनर्थकौ”—इति \* पाणिनिस्वरण्यात् ।  
 आत्मनः सकाशात् खल्वध्वर्युः ‘एतं’ चित्त्वाम्निं ‘जनयति’ ।  
 तथा सति लोकस्थितिरीदृशी, ‘यादृशात्’ यादृक्स्वरूपात् खलु  
 मनुष्यादिशरीरात् गर्भो ‘जायते’, ‘सः’ ‘तादृक्’ तत्सदृश एव निष्प-  
 द्यते ; सति ज्ञान्निग्रहणे अध्वर्युरन्व्यात्मको भवति, तादृशादध्व-  
 र्योर्जायमानश्चित्त्वाम्निरपि साक्षादन्निरूपो भवति । तस्मादात्म-  
 न्यन्निग्रहणं कर्त्तव्यं मित्यर्थः ॥

अट्टहीत्वा चयने दोष मुपग्यस्यति—“स यदात्मकिति । ‘सः’  
 अध्वर्युः ‘यत्’ यदि आत्मन्यन्निग्रहणं मकृत्वा ‘अग्निं चिनु-  
 यात्’, तदा देवरूपानापन्नाश्मनुष्यशरीरमात्रात् मनुष्यात्मकं नैव  
 ‘जनयेत्’ ; कारणानुरूपत्वात् कार्यस्येति भावः । कारणं हि  
 शरीरं मनुष्यजातीयम्, अत एव ‘मत्स्यं’ मरणशीलम् अनपहत-  
 पापकं मरणादिहेतुभूतपापसहितम्, तथाविधाज्जायमानोऽग्नि-  
 रपि तादृग्रूपो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥

सति त्वन्निग्रहणेऽभिहितदोषवैपरीत्यं माह—“अथ यदेति ।  
 “तदग्नेरेवेत्यादि । अन्निरूपादात्मनः सकाशात्जनयन् ‘अग्निम्’  
 एव ‘जनयति’ । असृतरूपस्याग्नेर्धारणादध्वर्युरप्यसृतात्मकः । शिष्टं  
 स्पष्टम् ॥ १ ॥

इत्यं मन्निग्रहणस्यावश्यकं च्युता मुपपाद्यं समन्वयं तद्  
 विधत्ते—“स गृह्णातीति । “मयि गृह्णामीति † ग्रहण-

\* पा० ख० १. ४. ६३ ।

† वा० सं० १३. १ ७

मन्त्रः। तत्र मयीत्वकाच्छब्दश्चवचादात्मव्यन्तैर्ग्रह्यं निगदसिद्ध  
मित्याह— “तदात्मन्नेवेति। ‘अग्ने’ चयनात् प्राह्वाले। द्वितीय-  
भाग मनुष्य, तस्य तात्पर्यं माह— “रायस्त्रोषावेति। राय-  
स्त्रोषो धनसद्विद्भिः, सुप्रजास्व’ शोभनपुत्रपौत्रादियुक्तत्वम्, शोभन-  
वीर्ययोगः सुवीर्यम्, ‘तत्’ तेन मन्त्रभागेनोक्तसद्वचाः ‘सर्वाः’  
‘आशिवः’ फलानि आत्मनि स्वीकरोति। तृतीयभाग मनुष्य  
व्याचष्टे— “मा सु देवता इति। यस्मात्प्रदेवताः ‘मा सु’ मा  
मेव ‘सचन्ता’ मदीययज्ञं सेवन्ता मिति। एतेन मन्त्रभागेन देव-  
तामा मप्यात्मनि ग्रह्यं कृतं भवति। “तद्यत्किञ्चेत्यादि।  
‘तत्’ प्रागुक्तं ‘यत्’ किं अपि मन्त्रप्रतिपाद्यं रायस्त्रोषादिक  
मात्मनो जनयितव्यं मस्ति, तत् सर्वं मनेन मन्त्रेषात्मनि गृहीत  
मेव भवतीति ॥

अग्निग्रह्यस्य तिष्ठता कर्त्तव्य मिति स्थितिसद्वचं गुणं  
विधत्ते— “स वै तिष्ठन्निति \*। चयनसमये तु उपवेशनम् †  
तस्य विधत्ते— “अनूपविश्य चिनोतीति। यत्र यत्रेष्टका सुप-  
दधाति, तं तं देयं गत्वा तस्मिन्निपि ‡ उपविश्य, चिनुयादित्यर्थः।  
एतदुभयं स्वीति— “पशुरेव इति। पशुरूपो हि ‘एवः’ अग्निः,  
‘तस्मात्’ एव हि कारणात् नवादिसद्वचः ‘पशुः’ तिष्ठन्नेव गर्भं  
धत्ते, ‘अनूपविश्य’ ‘विजायते’ प्रसूते। अतोऽग्निग्रह्यं गर्भधारण-

\* का० श्रौ सू० १७. ३. २७ ख ।

† ‘चयनसमयेऽनूपवेशनम्’—इति ज-पाठः ।

‡ ‘समीपे’—इति ज-पाठः ।

भूतत्वात् तिष्ठतैव कार्यम्, अयमन्तु प्रसवरूपत्वाहुंपविष्टेनेति  
तात्पर्यम् ॥ २ ॥

अथ प्राग्विहितं सत्वसाधो गान मनुष्य स्तीति— “अथ  
सत्व मिति \* । ‘एतत्’ एतस्मिन्नन्तरे खलु देवा अनुवन्, ‘अस्व’  
अग्नेः ‘सत्वं’ सत्वफलसाधनं साम ‘मुखं’ करवाम’, तथाकर-  
णाच्च वयं ‘सत्वं’ भविष्यामः’ सत्वभूताः सर्वदा बाधरहिताः  
स्याम । ‘नः’ अस्मान् ‘सत्वं’ सत्वाभिमानिदेवता ‘अनुवर्षति’  
अनुवर्षनं करिष्यति । तथा च ‘नः’ अस्माकं ‘सः’ तादृशः  
‘कामः’ यत्प्रफलरूपः ‘सत्वं’ यथायी भविष्यति, ‘यत्’ फलं  
कामयमाना ‘एतद्’ अग्निचयनात्मकं कर्म करिष्यामहे । ‘इति’-  
शब्दो देवानां कामपरिसमाप्ति ॥ ३ ॥

“त एतदिति । एवं विचार्यते— ‘ते’ देवाः ‘एतत् सत्वं साम’  
‘पुरस्तात् अगाधन्’ ‘तत्’ तेन सत्वसाधो गानेन ‘अस्व’ अग्नेः  
‘मुखं’ ‘सत्वं मनुवर्षन्’ ततः ‘ते’ देवाः ‘सत्वं मभवन्’ नित्यत्वं  
प्राप्ता इत्यर्थः । व्याख्यातप्राय मन्वत् ॥ ४ ॥

इत्वं परकृति सुपन्थस्व प्रकृते योजयति— “तथैवेति । यथा  
देवाः, ‘तथैव’ ‘एतद्’ एतर्हि ‘यजमानः’ ‘सत्वं साम’ ‘पुरस्तात्’  
पूर्वस्थां दिशि ‘गायति’ ‘इति’ ‘यत्’ अस्ति, ‘तत्’ तेन ‘अस्व’  
चित्वाग्नेः मुखं ‘सत्वं’ सर्वदा विद्यमानं ‘करोति’ । ‘सः’  
यजमानः स्वयं मयि तथाकरणात् ‘सत्वं’ सत्वात्मको ‘भवति’ ।  
गत मन्वत् ॥ ५ ॥

सत्यपदस्याभिप्रेत मर्थं माविष्कुर्वन् प्रशंसति— “तदादिति । ‘तत्’ तत्र तदुक्तविधं ‘यत् सत्यम्’, ‘आप एव तत्’ अथ मेव \* सत्यपदेनोक्त मित्यर्थः । अपां सत्यरूपता सुपपादयति— “आपो हीति । ‘हि’ यस्मात् प्रथमसृष्टत्वादापः सत्यात्मिकाः, ‘तस्मात्’ येन भूपदेशेन ताः ‘आपः’ ‘यन्ति’ गच्छन्ति, ‘तत्’ स्थानं ‘सत्यस्य’ उदकात्मकस्य ब्रह्मस्यो ‘रूप मिति’ ‘आहुः’ कथयन्ति ब्रह्मवादिनः । अपां प्रथमसर्गस्य स्मर्यते— “अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यं मवाकिरत्”—इति † । “अप एव तस्येत्यादि । अपां सत्यरूपत्वात् ‘तत्’ तेन सत्यसाम्बोऽपतोऽगानेन ‘अस्य’ सर्वस्य जगतः अप एव ‘अथं’ मुखम् ‘अकुर्वन्’ देवा इत्यर्थः । अपा मयकरचस्य फल माह—“तस्मादिति । ‘तस्मात्’ उक्तहेतोः ‘यदैव’ खलु ‘आपः’ वृक्ष्युत्पन्नाः ‘यन्ति’ प्रवहन्ति, ‘अथ’ अनन्तर मेव ‘इदं’ दृश्यमान मोषधिवनस्यत्वादिरूपं ‘सर्वं’ जगदुत्पद्यते । सर्वशब्दस्य सङ्घुच- हृत्ततां निराचष्टे— “यदिद मिति ॥ ६ ॥

पुष्करपर्षोपधानं विधाय स्वीति— “अथ पुष्करपर्षं मिति ‡ । ‘अथ’-शब्दः सत्यसामगानानन्तर्यार्थः । “त मद्वा उपोदास्यं पुष्करपर्षं विवेदेति § अन्वुपलम्भाधिकारचत्वस्य न्युतत्वात् पुष्करपर्षस्याम्बियोनित्वम् ॥ ७ ॥

\* ‘आपस्य मेव’—इति च, ह ।

† म० बं० १३० दृष्टो० । तत्र ‘वीर्यं मवाकिरत्’—इति पाठः ।

‡ का० श्री० सू० १७. ४. १ ।

§ पुरस्ताद् मतम् (७. ३. २. १४—२०५ पृ० १० पं०) ।

॥ ‘पुष्करपर्षस्य योनित्वम्’—इति च, ह ।

प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णस्वामिन्योनित्वं मनुवादपूर्वकं प्रति-  
पादयति— “यद्देवेति । “आपो वै पुष्कर मित्वादि । “पुष्करं  
सर्वतो मुख मित्वादि निगदप्रसिद्धिद्योतको \* ‘वै’-शब्दः । ‘तासाम्’  
अपां प्रथमसृष्टानाम् ‘इयं’ पृथिवी ‘पर्णं’ पर्णस्थानीया ।  
एतदेव विशदयति — “यथा ह वा इति । ‘इदं’ ‘पुष्करपर्णं’  
पद्मपत्रं ‘यथा’ खलु ‘अप्सु’ ‘अध्याहितम्’ उपर्याश्रितं सत् दृश्यते,  
‘एवम्’ ‘इयं’ पृथिवी ‘अप्सु’ उदकेषु ‘अध्याहिता’ उपर्याश्रिता  
वर्त्तते । अत एवोपरिष्ठात् “तद्यथां शरः आसीत्क्षममहन्वत् सा  
पृथिव्यभवदित्यान्नास्यते † । अतः पुष्करपर्णसाम्यात् पृथिव्याः  
पुष्करपर्णत्वम् । “स्येयं योनिरित्वादि । यदिहं पृथिव्यात्मकं पुष्कर-  
पर्णं ‘स्येयं मन्नेर्योनिः’ उत्पत्तिकारणम् ; अत एव हि ‘इयं’  
पृथिवी कार्यकारणयोरभेदाच्चित्वाग्निरूपेण वर्त्तते । एतत् तादात्म्य  
मुपपादयति— “अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयत इति । “वष्टयर्थे  
चतुर्थी” ‡ । अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनीभिः § मृग्योभिरिष्ट-  
काभिः क्षत्रस्रोऽग्निर्यतश्चीयते ॥ , अतः पृथिव्या अग्नेश्च तादात्म्य  
मुक्त मित्यर्थः । उदीरितरीत्या यतः पुष्करपर्णं पृथिवी , अत-  
स्तदुपधानेन ‘इमा मेव’ पृथिवी मुपहितवान् भवतोत्यर्थः ॥

अथैतस्योपधानस्य सत्यसामानन्तर्यं मनूष्य स्तीति— “ता

\* ‘निघण्टुप्रसिद्धिद्योतको’—इति च. क ।

† का० १०, प्र० ४, त्रा० ८, क० २ द्रष्टव्यम् ।

‡ पा० २. ३. ६२ क० १ वा० ।

§ ‘मकाशान्’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘क्षत्रस्रोऽग्निर्यतश्चीयते !’—इति ज-पाठः ।

मनन्तर्हिता मिति । 'सत्यात्' सत्यसामगानात् 'मनन्तर्हिताम्' अव्यवहितां 'तां' पुष्करपर्णैष्टका मुपदध्यात्, 'तत्' तेनानन्तर्हितत्वेन 'इमां' पृथिवीं 'सत्ये प्रतिष्ठापयति' । 'तस्मात्' एव खलु 'इयं' पृथिवी 'सत्ये' ब्रह्मणि अप्तोपाधिके 'प्रतिष्ठिता' दृश्यते । "तस्माद्द्वय मिति । 'उ'-शब्दोऽवधारणे । यस्मात् सत्ये प्रतिष्ठिता, 'तस्मात्' एव कारणात् अधिकरणाधिकार्थव्ययोरभेदोपचारेण 'इय मेव' पृथिवी 'सत्यम्' । सत्यरूपता मुपपादयति— "इयं हीति । 'इयां' पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकानां मध्येऽपि 'इय मेव' खलु पृथिवी 'अज्ञातमाम्' प्रत्यक्षतमाम्, अपारोक्षणावभासमाना \* दृश्यते, तस्मादस्माः सत्यरूपत्वं बोद्धव्यम् । "किमेत्तिडव्ययघादिति † चाप्रत्ययः ॥ ८ ॥

अथ तस्मिन् पुष्करपर्णोपधाने मन्त्रं ‡ विधाय पदशो व्याचष्टे— "अपाम्मृष्ट मसीति § । "अपाप् हीय मिति । 'इयं' पृथिवी उपर्यवस्थानात् 'अपां' पृष्ठवत् 'पृष्ठम्' अतो हे पुष्करपर्ण ! त्वम् 'अपाम्' उदकानां 'पृष्ठ मसि' पृष्ठभागो भवसि । "योनिर्हीय मिति । चित्यस्मान्नेः 'योनिः' पृथिवी ; इष्टकोपादा-वत्वात् । हे पुष्करपर्ण ! त्वम् 'अग्नेः' तादृशी 'योनिः'

\* आपरोक्षेण वर्तमाना—इति अ-पाठः ।

† पा० ख० ५. ४. ११ ।

‡ का० श्री० सू० १६. २. २३ ।

§ "अपाम्मृष्ट मसि योनिरग्नेः समुद्र मभितः पितृमानम् । वह्निमानो महार आ च पुष्करे दिवो मातया वरिष्वा प्रथस्य"—इति वा० सं० ११. २६ ।

असोति प्रथमपादार्थः । “समुद्रो हीमा मिति । ‘इमां’ पृथि-  
 बोम् ‘अभितः’ सर्वतः, पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु ‘समुद्रः’ ‘पिन्वते’  
 सिञ्चति । “पिवि सेवने”-इति \* धातुः । महच्छब्दस्य व्याख्यानं  
 ‘महोयस्य’-इति । “महोड् वृद्धी”-इति † धातुः, कण्ठादिः ।  
 “अनुविमार्ष्टीति । चतुर्थपादावसाने पुष्करपर्णं मुपदधानः तस्मा-  
 न्मुक्तोभ्येन विमार्जनं कुर्यात् । “असौ वा आदित्य इत्यादि, चतुर्थ-  
 पादव्याख्यानम् । “नो हैत मन्य इति । ‘दिवोऽन्य’ द्युलोकव्यति-  
 रिक्तोऽन्यः ‘वरिमा’ भाववाचिना तद्धान् लङ्घते, उरुतरः पदार्थः ।  
 ‘एनम्’ अग्निं ‘नो’ खलु ‘यन्तु मर्हति’ । तथाच “दिवो मातृया  
 वरिष्णा”-इति “इत्यभावे ढतोया”-इति‡ व्याख्यातं भवति ; अतो-  
 ऽय मर्थः सम्भवत इत्याह—“द्यूर्भूत्वेति । हे पुष्करपर्ण ! त्वं ‘द्यूः’  
 द्युलोको ‘भूत्वा’ ‘एनम्’ अग्निं ‘यच्छ’ यमय ‘इति’ तात्पर्यार्थः ॥

छन्दोदारेणैतत् प्रशंसति— “स्वराजोपदधातीति । उत्तरार्धे  
 वैराजपादाभ्यां हे अक्षरे अधिके, तदाधिक्यं स्वराडास्यस्य छन्दसो  
 लक्षणम् ; “द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ”-इति-§-स्मरणात् । स्वायत्तं  
 राजते ईष्टे इति स्वराट्, स्वतन्त्रेस्वरः, तस्य कर्म ‘स्वाराज्यम्’ ;  
 ‘अपां’ सम्बन्धि यत् स्वाराज्यं तदेव पुष्करपर्णम् ; अतस्तस्य  
 स्वराजोपधानं युक्तं मिति भावः । “सादयित्वेत्यादिकं प्राशु-  
 त्तार्थम् ॥ ८ ॥

\* धा० भ्वा० प० ५८८ ।

† “महोड् पूजयाम्”-इति क० आ० ३६ धा० ।

‡ पा० मू० २. ३. २१ ।

§ पि० छ० सू० १अ० ४ख० द्रष्टव्यम् ।



आकाशात्मना सुतस्य पुष्करपर्णस्य मध्ये सूर्यमण्डला-  
 ज्ञाना ध्यातव्यस्य रुक्मस्योपधानं विधत्ते— “अथ रुक्म मिति †  
 ‘अथ’-शब्दः पुष्करपर्णोपधानानन्तर्यायः । रुक्मस्यादित्यात्म-  
 कत्वमुपपादयति— “एष होमा इति । ‘एषः’ एव परिदृश्य-  
 मानः, ‘हि’ ‘असौ’ ‘आदित्यः’ ‘इमाः सर्वा प्रजाः’ ‘अतिरोचते’ ।  
 अतो रोचते इति व्युत्पत्त्या रुच-धातोः पचाद्यच्च रोच इति तस्य  
 नामधेयं सम्प्रदाते, तदेव पारोक्ष्येण रुक्म इति ब्रुवते ; परोक्ष-  
 प्रियत्वाद्देवाना मित्यर्थः । रुक्मस्य प्रकृतिद्रव्यमाकृतिविशि-  
 षत्त्वदर्शयति— “स हिरण्मय इति । ‘सः’ रुक्मः सुवर्णमयः  
 कार्यः । दाण्डिनायनादि सूत्रे † निपातनात्मयटि हिरण्यशब्द-  
 स्थान्मयकारलोपः । ‘परिमण्डलः’ वर्तुलाकृतिः । ‘एकविंशति-  
 निर्वाधः’ एकविंशतिसङ्ख्याकैः पुलकैर्युक्तः कार्यः । “तस्योक्त  
 इति । ‘तस्य’ एकविंशतिसङ्ख्यायोगस्य “द्वादशमासाः पञ्चर्षव  
 इत्यादिनां स्तुतिः प्रागान्नातैत्यर्थः ‡ । उपधानसमये निर्वाधाना  
 मधोभागेऽवस्थानं यथा भवति तथा कर्त्तव्य मिति विधत्ते—  
 “अधस्तान्निर्वाध मिति § । तस्य कारणमाह— “रश्मयो वा  
 एतस्येति । सूर्यमण्डलस्याधस्ताद् भागे हि रश्मयो नि-  
 सरन्ति, अतो रश्म्यात्मकानां निर्वाधानामधस्ताद् भागे कारणं  
 युक्त मिति ॥ १० ॥

\* का० श्रौ० सू० १०. ४. १ ।

† पा० सू० ६. ४. १०४ ।

‡ इका० २. १. ३ (६भा० ८६९०) दृष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १०. ४. २ सू ।

तस्य पुष्करपर्णमध्ये उपधानं विधत्ते—“तं पुष्करपर्णं इति \* ।

पुष्करपर्णस्य योनिरूपत्वं प्रागुक्तम् † ॥ ११ ॥

प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णे रक्षोपधानं स्तौति—“यद्देवेति ।  
‘प्रतिष्ठा’ आस्यदम् । तद्रूपतां पुष्करपर्णस्योपपादयति—“इयं  
वै पुष्करपर्ण मिति । “यो वा अस्या मित्यादि । ‘यः’ खलु  
‘अस्यां’ पृथिव्याम् ‘अप्रतिष्ठितः’ प्रतिष्ठितो न भवति , ‘सः’ दूर-  
देशे ‘सन्’ वर्त्तमानः ‘अपि’ ‘अप्रतिष्ठितः’ प्रतिष्ठारहितो निरा-  
लम्बनः ‘एव’ भवति । यद्येव माकाशि वर्त्तमानस्य सूर्यस्य  
पृथिव्या मनवस्थानादेतेन पुष्करपर्णे उपधानेन ‘एनं’ रक्षारूप  
मादित्यम् ‘एतम्’ ‘अस्यां’ पृथिवीरूपाया मेव ‘प्रतिष्ठायां’  
‘प्रतिष्ठापयति’ ॥ १२ ॥

एतदेव रक्षोपधानस्य पुष्करपर्णाधिकरणत्व माख्यायिकया  
पुष्करनामनिर्वचनेन प्रतिष्ठारूपतां ब्रुवन् स्तौति—“यद्देव  
पुष्करपर्ण इत्यादिना । ‘नास्तृषि’ न खल्वह मंद्यापि ह्यत्र  
महिंसिष मिति विपर्यस्तमतिः सन्नित्यर्थः । सः ‘इन्द्रः’ अन्-  
न्तरम् ‘अपः प्राविशत्’ । ‘ताः अभ्रवोत्’ अहं हवाद् ‘विभेमि’  
विभ्यतो मम ‘पुरम्’ भयरहित मावासस्थानं हे ‘आपः ! यूयं  
‘कुदत’ । आपश्चैतद्वचः श्रुत्वा ‘यः’ स्वकोयो ‘रसः’ प्रातिस्विकः  
‘आसोत्’, ‘त मूर्ध्नि समुदीहन्’ उद्दक्षिपन् । त मेव रसं पुष्करपर्णा-  
क्षना परिणतं निवासस्थानं मकुर्वन् । यस्मादेवं पूः अक्रि-  
यत , ‘तस्मात्’ तस्य ‘पुष्करम्’-इति नाम सम्पन्नम् । पूः क्रियते

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ३ ।

† इहैव सप्तमकाण्डीभाष्यं द्रष्टव्यम् ( २४८ पृ० ) ।

अनेनेतिव्युत्पत्तेः पुष्कर मिति प्रयोक्तव्ये पुष्कर मिति प्रयो-  
गसु पारोक्ष्यकारणायैति सङ्गहेणार्थः । एवं पुष्करनामनिर्वचनं  
कृत्वा प्रकृते योजयति — “तद्यत् पुष्करपर्ण इति । ‘अस्य’  
अस्मै इन्द्राय ‘य मेव’ ‘एतं’ रसम् ‘आपः’ पुरा ‘समुद्रीहन्’ समुत्-  
क्षिप्तवत्यः, तदनन्तरम् ‘अस्मै’ एवेन्द्राय यां ‘पुरं’ पुष्करपर्णात्कि-  
काम् ‘अकुर्वन्’, ‘तस्मिन्नेव’ उभयरूपे स्वाश्रये रुक्मरूपेणावस्थित  
मिन्द्रशब्दाभिधेयम् ‘एनं’ सूर्यम् ‘एतत्’ एतेन ‘प्रतिष्ठापयति’  
इत्यर्थः ॥ १३ ॥

तस्मिन् रुक्मोपधाने मन्त्रं दर्शयति — “ब्रह्मजज्ञान  
मिति \* । ननु षड्भावविकाररहित मीपनिषदं ब्रह्म ‘ः’, तत्  
कथं तस्य जनिक्रियायोगो मन्त्रपदेन प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य  
व्याचष्टे — “असौ वा आदित्य इति । अत्र प्रादुर्भाव  
एव जनैरर्थो न तूत्पत्तिः । अयं मर्यः । तदुक्तविधं ‘ब्रह्म’  
सगुणं सत् ‘असौ’ द्युलोकस्थः ‘आदित्यः’ भूत्वा प्रत्यङ्  
‘पुरस्तात्’ पूर्वस्थां दिशि ‘जायते’ उदेति । जज्ञान मिति  
अनेनेतिः कानजादेशे रूपम् । द्वितीयपादे क्रमेण पदार्थानाह —  
“मध्यं वा इति । सोमस इति पदे यत् सोमेति प्राति-  
पदिकम्, तस्मिन् माचष्टे । सुष्ठु रोचन्ते सविदप्रकाशेन  
दीप्यन्त इति ‘सुश्चः’ पृथिव्यादिलोकाः । “असावादित्यो  
वेन इति । यद्देनोऽसावुच्यते, तन्नामनिर्वचनं करोति —

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २ ।

† “षड् भावविकारा भवन्तीति वाच्यायनिः । जायतंस्कि विप-  
रिक्मते वदन्तःपञ्चोयने विनश्यन्तीति” — इति निरु० १. १. ३ ।

“यद्वा इति । यस्मात् कारणात् ‘प्रजिजनिषमाणः’ प्रज-  
नितुं प्रादुर्भवितुं मुदेतुं मिच्छन्, ‘अवेनत्’ कान्तियुक्तोऽभ-  
वत्, ‘तस्मात्’ वेनति दीप्यत इति ‘वेनः’ इति सूर्यस्य नाम सम्ब-  
न्धम् । अत एव यास्कोऽप्याह स्म— “वेनो वेनतेः कान्ति-  
कर्मणः”—इति \* ।

इत्थं पदार्थानुक्ता वाक्यार्थं माह— “तानेष इति ।  
‘तान्’ सुरुच्-शब्दाभिधेयान् पृथिव्यादिलोकान्, ‘एषः’ सूर्यः  
‘सोमतः’ मध्यतो ‘व्यावः’ व्याहृणोत्, उदयेन प्रकाशितवान् ।  
हृणोतेर्लुङि “मन्त्रे घसेत्यादिना च्चेर्लुक् १”, “हृन्दस्यपि दृश्यते”—  
इत्याडागमः † । एतस्य पदस्योक्तार्थपरतां व्याचष्टे— “विहृ-  
ण्वुदेतीति । तृतीयपाद मनुष्य व्याचष्टे— “स बुध्ना इति ।  
बुध्नो मूलम्, तत्र भवाः ‘बुध्याः’ पादाः । ते च ‘अस्य’ सूर्यस्य  
दिगात्मकाः; रश्मिप्रसरणहेतुत्वात् । ‘ताः’ बुध्म्यशब्दाभिधेया दिशः  
‘उप’ समीपे स्वगतिभेदेन निर्भिमीत इति ‘उपमाः’ सूर्यः । तथा  
‘ताः’ दिशोऽनुलक्ष्य ‘वितिष्ठते’ विविधं पूर्वपश्चिमादिदिग्भेदहेतु-  
त्वेनावतिष्ठत इति । ‘विष्ठाः’ तिष्ठते, “आतो मनिक्विति ‡  
चिच् । एवञ्चूतः सूर्यः ‘सतः’ लोकत्रयात्मकस्य भावरूपस्य,  
‘असतः’ अभावात्मकस्य ‘च’ ‘योनिम्’ उत्पत्तिस्थानं ‘विवः’ विहृ-

\* निरु० १०. ४. १ ।

† पा० सू० २. ४. ८० ।

‡ पा० सू० ६. ४. ७३ ।

§ पा० सू० ३. २. ७४ ।

योति । 'सदसश्चन्द्रयोर्भावाभावपरतां व्याचष्टे— "यच्च शक्ति  
यच्च नेति \* ।

इन्द्रोदारेण प्रशंसति— "त्रिष्टुभेति । "त्रैष्टुभो ह्येष  
इति । "गायत्री वै पृथिवी, त्रैष्टुभ मन्तरिक्ष मित्यादि-  
श्रुतेः । द्वितीयस्थानत्वाच्चान्तरिक्षस्य त्रिष्टुप्सम्बन्धः । तत्र  
सङ्घरन् । त्रिष्टुप्छन्दस इन्द्रेण सहोत्पत्तेषु † इन्द्रात्मक एव  
सूर्योऽपि 'त्रैष्टुभः' । "सादयित्वेत्यादि व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

इक्ष्ममध्ये हिरण्यपुरुषस्योपधानं विधत्ते— "अथ पुरुष  
मिति ‡ । "स प्रजापतिरित्यादि । 'सः' उपधेयः पुरुषः  
'प्रजापतिः' । सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानिविराडात्मकः, स एवाग्निः  
सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानिहिरण्यगर्भात्मकः, यजमानस्य तद्रूपप्राप्तेः  
यजमानात्मकोऽपि § स इत्यर्थः । तस्य हिरण्यविक्रितित्वं  
विधाय स्तौति— "स हिरण्य इति । "ज्योतिर्वा इति ।  
भास्वररूपोपेतत्वात् ज्योतिरात्मकं हिरण्यम् । तथा अत्व-  
न्ताग्निसंयोगेऽपि समुच्छित्तिविरहात् 'अमृतं' अमरत्वस्य भावं  
'हिरण्यम्' । चौयमानोऽग्निरपि एतदुभयात्मक इति ( तस्य )  
हिरण्यत्वं युक्तमित्यर्थः । पुरुषरूपता मनूय प्रतिपादयति—  
"पुरुषो भवतीति । 'हि' यस्माच्चित्वाग्निरूपेण संस्कर्तव्यः प्रजा-

\* वा० सं० १३. ३ ।

† ते० सं० १. १. ४ द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्री० छ० १०. ४. ३ ।

§ यजमानोऽपि—इति ज-पाठः ।

पतिः पुरुषविधः, तत्प्रतिरूपत्वाद्द्विरस्त्रयस्त्रीपधेयस्य पुरुषाकृति-  
र्युक्तेत्यर्थः ॥ १५ ॥

एतदेव पुरुषोपधानं मनूय मनःप्राणादात्मकसूक्ष्मशरीर-  
स्वापनरूपेण स्त्रीति— “यद्देवेति । “प्रजापतेर्विस्रस्तादित्यादि ।  
प्रजापतिर्हि पुरा विस्रस्ताशरीरोऽभूत्, तथाविधात् तस्मात्  
'रम्या' रमणीया ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा सूक्ष्मा 'तनूः' 'मध्यतः'  
शरीरमध्यात् 'उदक्रामत्' उर्ध्वं निरगमत् । 'तस्याम्' अर्धं  
निष्क्रान्तायां सत्याम् 'एनं' प्रजापतिं चक्षुराद्यभिमानिनः 'देवाः'  
आदित्यादयः 'अजहुः' अत्यजन् । “ओ हाक् .त्यागे”—इति \*  
धातुः । 'तं' तथाविधं प्रजापतिं 'देवाः' तत्पुत्राः 'यत्र' यस्मिन्  
प्रदेशे 'समस्कुर्वन्' चित्वात्मिकरूपेण संस्कृतवन्तः । “अउभ्यासव्यवा-  
येऽपीति † कात् पूर्वः सुट् । 'तत्' तत्र 'अस्मिन्' प्रजापतौ 'एतां'  
निष्क्रान्तां रम्यां तनूँ 'मध्यतः' 'अदधुः' स्थापयान्तः । 'अस्मिन्'  
'प्रजापतेः' 'तस्यां' तस्यां पुरा निष्क्रान्ता इन्द्रियदेवताः 'अरमन्त'  
पुनः प्रविश्यातिष्ठन्त्यर्थः ॥

उल्लासीपजीवनेन द्विरस्त्रनामनिर्वचनं करोति— द्वितायां  
स्थापितायां ज्ञानक्रियाशक्त्युपेतत्वेन रमणीयायां यस्माद् 'देवा अरं-  
मन्त', 'तस्मात्' द्वितोऽस्मिन् रमत इति व्युत्पत्त्या द्विरस्त्रं मिति  
नाम सम्यक्, तदेव पारोक्ष्येण •द्विरस्त्रं मित्युच्यते । उषोदरा-  
दित्यात्तद्रूपसिद्धिः । अत एव “द्विरस्त्रं कस्मादिति प्रकम्ब्योक्तं  
यास्केन— “द्वितरमणं भवतीति वा”—इति ‡ ॥

\* धा० सु० प० ८ ।

† पा० ६. १. १४० सु० वा० १ । ‡ गिर० १. १. १ ।

एवं पुराकल्प मभिधाय प्रकृते योजयति— “तथैवास्मिन्नि-  
त्वादिना । ‘अयं’ यजमानः । शिष्टं स्पष्टम् । का पुनरसौ रम्या  
तन् रिति ता माह— “प्राणो वा अस्येति । प्राणापानादिपञ्च-  
वृत्त्यात्मकः क्रियाशक्त्यात्मकः ‘प्राणः’, ‘अस्य’ प्रजापतेरेव ‘रम्या  
तनुः’ अतस्तत्स्वापन मेव कृतं भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

तस्य पुरुषोपधानस्वाधारविशेषं विधाय स्तौति— “तं  
रुक्म इति । यो रुक्मः पुष्करपर्णे उपहितः \* , तस्य मध्ये ‘तं’  
हिरण्यं पुरुष सुपदध्यात् । आदित्यमण्डलात्मको हि ‘एष  
रुक्मः’ आदित्यमण्डलमध्ये यो हिरण्यः पुरुष आस्ते ।  
अत एव श्रूयते— “य एष अन्तरादित्ये हिरण्यः पुरुषो  
दृश्यते , हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेय आ प्रथस्वात् सर्व एष  
सुवर्षः”—इति † । एष एवोपधीयमानो हिरण्यः पुरुषः ;  
रुक्मरूपे आदित्यमण्डले ‘त मेव’ पुरुष सुपहितवान् भव-  
तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

तत्रोपधाने पुरुषस्योपरिसुखत्वं विधत्ते— “उत्तान सुप-  
दधातीति । अतदेवोपरिष्ठात् सुखत्वं मास्थायिकया प्रति-  
पादयति— “एतद्दे देवा इत्वादिना । ‘यदि’ खलु ‘इमो’  
रुक्मपुरुषो ‘अर्वाक्षी’ अधोमुखी ‘उपधास्वामः’, उभयोस्तेजसोः  
संसृष्टत्वेन प्रवक्षतरी अधोमुखं, ‘सर्वं मेवेदं’ जगत् ‘प्रधक्षतः’  
प्रदग्धं करिष्यतः ॥

\* “रुक्मश्च यः कच्छे प्राग् धृतः”—इति कर्त्तार्षेयः । का० श्रौ०  
ख० १६. ५. १ द्रष्टव्यम् । इहापि षड्काळे ५. १. २ ( ६ भा० ३७१८० ) ।

† हान्दोग्य-त्रा० ३. ६. ६ ।

एतद्दोषपरिहारार्थं 'यदि' क्लृप्तेतौ 'पराञ्ची' 'परासुखी' उपधास्यामः, तथा सति 'पराञ्चावेव' परासुखावेव सन्ती 'तस्मात्' सूर्यमण्डलात् ये उपरितना लोकाः, तत्रैव सूर्यप्रकाशः स्यात्, न त्वधस्तनेषु लोकेष्वित्यर्थः । 'प्रधस्यतः'-इति प्रपूर्वाद् दृष्टतेर्लटः सचादेशः \* । 'तस्मात्'-इति "तप सन्तापि"-इत्ये- स्यात् † । यदि तर्हि 'सम्यञ्ची' परस्पराम्बुखी तौ रुक्मपुरुषौ उपदध्यात्, तदा एतौ 'अन्तस्वै' एतयोर्मध्ये एव तदीयं 'ज्योतिर्भविष्यति', तथा च व्यवधानादुपरितनानधस्तानाञ्च लो- कान् न प्रकाशयेताम् ‡ । 'अथो' अपि च 'अन्योन्यं हिंसिष्यतः' रुक्मस्य ज्योतिषा पुरुषज्योतिः प्रतिहन्येत । तेन च रुक्म- ज्योतिरिति परस्परं हिंसेदित्यर्थः । कथं तर्हि तावुपधेया- विति, तथाह— "तेऽर्वाञ्च मिति । 'ते' देवाः 'अन्य मेकं' सूर्यः मण्डलात्मकं रुक्मम् 'अर्वाञ्चम्' अधस्तात्त्रिर्वाधम् 'उपादधुः' । 'अन्यं' पुरुषं 'पराञ्चम्' परासुखं उत्तानम् 'उपादधुरित्यनुषङ्गः । यस्मादेवं तस्मात् 'एषः' मण्डलात्मकः सूर्यो 'रश्मिभिः' किरणैः अर्वाङ्' अधोमुखः 'तपति' । स 'एवः' रुक्मात्मकः । 'एवः' प्राचात्मको मण्डलान्तर्गर्तो 'पुरुषः' प्राणिनां 'प्राणैः' सह 'जहुः' वर्त्तते । अत एवान्यत्रान्कातम्— "योऽसौ तपसुदेति, स सर्वेषां भूतानां प्राचानादायोदेतीति ॥

तस्य प्राप्सुखत्वं विधाय स्तीति— "प्राञ्च मिति । त

\* "दृष्ट भस्मोकरणे"—इति भ्वा० प० ६६१ घा० ।

† भ्वा० प० ६८५ घा० ।

‡ प्रकाशयेत्—इति, ञ ।



कुत्सार्थं पुरवं 'प्राचं' प्राक्षुक् सुपदधात् । 'हि' यथात् 'एवः'  
प्राक्षुक्; प्राक्शिरसः 'वीयते' तस्माद्विरस्ययपुत्रवत्प्रापि तत्रार्थं  
बुद्धम् । पुष्करपर्वीपधानं प्रसुत्व, एतत् सर्वं कात्यायनोऽप्यसूत्र-  
यत्—“तस्मिन् वस मधःपिण्डं ब्रह्म जगान् मित्युत्तानं प्राचं  
द्विरस्यपुत्रवं तस्मिन् द्विरस्यगर्भं इति”—इति \* । द्विरस्यगर्भी  
द्वृषवस्त्वन्देति हाध्या सृग्भ्यां द्विरस्ययपुत्रव सुपदधादिति  
सूचार्थः ॥ १८ ॥

प्रथमां पादशोऽनूय, व्याचष्टे—“द्विरस्यगर्भं इत्यादिवा † ।  
द्विरस्यगर्भी श्लेष इति । 'एवः' द्विरस्यपुत्रवः सूर्यमण्डलान्त-  
र्वर्ती 'द्विरस्यगर्भः' । अपञ्चीकृतभूततत्कार्याभिमानो परमेश्वरो  
हि द्विरस्यगर्भः । स च द्विरस्ययास्यमध्ये गर्भवदवस्थानाद्विरस्य-  
गर्भं इत्युच्यते ॥

अथ मर्थः—‘अग्ने’ सृष्ट्यादौ द्विरस्यगर्भाख्यः प्रजापतिः, प्रथमं  
‘प्रावर्त्तत’ प्रथमशरीरी जात इत्यर्थः । अत एवान्यत्र न्युयते (?)—  
“स वै शरीरी प्रथमः, स वै पुत्रव उच्यते इति ‡ । “एव ज्ञाने-  
त्वादि । 'एवः' असु द्विरस्यगर्भः 'अस्य सर्वस्य' भूतभौतिकान्मण्डल-  
कल्पस्य जगतः 'जातः' जातावस्य एव सन् 'एकः' असाधारणः  
'पतिः' नियन्ता 'प्राचीत्' । “एव वै द्विवक्षेत्वादि । 'एवः'  
सृष्ट्यादित्वात्कौ द्विरस्यगर्भी 'दिवं' सुप्तोकं 'द्विषी' भूमिं  
'च' प्रकाशनवर्षादिभ्यापारिच 'दाधार' धृतवान् । “कस्ये

\* का० शौ० ख० १७. ४. १, १ ।

† वा० सं० १३. ४ ।

‡ मार्क० पु० ६५. १४ ।

देवावेति । किंशब्दादिश्च निरुक्तानिरुक्तकृतस्त्रजगदात्मकत्वाद्  
 ईदृश्य इति निर्वक्तुं मशक्यः । प्रजापतिरेवोच्यत इत्याह—  
 “प्रजापतिर्वैक इति ॥ १८ ॥

द्वितीया मृष मनुष्य व्याचष्टे— “द्रष्टव्यस्त्वन्देति \* । “असी वा  
 इत्यादि । द्रवानुदविन्दून् किरणैः स्नाति भक्षयतीति ‘द्रष्टोऽसावा-  
 दित्त्वः’ । ‘स दिवश्च पृथिवीं च’ ‘स्त्वन्दति’ गच्छति शोषयति वा ।  
 “स्त्वन्दिर् गतिशोषणयोः”—इति † धातुः । स्तन्दनप्रकारविशेष  
 मभिनयेन दर्शयति— “इत्थम् मितौमा मिति । ‘इति’ अनेन  
 उर्ध्वगमनप्रकारेण ‘असु’ दिवं व्याप्नोति । ‘इति’ अनेन प्रका-  
 रेण अधोमुखैः किरणैः प्रकाशनेन ‘इमां’ पृथिवीं व्याप्नो-  
 तीत्यर्थः । द्वितीयपाद मनुष्य व्याचष्टे— “इमं च योनि  
 मिति । ‘इमश्च’ आहवनीयाख्यं योनिम्, ‘यश्च पूर्वः’ चितो  
 गार्हपत्याख्यः, तदुभयं आवापृथिव्यात्मक मसावादित्त्वो व्याप्नोति  
 ‘इति’ ‘एतत्’ अर्थपरतां व्याचष्टे । “लोकद्वयरूपता मुक्ता  
 चित्तिद्वयरूपता माह— “अथो इति । अपि च ‘एतर्हि’  
 एतस्मिन् समये ‘यदिदं चीयते’ आहवनीयाख्यं ‡ स्नानम्,  
 ‘वचादः’ विप्रकृतं § गार्हपत्याख्यं स्नानं ‘पूर्वं मचीयते’,  
 एतदुभयं द्विरस्मयपुरुषरूपः सूर्यो व्याप्नोतीत्यर्थः । द्वितीय-  
 पाद मनुष्य व्याचष्टे— “समाहं योनि मिति । “समानए

\* वा० सं० १३. ५ ।

† भा० प० ६७६ घा० ।

‡ ‘आहवनीयस्त्र’—इति च-पाठः ।

§ नास्तीत्यत एव च-पुस्तके ।

शेष इति । 'एवः' सूर्यः 'समानम्' एकविधम् 'एतं' 'योनिं' स्थानम् 'अनु'-लक्ष्य 'सञ्चरति', प्राच्यां दिशि उच्यते एकेनैव मार्गेषु प्रतिदिवसं सञ्चरतीत्यर्थः । चतुर्थपादं मनूष्य व्याचष्टे— "द्रुषं जुहोमीति । तं सञ्चरन्तं 'द्रुषं' प्राच्यां दिशमुच्यन्तम्, तद्व्यतिरिक्तानु सप्तसु दिक्षु 'जुहोमि' प्रतिष्ठापयामि । लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनोपलम्भः \*, "कर्मप्रवचनीययुक्ते" -इति † 'होषा'-शब्दात् द्वितीया ॥ २० ॥

मन्त्रद्वित्वं मनूष्य स्तौति— "द्वाभ्यां मिति ‡ । व्याख्यातचरमेतत् ॥

मन्त्रगतच्छन्दोदारेण स्तौति— "त्रिष्टुभ्या मिति । आदित्वं त्रैष्टुभत्वं प्राक् प्रतिपादितम् । सादयित्वेत्वादिकं प्रागुक्तार्थम् ॥ २१ ॥

पुरुषोपधानाङ्गत्वेन सामगानं विधत्ते— "अथ सामनायतीति § । 'अथ'-शब्दो हिरण्यपुरुषोपधानानन्तर्ये । तस्य सामगानस्य पुरुषगतवीर्योपादानहेतुत्वं माख्यायिकया प्रतिपादयति— "एतद्वा इत्यादिना । एतस्मिन् खलु समवे 'देवाः' 'पुरुषं' हिरण्यम् 'उपधाय' 'तम्' पुरुषम् 'एतादृशम्' एवंरूपम् 'एव' 'अपश्यत्' । कीदृशं मिति तदाह— "यथैतदिति । 'यथा' खलु 'एतत्' 'शुष्कं' नीरमं 'फलकम्' काष्ठमयम्, तदन्निर्वीर्यं मेवापश्यन्नित्यर्थः ॥ २२ ॥

\* पा० सू० १. ४. ६० ।

† पा० सू० २. ३. ८ ।                      ‡ वा० मं० १३. ४. ५ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. ४ ।

“तेऽब्रुवन्निति । ‘ते’ देवाः अन्योऽन्यम् ‘अब्रुवन्’—  
‘यथास्मिन्’ पुरुषे ‘वीर्यं’ प्राणादिलक्षणं ‘दधाम’ स्थापयाम् ,  
तत्रकारं हे देवाः ! यूपम् ‘उपजानोत’ । एव मालोच्य ‘ते’  
देवाः पुनः ‘अब्रुवन्’ उपज्ञाहेतुत्वेन ‘चेतयध्व मिति’ । एतद्  
वाक्यं श्रुतिः स्वयं व्याचष्टे— “चिति मिच्छतेति । चितिः  
अत्र ज्ञानविशेषः । किमर्थं चेतयध्व मिति प्रार्थते ? इत्या-  
शङ्क्य तस्य प्रयोजनं मुक्तम्— “तदिच्छतेति । यथा खलु  
अस्मिन् शुष्कफलकवन्नोरसे पुरुषे वीर्यं स्थापयाम् , तं सुपाय  
मिच्छतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

“ते चेतयमाना इति । एवं परस्परं मालोच्य ‘चेतयमानाः’  
मीमांसमानाः ‘ते’ देवाः वीर्याधानार्थम् ‘एतत् सामापश्यन्’ ,  
दृष्ट्वा च ‘तत्’ सामं ‘अगायन्’ , तेन च ‘अस्मिन्’ हिरण्यपुरुषे  
‘वीर्यम्’ अस्थापयन् ॥

इत्थं सामगानस्य वीर्याधानहेतुता मास्थायिकया प्रति-  
पाद्य , तद्वृष्टास्तेनेदानीं मपि पुरुषे सामगानस्य तद्हेतुता  
माह— “तथैवास्मिन्निति । यथा देवास्तथैव ‘अयं’ यजमानः ।  
सिद्धं मन्यत् ॥

“पुरुषे गायतीति । ‘पुरुषे’ अन्वारब्धे सति तत् साम-  
गातव्यम् । ‘तत्’ तथा सति तस्मिन् हिरण्यपुरुषे सामलक्षणं  
‘वीर्यं’ स्थापितवान् भवति । “चित्त्रे गायतीति । चित्रलिङ्गके  
मन्त्रे “चित्त्रं देवान् मित्रादिके \* । तदुक्तं कर्कभाष्ये— “पुरुषे

चित्ते साम गायतीति कात्यायनेन पुरुष इति सप्तमीनिर्देशा-  
दात्म्ये पुरुषे चित्ते चित्तसिद्धये † मन्त्रे साम गायति”-इति † ।  
“सर्वाणि होत्वादि । लोके यावन्ति हि ‘चित्राणि’ विचित्र-  
रूपाणि सन्ति, तत् सर्वसमुदायरूपः चित्त्वः ‘अग्निः’ ; अत-  
द्विधे गानं युक्त मिति । “त मुपधावेत्वादि । ‘तं’ हिरण्य-  
पुरुषम् ‘उपधाय’ ‘न पुरस्तात् परीयात्’ पूर्वस्थां दिशि गति-  
क्रीमेत् ‡ । परिगमने हि ‘अयम्’ अग्निः ‘मा’ मां ‘नेत्’ नैव  
‘हिनसत्’ हिंसात्, बाधेत । हिनस्तेर्लेंटि अडागमः § ॥ २४ ॥

अथ यजमानकर्तृकं पुरुषस्वोपस्थानं विधत्ते— “अथ  
सर्पनामैरिति । “नमोऽस्तु सर्पेभ्य इत्याद्याः सर्पनामास्ता  
मन्वाः ॥ । सूत्रितं हि— “उपतिष्ठते यजमानो नमोऽस्त्रि-  
तोति ¶ । अथैतत् सर्पनामभिरुपस्थानं लोकत्रयस्त्रापनहेतुत्वेना-  
स्त्रायिकया प्रतिपादयति— “इमे वै लोका इत्यादिना ।  
‘वदिदं’ लोकत्रयवर्ति किं अपि प्राचिजात मस्ति, ‘अनेन  
सर्वेषु’ सह पृथिव्यादयः ‘ते लोकाः सर्पन्ति’ । तस्मात् सर्प-  
निमितात् सर्पशब्दाभिधेया लोका इत्यर्थः । तथा चित्वाग्नि-

• ‘चित्तसिद्धये “कयानचित्तः”-इत्यस्याम्-इति च तत्र इति; ।

† च मन्त्रः वा० सं० २०. ३२ ।.

† का० श्रौ० सू० १०. ३. ४ भाष्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १०. ३. ५ ।

§ पा० सू० ३. ४. ०, ३. १. ३४, ३. ४. १०, ३. ४. २४ ।

¶ वा० सं० १३. ५-८ ।

† का० श्रौ० सू० १०. ३. ५ ।

रिति 'यत्' अस्ति, 'एषः' एव खलु सर्वेषां 'देवानाम्' 'आत्मा'; अतः 'ते देवाः' 'एत मात्मानं' हिरण्यपुरुष सुपधात् 'अवि-  
भक्तुः' भयं प्राप्ताः । "यद्यैन इत्यादिना भयस्वरूपप्रतिपादनम् ।  
यदि खलु 'नः' अस्माकम् 'अनेनात्मना' सह 'इमे लोका न सपैतुः'  
(॥२५॥), तर्ह्यस्मदीयस्वात्मनो लोकसम्बन्धविरहादाश्रयो न स्यादि-  
त्वेवं भोताः 'ते' देवाः 'एतानि' नमोऽस्त्वित्यादीनि 'सर्पनामानि'  
'अपश्यन्' । दृष्ट्वा च 'तैः' उपस्थानं कृतवन्तः । तेन चोपस्थानेन  
'अस्मै' हिरण्यपुरुषरूपायान्नये 'इमान्' अग्निवीत्वादि- 'लोकान्'  
'अस्थापयन्', 'तैः' लोकैरेवम् 'अनमयन्' वशीकृतवन्तः । "यद-  
नमयन्निति, सर्पनामास्थानिर्वचनम् । सर्पाणां नमनहेतुत्वाच्च  
सर्पनामानीत्यर्थः । "तथैतदित्यादिना आस्थाधिक्या सिद्धा-  
र्षस्व दाष्टान्तिके योजनम्, तच्च व्याख्यातप्रायम् । "तथो  
हास्वेति । सर्पनामभिरुपस्थाने सति 'अस्व' यजमानस्व 'एते'  
लोकाः 'एतेन' चित्वात्किरूपेण आत्मना 'न सर्पन्ति', किन्त्वव-  
तिष्ठन्त इत्यर्थः ॥ २५, २६ ॥

सर्पनामभिरुपस्थान मनुष्य प्रकारान्तरेण सौमि— "यद्दे-  
वेति । यदिदं किञ्च स्वावरजङ्गमात्मकं प्राणिजात मस्ति, 'तत्'  
सर्वम् 'एषेव लोकेषु' 'सर्पन्ति' चसति । सर्पणाधिकरत्नत्वात्  
सर्पा लोकाः । 'तत्' तथा सति । सर्पनामास्थैर्मन्त्रैः 'उपतिष्ठते'  
इति यदस्ति, 'तत्' तेन 'एषेव लोकेषु' वर्तमानं नाद्रादिकं  
शमयति । 'नाद्रा' नाशकारिणी आसुरी प्रजा, 'अधरः' अधन-  
शीलो दन्धशूकादिः, 'शिमिदा' विषहेतुर्लूतावृषिकादिः ॥ २७ ॥

तत्र प्रथमं सर्पनाममन्त्र मनुष्य तात्पर्यं व्याचष्टे—

“नमोऽस्त्रित्वादिना \* । “व एवैषिति । ‘एषु एव त्रिषु लोकेषु’ । ‘वे’ सर्पवशीला दम्ब्यूकाद्याः प्राचिनः, ‘तेभ्य एतम् नमस्कारोति’ इति मन्त्रस्य तात्पर्यार्थः । “दृषिवी मन्विति । सचवे चनोः कर्मप्रवचनोयत्वम् । मन्त्रार्थो निगदसिधः ॥ २८ ॥

द्वितीयं मन्त्र मन्वय व्याचष्टे— “या इवव इति । “यातुधान-  
प्रेषिता इति । यातुधानैः राक्षसैः प्रेषिताः क्षुत् ‘एके’ सर्पाः  
‘दग्न्ति’ खादन्ति । “दंश दंशने” †, “दंशसञ्जसञ्चां शयीति ‡  
नलोपः । चतस्रे ‘यातुधानानाम्’ ‘इववः’ वाचाः, इदृश्विधाव  
‘वे’ सर्पाः, ‘वे वा वनस्यतीरनु’ अनुसञ्ज वनस्यतिषु वर्त्तन्ते ।  
‘अवटेषु’ त्रिलोषु शेरते वे सर्पाः, ‘तेभ्यः सर्वेभ्यो नमः’-इत्यनेन  
मन्त्रेण नमस्कारः कियत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तृतीयं सर्पनाम मन्त्र मन्वय मन्त्रत्रयतात्पर्यं व्याचष्टे— “वे  
वामीति । सर्वत्र ‘व’-शब्दार्थे । ‘दिवः’ शुक्लोकस्य सम्बन्धिनि  
‘रोचने’ रोचमाने खाने, ‘वे’ वामी सर्पाः ‘सूर्यस्य रश्मिषु’ च  
वर्त्तन्ते, ‘वेवां’ सर्पाणाम् ‘असु’ सदकामध्ये ‘सदः’ सदनां खानं  
‘कृतम्’ अस्ति, ‘तेभ्यः सर्वेभ्यो नम इति’ ।

“यत्र-यत्रेत्यादि, मन्त्रत्रयतात्पर्यं कथयन् § । ‘यत्र यत्र’ द्वेषे ‘एते’  
सर्पन्ति वर्त्तन्ते, ‘तत्’ तत्रैव ‘एभ्यः’ सर्वेभ्यो नम इति । चिन्त्यपि  
मन्त्रेषु पठितानां नमः-शब्दानां सङ्गहाद्यां पुनश्चक्तिः— ‘नमो

\* वा० सं० १३. ६ ।

† ‘न-लोपे मञ्जिवाहचर्याद् आक्षरेव यच्चकम्’-इत्यादिह दीक्षितः ।

‡ पा० ख० ६. ४. २५ ।

§ वा० सं० १३. ६-८ ।

नम इति'-इति । पुनःपुनर्नमःशब्दप्रयोगेण 'एतन्नमस्कारोति' । नमस्कारं स्तौति— "यन्नो वै नम इति । देवतोद्देशेन ब्रह्मत्वागो 'यन्नः' । स यथा देवानां प्रीतिकरः, तद्वन्नमस्कारोऽपीति तस्य यन्नात्मकता । तथा च यन्नात्मकेनैव नमस्कारेण 'एनान्' सर्पान् 'नमस्वति' पूजयति । नमसः पूजाया मर्षं "नमो वरिव इति \* क्वच् । प्रासङ्गिकं किञ्चिदाह— "तस्मादिति । यस्मादेवं नमस्कारप्रतिपादको नमःशब्दोऽपि यन्नात्मकः प्रयुष्यते, तस्मादेव कारणात् 'अयन्नियं' यन्नात्मकं हि देवदत्त ! नमसुभ्य मित्येवं 'न ब्रूयात्' । तस्य वचनस्य यन्नियत्व माविष्करोति— "यथा ह्येन मिति । 'यथा' खलु 'एनम्' अतिथिं 'ब्रूयात्' "यन्नस्ते" कल्पितः 'इति', 'तादृक् तत्' सद्यश्च मेव तत् नमस्त इति वचनम् ॥ ३० ॥

मन्त्रस्य त्रिसङ्ख्या सुपजीव्य † स्तौति— "चिन्मिहपतिष्ठत इति ‡ । 'त्रय इमे लोकाः' पृथिव्यादयः, अतस्तत्तद्वरया मन्त्रचित्त्व मित्यर्थः । "अथो त्रिहृदम्भिरित्यादिना मन्त्रचित्त्वस्य प्रयोजनान्तरप्रतिपादनम् । "त्रिहृदम्भिरित्यादि, प्राग् व्याख्यातम् । "तावतैवास्मा इति । 'अस्मै' हिरण्यसुखाय 'तावता' तस्माग्नेः परिभाषेनैव 'इमान् लोकान्' 'एतत्' एतेनोपस्थानेन 'स्थापयति' । 'अथो' अपि च 'तावता' तत्परिभाषेनैव 'इदं' 'सर्वं' जगत् तेनोपस्थापेन. 'शमयति' ॥

\* पा० ख० ३१. १. १६ ।

† वा० मं० १३. ६-८ ।

‡ का० म्रौ० ख० १७.०४. ६ ।



तद्योपस्थानं तिष्ठता कर्त्तव्य मिति स्थितिगुणं विधाय स्वीति—  
 “तिष्ठन्नुपतिष्ठत इति । अर्द्धाकारिणावस्थानात् ‘तिष्ठन्तीव’ अतु  
 ‘इमे लोकाः’, ‘अथो’ अपि च उपविष्टात् पुनश्चात् ‘तिष्ठन्’  
 अतु पुनश्चो ‘वोर्यवत्तरः’ अतिशयितवोर्यवान् । तस्मादुपस्थानस्य  
 तिष्ठत्वार्तृकता युक्तित्थर्थः ॥ ३१ ॥

अभिहोमं विधत्ते— “अथैन मिति । उपस्थानानन्त-  
 र्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः । ‘एन’ हिरण्यपुरुषम् ‘अभिजुहोति’  
 अभितः सर्वासु दिक्षु उपरि होमिन संस्कार्यात् । तद्व्यं  
 विधत्ते— “अःष्येनेति । आहुतिपञ्चकार्यं पञ्चगृह्येत माण्डं  
 सुधि गृहीत्वा , तेनाभिजुहुयादित्थर्थः \* । “तस्योक्त इति ।  
 ‘तस्य’ पञ्चसङ्ख्यायुक्तत्वस्य स्थावको वाक्यशेषः प्रागाङ्गात्  
 इत्थर्थः ॥

“सर्वतः परिसर्पं मिति । ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु ‘परिसर्पं’  
 परिसृज्य तां तां दिशं परिक्रम्य । “आभीक्ष्ये चतुर्णु च” † । परि-  
 सर्पणस्य प्रयोजन माह— “सर्वाभ्य इति । ‘सर्वाभ्यो दिग्भ्यः’  
 अकाशात् ‘एन’ पुरुषम् । गत मन्थत् ॥ ३२ ॥

मन्त्रविध्वर्षं मनुवदति— “यद्येवैन मिति । “ऊच्यते  
 पात्र इत्याद्यान् ‡ राघोपान् पञ्च मन्त्रान् विधातु मास्या-  
 यिका माह— “एतद्दे देवा इति । “यद्दे न इम मिति । ‘नः’

\* का० शौ० सू० १७. ४. ७ ।

† पा० सू० ३. ४. २२ ।

‡ वा० सं० १३. ६-१३ ।

अस्माकम् 'इमम्' आत्मानम् 'इह' अस्मिन्नवसरे 'नाद्राः रक्षांसि'  
 'यत्' येनोपायेन न हन्युः', स उपायः क इति विचारितवन्त  
 इत्यर्थः । "राक्षोघ्नान् प्रतिसरानिति । राक्षसान् प्रति अस्त्र-  
 रूपेषु सरन्ति गच्छन्ति इति 'प्रतिसराः' कृणुष्व पाज इत्याद्या  
 मन्त्राः \* । अत एव रक्षोहननसम्बन्धात् 'राक्षोघ्नाः' ; 'वै'-शब्दः  
 प्रसिद्धौ । सा च "अस्त्रांसि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैरित्वादिमन्त्रवर्णा-  
 दवसेया † । "तत्रैवेतदित्यादिना । उक्तार्थदृष्टान्तमुखेनाभिहोम-  
 मन्त्रविधिः । मन्त्रहारा रक्षोहननहेतुतां प्रतिपाद्य द्रव्यसुखे-  
 नापि तत् प्रतिपादयति— "वष्पो वा इति । "घृतं खलु  
 त्रै देवा वष्पं कृत्वा सोम मग्नन्निति ‡ तैत्तिरीयके प्रसिद्धं  
 घृतस्य वष्परूपत्व मत्र 'वै'-शब्दो द्योतयति । यद्वा आण्य-  
 स्वाग्निव्यासाहेतुत्वात् वक्षत्वम् । "पञ्चर्त्तवः संवत्सर इति ।  
 हेमन्तशिशिरयोः समासाभिप्रायेण § । "तावतैवेतद्रक्षांसोति ।  
 यत्परिमाणविशिष्टचित्त्वोऽग्निः, तावत्परिमाणेन 'एतद्' एतेन  
 कर्मणा 'नाद्रा रक्षांसि' नाशयति । मन्त्रदेवताहारेण प्रशंसति—  
 "आग्नेयीभिरिति । अग्निदेवता यासां ता आग्नेय्यः, "अग्ने-  
 र्ठक्" ॥, "टिड्वाण्व्"- इति षा ङीप् ॥

\* वा० सं० १३. ६—१३ ।

† अ० सं० ४. ४. १ ।

‡ तै० सं० ६. २. २. ७ ।

§ ऐ० ब्रा० १. १. १ दृष्टव्यम् ।

॥ पा० ख० ४. २. ३३ ।

१ पा० ख० ४. १. १५ ।

हृद्दोहारेण स्त्रीति— “त्रिष्टुब्भिरिति । “बन्धो वै त्रिष्टु-  
बिति । इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वाद् वीर्योपेतात्, प्रजापत्यवयव-  
दुत्पत्तेः त्रिष्टुभो बन्धत्वम् ।

परिसर्पप्रकारं विधिक्षुर्विहितं परिसर्पं मनूय स्त्रीति—  
“सर्वतः सरिसर्पं मिति । उक्तार्थं नेतत् \* ॥ १४ ॥

“पश्चादग्नेरित्वादिना परिसर्पप्रकारो निरूप्यते । ‘अग्नेः’  
प्रथमं ‘पश्चात्’ प्रतोष्यां दिशि प्राङ्मुख उपविष्टः सन्, प्रथमेन  
मन्त्रेण पुरुषं अभिसृष्टोति । अग्नोत्तरभागे दक्षिणामुख उप-  
विष्टः सन्, द्वितीयेन मन्त्रेण अभिसृष्टोति । ‘अथ पुरस्तात्’  
प्राच्यां दिशि प्रत्यङ्मुख उपविष्टः सन्, तृतीयेन मन्त्रेण ।  
‘अथ’ यद्येतं प्रतिनिष्ठत्वं ‘अघनेन परीत्स्व’, पुरुषस्य पश्चाद्-  
भागेन परिरक्ष्य, ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां दिशि उदङ्मुख  
उपविष्टः, चतुर्थेन मन्त्रेण अभिसृष्टोति । “तदक्षिणाद्दिति † ।  
एवं त्रियमीषे सति होमस्य प्रादक्षिणेन इत्तिरुपपन्ना  
भवति । ‘तत्’ खलु प्रादक्षिण्यं ‘देवता’ देवसम्बन्धिनि  
कर्मणि योष्यम्, ‘अथ’ अनन्तरम् ‘अनुपरीत्स्व’ दक्षिणदिक्का-  
यात् प्रतीचीं दिशं गत्वा, तत्र ‘प्राङ्गासीनः’ पश्चिमेन मन्त्रे-  
ण अभिसृष्टुयात् ‡ । तद्येव सति हि ‘अथ’ यजमानस्य ‘एतत्’  
अभिहोमाख्यं ‘कर्म’ प्रागपवर्गं ‘कृतं’ ‘भवति’-इत्यर्थः ॥ १५ ॥

\* इत्येव पुरस्तात् ( ३५८९० १३ पं० ) प्रत्ययम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. ८ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. ९. १० ।

सुचोऽपधानं विधत्ते—“अथ सुचाविति \* । तर्त् प्रशंसति  
—“बाह्व वा इति । “सुहृदक्षिणो हस्तः, उपभृत् सव्यः”  
—इत्यादिभ्युत्पत्त्यन्तरप्रसिद्धेः † सुचोर्बाहु रूपता । तथा सति  
‘एतत्’ सुगुपधानेन ‘अस्मिन्’ हिरस्मयपुरुषे ‘बाह्व एव’  
‘प्रतिदधाति’ सम्दधाति । सुचोर्बाहु रूपताप्रसिद्धि मभिनयेन  
दर्शयति—“इद मेवेति । ‘इद मेव’ हस्तायं प्रसृतिरूपेण ‡  
इत्यमानं ‘कपुष्कलम्’ § सुगमस्थानीयम् । ‘अयम्’ एव बाहुः  
‘दक्षः’ सुक्दक्षः ; अतः सुपूपता अन्नयोः प्रत्यक्षसिद्धेत्यर्थः ।  
द्वित्व मनुष्य स्त्रीति—“हे भवत इति । दक्षिणोत्तरपार्श्वयो-  
स्तदुपधानं विधत्ते—“पार्श्वत इति । तत्र हेतु माह—  
“पार्श्वतो हीति ॥ ३६ ॥

तत्र दक्षिणपार्श्वे उपधेयायाः सुचो इत्यविशेषं विधत्ते—  
“कार्श्वर्यमयी मिति ॥ । कार्श्वर्यवृत्तेषु निर्मिता सुक् कार्श्वर्य-  
मयो । सुचक्ष्मत्प्रकृतिता मास्थायिकया प्रतिपादयति—“एतद्वा  
इत्यादिना । “वनस्यति मपस्यन्निति । कार्श्वर्याख्यं वनस्यति  
मिति सम्बन्धः । सिद्ध मन्यत् । सुच आज्येन पूरणं विधाव  
स्त्रीति—“आज्येन पूर्णा भवतीति ॥ ३७ ॥

उत्तरपार्श्वे उदुम्बरवृक्षकृतायाः सुच उपधानं विधत्ते—

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ११ ।

† तै० ब्रा० ३. ३. १ ।

‡ ‘सृष्टिरूपेण’—इति ज-पाठः ।

§ ‘कपुष्कलं’—इति क-पाठः ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. १२ ।

“अधोदुर्ध्वरी सुत्तरत इति \* । “अर्वा इत्यादि, प्रागुक्तार्थम् । उपधानसमये दध्ना तस्याः पूरुषं विधाय स्वीति— “दध्ना पूरुषां भवतीति । “रसो वै दधीति । पयस ओषधिसाररसाम्नाकत्वाद् दध्नोऽपि रसाम्नाकत्वम् ॥ ३८ ॥

क्षुधोरुपधान मन्थ तयोर्बाहु रूपतां वस्तुं तावत् तदुपादा-  
नयोर्बृहद्योक्त्यति माह— “यद्देवेत्यादिना । विज्ञिष्टावयवस्य  
‘प्रजापतेस्तेजः’ ‘धादाय’ गृह्येत्वा ‘अग्निः’ दधिचतः ‘अर्घत्’  
अनेषीत् । ‘सः’ अग्निः अत्र अग्निन् कार्थर्यद्वये ‘उदरमत्’ उत्तमष्ट  
मरमत्, सुख मवाप्नोदित्यर्थः । “यत् कृष्टेत्यादिना कार्थर्य-  
नामनिवृत्तिः । कृषेर्धातोः रमेव कार्थर्यशब्दनिष्पत्तिर्वर्ष-  
विकारेण दृष्टव्या । ‘अथ’ अग्निगमनानन्तरम्, ‘अस्य’ विस्त्र-  
स्तावयवस्य प्रजापतेः सम्बन्धि ‘ओजः’ धान्तरं वीर्यं ‘इन्द्रः’  
‘धादाय’ खोक्तत्वात् ‘उदङ्’ उत्तरामुखः सन् उत्तरभागे ‘उद-  
क्तामत्’ । ‘उत्तमस्य’ ‘सः’ ‘उदुम्बरः’ वृक्षो जातः ॥ ३९ ॥

“ताम्रवीदिति । ततः ‘तौ’ अग्नीन्द्रो प्रजापतिः ‘अत्रवीत्’ । ‘मा  
उपेतं’ मा सुपनच्छतम्, ‘एतत्’ मदीय मङ्गं ‘प्रतिघत्तं’ पुनःसन्धा-  
नेन संस्फुटतम् । ‘येन’ कारणेन ‘मि’ मदीयशरोरात् ‘बुव सुदक्तामि-  
ष्टम्’ । ‘इति’—शब्दः प्रजापतिवाक्यपरिसमाप्नो । “ताभ्या मित्यादि,  
तयोरम्नोन्द्रयोर्वाक्यम् । “बुभदद्भ्रदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाख्योः”  
—इति † चतुर्थ्यन्तस्याच ‘नौ’-भावः । हे प्रजापते ! ‘ताभ्या’ खलु

\* का० शौ० ख० १७. ४. १३ ।

† पा० ख० ८. १. २० ।

आवाभ्यां 'सर्वं मन्नं प्रयच्छे', तर्ह्यावां त्वा सुपगच्छावेति'। पुनः प्रजापतिरब्रवीत्— हे अग्नीन्द्रौ ! युवां 'बाह्व भूत्वा' मां 'प्रपयोथा' प्रविशतम् 'इति' । 'तौ' अपि 'तथा' असु 'इति' ब्रूताम् । एवं तौ वशीकृत्य प्रतिज्ञातप्रकारेण 'सर्वं मन्नं 'ताभ्यां' प्रजापतिः 'प्रायच्छत्' । 'तौ' अय्यग्नीन्द्रौ 'बाह्व' हस्ती 'भूत्वा', 'एनं' प्रजापतिं 'प्रापयेतां' प्राप्तवन्तौ । 'हि' यस्मात् प्रजापतिरुत्क्रमेण 'सर्वं मन्नम् प्रायच्छत्', तस्मादेव कारणादवनिष्पादनं मन्नादनञ्च बाहुकरणकं लोके दृश्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

इत्थं कार्शर्योदुम्बरयोरुत्पत्तिम्, अग्नेरिन्द्रस्य च बाहुरूपताञ्च प्रतिपाद्य, तदुपजीवनेन आग्नेयमन्त्रेण कार्शर्यमन्त्रा उपधानं विधत्ते— "स कार्शर्यमयी मिति । यत् तेज आदाय अग्निर्निरगात्, ते अग्नेः सम्बन्धिना प्रजापतिशरीरतेजसा त्वां सादयामीति मन्त्रार्थः \* । "तदस्मिञ्चेतदिति । 'तत्' तेन मन्त्रेण 'एतत्' तेजः 'अस्मिन्' चित्वाग्निरूपे प्रजापतौ 'प्रतिदधाति' सन्धधाति । अथ तस्मिन्नेव कार्शर्यमन्त्रुपधाने मन्त्रान्तरं मपि दर्शयति— "अग्निर्मूर्ध्वेति † । 'एष उ सोऽग्निरिति । 'सः' प्रतिपादो यः 'अग्निः', 'एषः' चित्त्वोऽग्निरेवेत्यर्थः ॥

अस्य मन्त्रस्य छन्दोऽमूष्य स्तूति— "गायत्रेति । उपदध्यादिति शेषः । "गायत्रोऽग्निरित्वादि गतम् । छृतेन पूरणं मन्त्रं स्तूति— "छृतेन पूर्णेति । छृतस्त्वान्नेयत्वं प्रागुक्तम् ॥ ४१ ॥

\* वा० सं० १३. १३. २ ।

† वा० सं० १३. १४ ।

एवं दक्षिणभागे कार्त्तर्यमस्युपधानं सुक्ता तथैवोत्तर-  
 भागे षौदुम्बर्युपधानं मिन्द्रदेवत्वेन यज्ञुषा कर्त्तव्यं मित्याह—  
 “षौदुम्बरी मिति \* । निगदसिद्धोऽर्धः । ‘अस्मिन्’ षौदु-  
 म्बर्युपधाने मन्त्रान्तरं विद्यते— ‘भुवो यज्ञस्येति † । “एव  
 उ स इन्द्र इति । ‘एवः’ खलु चित्तोऽग्निः ‘सः’ प्रसिद्धो  
 मन्त्रप्रतिपाद्यः ‘इन्द्रः’ । “सा यदित्यादि । ‘सा’ भुवो यज्ञ-  
 स्येति ऋक्, यस्मात् ‘सात्वेयी’ अग्निदेवताका, तस्मादिदम्  
 अग्निकर्म‡ सम्पन्नम् । कथं तर्हि तस्या ऐन्द्रे षौदुम्बरीसुगु-  
 पधाने विनियोग इत्यथाह— “अथ यत् त्रिष्टुबिति । यस्मात्  
 सा ऋक् त्रिष्टुपृच्छन्दस्का, तस्मादैद्रे कर्मणि विनियोक्तु  
 मर्हति । यस्मादिन्द्रस्त्रिष्टुपृच्छन्दसा सहोत्पन्नः §, अभिधया  
 उच्यते इन्द्रोद्धारणं च मन्त्रस्त्रोपाधिसिद्धं मिन्द्राग्निदेवता-  
 कत्वं प्रशंसति— “ऐन्द्राग््नोऽग्निरिति । एतदेव विद्वेष्येति—  
 “इन्द्राग््नो वै सर्वे देवा इति । इन्द्रस्याधिपतित्वात् सर्व-  
 देवताकत्वम्, अन्नेरपि सर्वान् देवान् प्रति इविषो वहनात्  
 सर्वदेवताकता । अथा, इन्द्रस्य प्राथम्यादग्नेश्चरमभावित्वात्  
 तदन्तवर्तिनः सर्वे देवा इति इन्द्राग््नोः सर्वदेवताकत्वम् ।  
 “अग्निर्वै देवाना मवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अथा  
 देवताः”—इत्यनेन § समानव्यायात् । चित्वाग्निश्च सर्वदेवत्वः,  
 सर्वदेवताप्रीतिकारः । “यावानग्निरित्यादि, गतम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १०. ४. १३ ।

† वा० सं० १३. १५ ।

‡ तै० सं० ७. १. १. ४ ।

§ ऐ० भा० १. १. १ ।

दध्ना पूरणं मनूय स्तौति— “दध्ना पूर्येति \* । “ऐन्द्रं वा इत्यादि । ‘ऐन्द्रम्’ इन्द्रदेवत्वं खलु ‘दधि’; दर्शयुगे इन्द्रं प्रति दध्ना हविष्टेन दीयमानत्वात् । अत एव दर्शयाग-विधिः श्रूयते— “ऐन्द्रं दध्यमावास्याया मिति † । “स्त्रेण रक्षे-नेति । इन्द्रस्य स्वकीयो रसः साम्राज्यम् । इन्द्रवधानन्तरं शरी-राभिर्गतस्य, पृथिव्या भोषधिवीरुदात्मना परिणतस्य, पशुभि-र्भक्षणेनात्मन्याहृतस्य, इन्द्रसम्बन्धिना वीर्यस्यैव पयोरूपेण परि-णामात्तद्विहितभूतं दध्यपि परम्परया इन्द्रस्य स्वकीयो रसः । एतत् श्रुत्वन्तरे— “इन्द्रस्य इन्द्रं जघ्नुष इन्द्रियं वीर्यं मित्यादिना प्रपञ्चितम् ‡ । ‘प्रीणाति’ तर्पयति । ‘प्रीञ् तर्पणे’—इति § धातुः ॥ ४२ ॥

“तावस्यैतावित्वादि । ‘तो’ तद्याविधौ ‘एतो’ ‘इन्द्राब्जौ’ एव ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘बाह्व’ अभूताम् । भूत्वा च ‘तौ’ तेजसा अग्नि-सम्बन्धिना प्रकाशेन, इन्द्रसम्बन्धिना ‘वीर्येण’ ‘च’ ‘सह’ ‘प्रपद्येते’ प्राप्ततः । सुचीरुपधाने च स्थानविशेष माह— “स सम्प्रतोति ॥ । ‘सः’ अर्धर्युः उपहितस्य हिरण्यपुरुषस्य ‘उरः सम्प्रति’ उरःप्रदेशेन समानं सुची उपदध्यात् । तत् कश्च मिति चेत् उच्यते— तं ‘पुरुषम्’ ‘आकाशम्’ अभिप्राप्य ‘यश्च’

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १३ ख ।

†, ‡ ते० मं०. २. ५. ३. ३, ५ ।

§ का० उं० २ धा० ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. १० त् ।



यस्मिन् स्थाने उपहितं सुगन्धयम्, तदुरःप्रदेशम् 'अभ्याप्नोति';  
'तत्' तद् 'आलिख्य' विद्म' क्त्वा, 'एने' सूचो उपदध्यात् \* ।  
'एवः' य उरोदेशः स खलु 'एतयोः' बाहुसंस्तयोः 'लोकाः' स्थान  
मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

तयोस्तिर्यगप्रतयोपधानं पूर्वपक्षयति— "ते एक इति ।  
'तिरश्चौ' तिर्यगपे, 'तिर्यश्चौ वा' इति †; तत्रोपपत्ति कथनम् ।  
तदेतत् प्रतिषिध्य प्रागद्यत्वं सिद्धान्तयति— "न तथा कुर्या-  
दित्यादिना । तत्रोपपत्तिं कथयति— "प्राङ् लोप इति ।  
प्राङ्शिरस्त्ः खलु 'एषोऽग्निश्चीयते' तदवयवयोर्बाहुसंस्तयोः सुचो-  
रपि प्रागद्यत्वेव युक्तेति भावः । 'अथो' अपि च 'एवं' प्रागद्यौ  
प्रसारितावेव खलु 'बाङ्' वीर्यवत्सरी' अतिशयेन वीर्यवन्तौ ‡ ।  
स्थापनसादनाधिवदनानां पृथक् विधाय स्तौति— "ते नानोप-  
दधातीति । सष्टोऽर्थः ॥ ४४ ॥

एतस्म्योपहितस्य हिरस्मयपुरुषस्य सुगन्धतिरिक्तबाहुकरणं  
पूर्वपक्षयति— "तदाहुर्नेतस्येति । 'एतस्' उपहितस्य हिर-  
स्मयपुरुषस्य । "एतौ वा अस्वेति । 'ये एते सूचौ' उपहिते,  
ते च खलु 'अस्य बाङ्' सुगन्धतिरिक्तबाहोरपि करणे अधि-  
काङ्गता स्यात्; नेत् अतिरेषयानि' नैवातिरिक्तं करवाचीति  
पूर्वपक्षिषोऽभिप्रायः । "स वै कुर्यादेवेत्यादिः; सिद्धान्तः । 'सः'  
खलु अर्ध्वर्युः सुम्वातिरिक्तावपि पुरुषस्य बाङ् 'कुर्यादेव' । तत्र

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १० ख ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. १४ ।

‡ 'अतिशयिनवीर्यवन्तौ'— इति च-पाठः ।

हेतु माह— “एतौ वा अस्वेति । ‘अस्य’ पुरुषस्य ‘सम्बन्धिनी’  
‘बाहू’ अनुसृत्य ‘एतौ’ \* सूचौ उपधातये ; अतो नु तप्रति-  
निधिरिति तयोरनिवृत्तिः ॥

बाह्वोः सङ्गावं प्रकारान्तरेणोपपादयति— “अथो एताविति ।  
‘अथो’ अपि च ‘एतौ’ बाहू ‘पक्षौ’ पञ्चात्मनश्चित्वाग्नेः  
पक्षस्थानोयौ । संस्कारस्य संस्कार्य मन्तरेणानुपपत्तेः संस्कार्यौ  
बाहू अवश्यं कर्त्तव्यावित्याह— “अथो यान्येतस्मिन्नित्या-  
दिना । ‘रूपाणि’ अग्निरूपाणि पशुशीर्षादीनि, ‘स्तोमाः’  
त्रिवृत्यञ्चदशादयः †, बृहद्रथन्तरादीनि पृष्ठानि ‡, ‘छन्दांसि’  
गायत्र्यादीनि । एते च स्तोमादयः स्वस्वलिङ्गैर्मन्त्रैरिष्टका-  
रूपेणोपधेयाः । यान्येतानि पशुशीर्षादीनि, तानि सर्वाण्यध्वर्युः  
‘उपधास्यन् भवति’ । ‘एतयोरेव’ पक्षसंस्तुतयोः बाह्वोः ‘सा’  
‘संस्कृतिः’ गुणोत्कर्षहेतुः संस्कारः, ‘एतयोः’ ‘वृद्धिः’ अभिवृद्धि-  
हेतुः । “तस्मादित्यादि, स्पष्टम् ॥ ४५ ॥ १ [ ४. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘अनुसृत्येने’—इति ज-पाठः ।

† ते च सा० ता० ब्रा० तृतीयप्रपाठकारम्भतो द्रष्टव्याः ।

‡ तानि सामानि ऊङ्गमानारम्भतो द्रष्टव्यानि ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

स्वयमात्मना मुपदधाति । इयं वै स्वय-  
मात्मनेमा मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हितां पुरुषा-  
दुपदधात्यन्नं वै स्वयमात्मनेयं वै स्वयमात्मनेय  
मु वा ऽन्नं मस्याऽ हि सर्व्वं मन्नं पच्यते ऽनन्त-  
र्हित मेवास्मादेतदन्नं दधात्युत्तरा मुत्तर मेवास्मादे-  
तदन्नं दधाति ॥ १ ॥

यदेव स्वयमात्मना मुपदधाति । प्राणो वै  
स्वयमात्मना प्राणो ऽमेवैतत् स्वय मात्मन आत्मने  
प्राण मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हितां पुरुषादुप-  
दधाति प्राणो वै स्वयमात्मनेयं वै स्वयमात्मनेय  
मु वै प्राणो यद्दि किञ्च प्राणीयं तत् सर्व्वं  
विभर्त्यनन्तर्हित मेवास्मादेतत् प्राणं दधात्युत्तर  
मेवास्मादेतत् प्राणं दधाति ॥ २ ॥

यदेव स्वयमात्मना मुपदधाति । प्रजापतिं  
व्युत्स्रस्तं देवता आदाय व्युत्क्रामस्तासु व्युत्-  
क्रामन्तीषु प्रतिष्ठा मभिपद्योपाविशत् ॥ ३ ॥

स यः स प्रजापतिर्व्यसत्सत । अय मेव स यो-  
 ऽय मग्निश्चीयतेऽथ या सा प्रतिष्ठैषा सा प्रथमा स्वय-  
 माहृत्सा तद्यदेता मत्रोपदधाति यदेवास्यैषात्मनः-  
 स्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मादेता मत्रोपदधाति  
 ॥ ४ ॥

तां वै प्रजापतिनोपदधाति । प्रजापतिर्ध्रुवै-  
 तत् स्वयमात्मनः प्रत्यधत्त ध्रुवासीति स्थिरासीत्ये-  
 तद्यो प्रतिष्ठितासीति धरुणेति प्रतिष्ठा वै धरुण  
 मास्तृता विश्वकर्म्मणेति प्रजापतिर्वै विश्वकर्म्मा  
 तेनास्तृतासीत्येतन्मा त्वा समुद्र उद्दधीन् मा सुपर्ण  
 इति रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णस्तौ त्वा  
 मोद्दधिष्ठा मित्येतद्व्यथमाना पृथिवीं दृष्ट्वेति यथैव  
 यजुस्तथा बन्धुः ॥ ५ ॥

प्रजापतिष्ठा सादयत्विति । प्रजापतिर्छेतां  
 प्रथमां चिति मपश्यदपां पृष्ठे समुद्रस्त्रेमन्नित्यपां  
 हीयं पृष्ठं समुद्रस्य हीयं मेम व्यचस्वतीं प्रथस्वती

मिति व्यञ्जयती च हीयं प्रथयती च प्रथय  
 पृथिव्यसीति प्रथय पृथिवी चासीत्येतत् \* ॥ ६ ॥

भूरसीति । भूर्हीयं भूमिरसीति भूमिर्हीय  
 मदितिरसीतीयं वा ऽमदितिरियुः हीदुः सर्वं  
 ददते विश्वधाया इत्यस्याः हीदुः सर्वं हितं  
 विश्वस्य भुवनस्य धर्त्वीति सर्वस्य भुवनस्य धर्त्वी-  
 त्येतत् पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृष्ट पृथिवीं मा  
 हिंसीरित्यात्मानं यच्छात्मानं दृष्टात्मानं मा  
 हिंसीरित्येतत् ॥ ७ ॥

विश्वस्मै प्राणायानाय । व्यानायोदानायेति  
 प्राणो वै स्वयमात्मा सर्वस्मा ऽउ वा ऽएतस्मै  
 प्राणः प्रतिष्ठायै चरित्रायेतीमे वै लोकाः स्वय-  
 मात्मा इम ऽउ लोकाः प्रतिष्ठा चरित्र मग्निष्ठाभि-  
 पात्वित्त्वग्निष्ठाभिगोपायत्वित्येतन् मग्ना स्वस्येति  
 महत्या स्वस्येत्येत्च्छर्द्धिषा शन्तमेनेति यच्छर्द्धिः  
 शन्तमं तेनेत्येतत् सादयित्वा सुददोहसाधिवदति

तुस्योक्तो बभ्रुरथ साम गायति तुस्योपरि' बभ्रुः  
॥ ८ ॥

तदाहुः । कथं मेष पुरुषः स्वयमाह्वानानभि-  
निहितो भवतीत्यन्नं वै स्वयमाह्वाना प्राणः स्वय-  
माह्वानानभिनिहितो वै पुरुषोऽग्नेन च प्राणेन  
च ॥ ९ ॥

अथ दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति । पशुवो वै दूर्ध्वे-  
ष्टका पशुनेवैतदुपदधाति तद्यैरदोऽग्निरन्नन्तर्हितैः  
पशुभिरुपैत्तु ऽपते तानेवैतदुपदधाति ता मनन्त-  
र्हिताः स्वयमाह्वानाया उपदधातीयं वै स्वय-  
माह्वानान्तर्हितांस्तदस्यै पशुन्दधात्युत्तरा मुत्तरां-  
स्तदस्यै पशुन् दधाति ॥ १० ॥

यद्वेव दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति । प्रजापतेर्द्विस्रस्तंस्व  
यानि लोमान्यशीयन्त ता इमा ओषधयोऽभव-  
न्नुयास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत्स्मिन्नुत्क्रान्ते-  
ऽपद्यत \* ॥ ११ ॥

\* 'ऽपद्यत'—इति ख, 'ऽपद्यत'—इति ग, घ ।

सोऽब्रवीत् । अथ व्वाव माधूर्वीदिति यद्-  
ब्रवीद्दूर्वीन् मेति तस्माद् दूर्वा दूर्वा इ वै तां  
दूर्वेत्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तदे-  
तत् क्षत्रं प्राणो ह्येष रसो लोमान्यन्या शोषधय  
एता मुपदधत् सर्वा शोषधीरुपदधाति ॥ १२ ॥

तं यन्न देवाः समस्कुर्वन् । तदस्मिन्नेतं प्राणो  
रसं मध्यतोऽदधुस्तथैवास्मिन्नय मेतदधाति ता मनन्त-  
र्हिताः स्वयमातृश्चाया उपदधातीयं वै स्वयमातृ-  
श्चानन्तर्हितास्तदस्या ऽशोषधीर्हधायुसरा मुत्तरा-  
स्तदस्या ऽशोषधीर्हधाति सा स्यात् समूला साया  
क्वत्सतायै यथा स्वयमातृश्चाया मुपहिता भूमिं  
प्राप्नुयादेव मुपदध्यादस्याः श्वैता जायन्त ऽहमा  
मनु प्ररोहन्ति ॥ १३ ॥

काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती । पुरुषः पुरुष-  
स्परिति काण्डात् काण्डाद्भेषा पर्वणः पर्वणः  
प्ररोहत्येवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेषु शतेन क्षिति  
यथैव यजुस्तथा वसुः ॥ १४ ॥

या शतेन प्रतनोषि । सहस्रेषु द्विरोहसीति

यतेन ह्येषा प्रतनोति सहस्रेण द्विरोहति तस्यास्ते  
 देवीष्टके द्विधेम हविषा व्यय मिति यथैव यजु-  
 स्तथा बभ्रुर्वाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो बभ्रुः  
 सादयित्वा सुददोहसाधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः  
 ॥ १५ ॥

अथ द्वियजुष मुपदधाति । इन्द्राग्नौ ऽचका-  
 मयेतां स्वर्गं लोकं मियावेति तावेता मिष्टका  
 मपश्यतां द्वियजुष मिमा मेव ता मुपादधातां ता  
 मुपधायास्यै प्रतिष्ठाबै स्वर्गं लोकं मैतां तथैवैत-  
 दयजमानो यद् द्वियजुष मुपदधाति येन रूपेण यत्  
 कर्म कृत्वेन्द्राग्नी स्वर्गं लोकं मैतां तेन रूपेण  
 तत् कर्म कृत्वा स्वर्गं लोकं मयानीति सा यद्  
 द्वियजुर्नाम हे ह्येतां देवते ऽपश्यतां यद्देव द्वि-  
 यजुष मुपदधाति यजमानो वै द्वियजुः ॥ १६ ॥

तदाहुः । यदसाविव यजमानो योऽसौ हिर-  
 रण्यः पुरुषोऽथ कतमदक्षेद्दु रूप मिति दैवो  
 वा ऽपस्य स पात्मा मानुषोऽयं तदात् स हिर-  
 रण्यो भवत्यमृतं वा ऽपस्य तद्रूपं देवरूपं ममृतं



द्विरस्य मय यदियं नृदः कृता भवति मानुषं  
 अक्षेदं रूपं \* ॥ १७ ॥

स यदमू मेवोपदध्यात् † । नेमा मपशिष्यात्  
 क्षिप्रे शास्त्राज्ञोकाद्यवमानः प्रेषादथ यदमा मपशि-  
 नष्टि यदेवाख्येदं मानुषं रूपं तदस्यैतदपशिनष्टि  
 तयो ज्ञानेनात्मना सर्वं मायुरेति ॥ १८ ॥

स यन्नानूपदध्यात् । न हैतं दैव मात्मान मनु-  
 प्रजानीयादथ यदनूपदधाति तयो हैतं दैव मा-  
 त्मान मनुप्रजानाति ता मनन्तर्हितां दूर्ध्वेष्टकाया उप-  
 दधाति पशवो वै दूर्ध्वेष्टका यजमानं तत् पशुषु  
 प्रतिष्ठापयति ॥ १९ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैतावात्मानौ प्राचेन सन्त-  
 ताव्यवच्छिन्नौ भवत इति प्राचो वै स्वयमाह्वया  
 प्राचो दूर्ध्वेष्टका यजमानो द्वियजुः स यदनन्तर्हितां  
 स्वयमाह्वयायै दूर्ध्वेष्टका मुपदधाति प्राचेनैव तत्

\* 'रूपं'—इति ग, घ ।

† 'मेवोपदध्यात्'—इति ग, घ ।

प्राणोऽसन्तनोति सन्दधात्यथ यदनन्तर्हितां'दूर्ध्वेष्ट-  
कायै द्वियजुष मुपदधाति प्राणो वै दूर्ध्वेष्टका  
यजमानो द्वियजुरेव मु हास्यैतावात्मानौ प्राणेन  
सन्ततावव्यवच्छिन्नौ भवतः ॥ २० ॥

यास्ते ऽग्ने सूर्ये रुचोः\* । या वो देवाः सूर्ये  
रुच इति रुचोऽ रुच मित्यमृतत्वं वै रुगमृतत्वं  
मेवास्मिन्नेतदधाति हाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो  
बभ्रुरथो इयुः छेवैतद्रूपं मृच्चापञ्च सादयित्वा  
सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः ॥ २१ ॥

अथ रेतस्त्रिचा ऽउपदधाति । इमौ वै लोको  
रेतस्त्रिचाविमौ ह्येव लोको रेतः सिञ्चत इतो  
वा ऽअथ मूर्ध्नि रेतः सिञ्चति धूमो सामुव ब्वृष्टि-  
र्भवति ता मसावमुतो ब्वृष्टिं तदिमा अन्तरेण प्रजा-  
यन्ते तस्मादिमौ लोको रेतस्त्रिचौ † ॥ २२ ॥

व्विराड्ज्योतिरधारयदिति । अथ वै लोको  
व्विराट् स इमं मनिं ज्योतिर्धारयति स्वराड्-

\* 'रुचोः'—इति क. ख ।

† 'रेतःत्रिचौ'—इति ख ।

ज्योतिरधारयदित्त्वसौ वै लोकः स्वराट् सो \* ऽमु-  
मादित्त्वं ज्योतिर्धारयति विराड् वृद्धीम् + लोकी  
स्वराट् च नानोपदधाति नाना हीमौ लोकी सकृत्  
सादयति समानं तत् करोति तस्माद् हानयो-  
र्लोकयोरन्ताः समायन्ति ॥ २३ ॥

यद्दिव. रेतस्त्रिषा ऽउपदधाति । आण्डौ वै रेत-  
स्त्रिषौ यस्य आण्डौ भवतः स एव रेतः सिञ्चति  
विराड्ज्योतिरधारयत् स्वराड्ज्योतिरधारयदिति  
विराड् वृद्धीमाऽवाण्डौ स्वराट् च तावेतज्ज्योति-  
र्धारयतो रेत एव प्रजापति मेव नानोपदधाति  
नाना हीमावाण्डौ सकृत्सादयति समानं तत्  
करोति तस्मात् समानसम्बन्धनौ तेऽचनन्तर्हिते  
द्विवजुष उपदधाति यजमानो वै द्वियजुरनन्तर्हितौ  
तद्यजमानादाण्डौ दधाति ॥ २४ ॥

\* 'स्वराड्भ्यो'—इति ख ।

† 'विराड् वृद्धीम्'—इति मा०-सम्मत इत्याद्य ङा०-वेचरः ।

'विराट् च वृद्धीम्'—इति च पाठो इत्यङ्गेनैव ।

‡ 'विराट् च वृद्धीम्'—इति मा०-सम्मत इत्याद्य ङा०-वेचरः ।

अथ विश्वज्योतिष मुपदधाति । अग्निर्वै  
 प्रथमा विश्वज्योतिरग्निर्द्यौवाग्निं लोके विश्वं ज्योति-  
 रग्निं मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः रेत-  
 सिग्भ्या मुपदधातीमौ वै लोकौ रेतसिचावनन्त-  
 र्हितं तदाभ्यां लोकाभ्यां मग्निं दधात्यन्तरेवोपद-  
 धात्यन्तरेव हीमौ लोकावग्निः \* ॥ २५ ॥

यदेव विश्वज्योतिष मुपदधाति । प्रजा वै  
 विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः प्रजननं  
 मेवैतदुपदधाति ता मनन्तर्हिताः रेतसिग्भ्या  
 मुपदधात्याण्डौ वै रेतसिचावनन्तर्हितां तदाण्डा-  
 भ्यां प्रजातिं दधात्यन्तरेवोपदधात्यन्तरेव ह्याण्डौ  
 प्रजाः प्रजायन्ते ॥ २६ ॥

प्रजापतिष्ठा सादयत्विति । प्रजापतिर्द्यौतां  
 प्रथमां चिति मपश्यत् पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मती  
 मिति पृष्ठे ह्ययं पृथिव्यै ज्योतिष्मानग्निः † ॥ २७ ॥

\* 'लोकावग्निः'—इति ग, घ ।

† 'ज्योतिष्मानग्निः'—इति ग, घ ।

द्विष्वस्मै प्राचायापानाय । व्यानायेति प्राचो  
 वै द्विष्वज्योतिः सर्ब्वस्मा ऽउ वा ऽएतस्मै प्राचो  
 द्विष्वं ज्योतिर्यच्छेति सर्ब्वं ज्योतिर्यच्छेत्वेतद्भिष्टे-  
 ऽधिपतिरित्यग्नि मेवास्या अधिपतिं करोति साद-  
 यित्वा सुददोऽसाधिवदति तस्योक्तो बभूवुः ॥ २८ ॥

अथऽर्त्तव्ये ऽउपदधाति । ऋतव एते यद्वृत्तव्ये  
 ऽऋतनेवेतदुपधाति मधुश्च माधवश्च व्यासन्तिका-  
 हतू ऽऋति नामनी ऽएनघोरिते नामभ्या मेवैने  
 ऽएतदुपदधाति हे ऽऋष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः  
 सकृत् सादयत्वेकं तद्वृतुं करोति ॥ २९ ॥

तद्यदेति ऽअत्रोपदधाति । संव्यत्सर एषो-  
 ऽग्निरिम ऽउ लोकाः संव्यत्सरस्तस्याव मेव लोकाः  
 प्रथमा चितिरव मस्य लोको वसन्त ऋतुस्तद्यदेति  
 ऽअत्रोपदधाति वदेवास्वैते ऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्  
 प्रतिदधाति तस्मादेति ऽअत्रोपदधाति ॥ ३० ॥

यद्वैवेति ऽअत्रोपदधाति । प्रजापतिरेषोऽग्निः  
 संव्यत्सर उ प्रजापतिस्तस्य प्रतिष्ठैव प्रथमा चितिः  
 प्रतिष्ठो ऽअस्य वसन्त ऋतुस्तद्यदेति ऽअत्रोपदधाति

यदेवास्मैते ऽथात्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मा-  
 देते ऽअत्रोपदधाति ते ऽअनन्तर्हिते विश्वज्योतिष  
 उपदधाति प्रजा वै विश्वज्योतिरनन्तर्हितास्तत्  
 प्रजा ऋतुभ्यो दधाति तस्मात् प्रजा ऋतुर्नवानु-  
 प्रजायन्त ऽऋतुभिर्द्यैव गर्भे सन्तः सम्प्रश्यन्वृतुभि-  
 र्जातम् \* ॥ ३१ ॥

अथाषाढा मुपदधाति । इयं वा ऽअषाढेमा  
 मेवैतदुपदधाति तां पूर्वार्द्धे ऽउपदधाति प्रथमा हीय  
 मसृज्यत ॥ ३२ ॥

सा यदुषाढा नाम । देवाश्चामुराश्चोभये प्राजा-  
 पत्या अस्पृहन्त ते देवा एता मिष्टका मपश्यन्नषाढा  
 मिमा मेव ता मुपादधत ता मुपधायामुरान्सपत्नान्  
 भ्रातृव्यानस्मात्सर्वस्मादसहन्त यदसहन्त तस्माद-  
 षाढा तथैवैतद्यजमान एता मुपधाय द्विषन्त भ्रातृव्य  
 मस्मात् सर्वस्मात् सहते ॥ ३३ ॥

यद्देवाषाढा मुपदधाति । व्याग्वा ऽअषाढा वा-

\* 'जातम्'—इति ग, घ ।

चैव तद्देवा असुरान्सपत्नान् भावव्यानस्मात् सर्व-  
स्मादसहन्त तथैवैतद्यजमानो व्वाचैव द्विषन्तं भाव-  
व्य मस्मात्सर्वस्मात्सहते व्वाच मेव तद्देवा उपादधत  
तथैवैतद्यजमानो व्वाच मेवोपधत्ते \* ॥ ३४ ॥

सैयं व्वामभृत् । प्राणा वै व्वामं यद्वि किञ्च  
प्राणीयं तत् सर्वं विभर्त्ति तेनेयं व्वामभृद्वाग्ध त्वेव  
व्वामभृत् प्राणा वै व्वामं व्वाचि वै प्राणेभ्योऽन्नं  
धीयते तस्माद्वाव्वामभृत् † ॥ ३५ ॥

त एते सर्वे प्राणा यदुषाढा । तां पूर्व्वार्द्ध‡  
ऽउपदधाति पुरस्तात् प्राणान्दधाति तस्मादि-  
मे पुरस्तात् प्राणास्तान्नान्यया यजुष्यत्प्रेष्टकया पुर-  
स्तात् प्रत्नपदध्यादेतस्यां चित्ती नेत्याणानपिदधा-  
नीति § ॥ ३६ ॥

यद्वपस्याः पञ्च पुरस्तादुपदधाति । अन्नं वा

\* 'मेवोपधत्ते'—इति ख, 'मेवोपधत्ते'—इति ग, घ ।

† 'मभृत्'—इति ग, घ ।

‡ 'पूर्व्वार्द्ध'—इति, ख ।

§ 'दधानीति'—इति क ।

ऽप्रापोऽनपिहिता वा ऽअन्नेन प्राणास्ता मन्तर्हिता  
मृतव्याभ्या मुपदधात्पृषु तद्वाचं प्रतिष्ठापयति सेयं  
व्यागृतुषु प्रतिष्ठिता व्वदति ॥ ३० ॥

तदाहुः । यत् प्रजा विवृज्योतिर्वाग्घाटाथ  
कस्मादन्तरेणऽर्त्तव्येऽउपदधातीति संवत्सरो वा ऽऋ-  
तव्ये संवत्सरेण तत् प्रजाभ्यो व्वाच मन्तर्दधाति  
तस्मात् संवत्सरवेलायां प्रजा व्वाचं प्रवदन्ति ॥  
॥ ३८ ॥

अषाढासि सहमानिति । असहन्त द्येतया  
देवा अमुरानसहस्वारातीः सहस्र पृतनायत इति  
यथैव यजुस्तथा बभुः सहस्रवीर्यासि सा मा  
जिन्वेति सर्वं वै सहस्रं सर्ववीर्यासि सा मा  
जिन्वेत्येतत् सादयित्वा सुददोहसाधिवदति तस्योक्तो  
बभुः ॥ ३६ ॥

तदाहुः । कस्मादभिस्त्रयमाहस्य मन्या इष्टका  
उपधीयन्ते प्राच्य एता इति द्वे वै योनी ऽइति  
ब्रूयाद्देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः प्राचीनप्रज-  
नना वै देवाः प्रतीचीनप्रजनना मनुष्यास्तद्य-



देताः प्राचीरुपदधाति देवयोनिरेवैतद्यजमानं प्रज-  
नयति ॥ ४० ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [४. २.] ॥

गते ब्राह्मणे रुक्माद्युपधानं विहितम् \* , अथास्मिन् ब्राह्मणे  
स्वयमादृशादूर्वेष्टकाद्युपधानं विधास्यते । कात्यायनः,— “स्वय-  
मादृशां पुरुषे शर्करां छिद्रा मिति † । पुरुषप्रयत्न मन्तरेण या  
स्वत एव छिद्रयुक्ता, शर्करा क्षुद्रपाषाणविशेषः , सा स्वयमादृशा,  
तां हिरण्यंयपुरुषे उपदध्यात् । तदेतद् विधत्ते— “स्वय-  
मादृशा सुपदधातीति । स्वयमादृशास्या मिष्टका सुपदध्या-  
दिति विधिरुचेयः ; यथा “शौदुम्बरी यूपो भवतीति । तच्च  
हि भवतीत्यस्य वर्त्तमानापदेशत्वात् प्रत्यक्षविधित्वासम्भवेऽपि  
“जम्बे”—इत्याद्यर्थवादकृतस्तुत्या विधिरुचीयत इति निर्णयितम् ।

ननु “जम्बा उदुम्बर इत्यादिः यूपोदुम्बरस्य फलविधाय-  
कत्वात् कथं मर्यवादत्वं मिति चेत्, न ; अविहितस्य  
फलाभिधानायोगाद् विहितस्येति वक्तव्यम् ; विधिश्च तस्मार्थ-  
वादत्वं मन्तरेण न सम्भवतीति । अतोऽत्रापि “इयं वै”—  
इत्याद्यर्थवादस्य वर्त्तमानापदेशत्वादुक्तेतस्यो विधिः । एव मन्य-  
त्रापि वर्त्तमानापदेशेषु अयं निव न्यायो द्रष्टव्यः ।

\* नास्येतद् वाक्यं ज-पुस्तके ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. १५ ।

तस्याः स्वयमाह्वयाः पृथिवीविकारत्वात् तदुपधानेन पृथिव्युपधान मेव सम्पादितं भवतीत्याह— “इयं वा इति ।

यदुक्तं सूत्रे पुरुष इति, तद् विधत्ते— “ता मनन्तर्हिता मिति । ‘ताम्’ इष्टकां ‘पुरुषात्’ ‘मनन्तर्हिताम्’ अव्यवहितां, तत्सम्बन्धा मुपदध्यादित्यर्थः ।

पुरुषसम्बन्धस्वेनोपधानं प्रशंसति— “अन्नं वा इति । पृथिव्यां ब्रौह्मादीनां सर्वेषां मन्वानां पच्यमानत्वादन्नरूपा पृथिवी, स्वयमाह्वया च पृथिवीत्युक्तम् ; अतश्च पुरुषसम्बन्धेनोपधानेन तस्मिन्नन्नमेव निहितत्वात् भवति ।

मनन्तर्हितमित्युक्तत्वात् क्वचित् तत्पार्श्वे संश्लेषेणाप्यव्यवधानमुपपद्यत इत्यत आह— “उत्तरा मिति । ‘उत्तरां’ पुरुषस्योपर्यवस्थिताम् । विधेयविशेषणमेतत् । अत एव सूत्रे ‘पुरुषे’ इति सप्तम्या उपधानाधिकरणत्वं मुक्तम् ।

“उत्तरमेवास्मादिति । ‘अस्मात्’ पुरुषात् ‘उत्तरम्’ उपर्यवस्थितम् ‘अन्नं’ करोति, पुरुषस्य मुखे दधातीति \* भावः ॥ १ ॥

विहितं स्वयमाह्वया मनूय प्राणात्मना स्तीति— “यद्देवेति । “स्वयमाह्वया मुपदधातीति यदस्ति, तत्कारणमुच्यत इत्यर्थः । “प्राणो ह्येवेतत् स्वयं मात्मन आह्वयते”—इति स्वयमाह्वयाः प्राणस्त्रोपपादनम् । प्राणो नाम शरीरान्तर्भवत्तमानो वायुः । स हि आत्मनोऽर्थे स्वयम् ‘आह्वयते’ आतर्दनं कुरुते, शरीरान्तर्गतनाडोह्यु अवकाशं कृत्वा प्रवर्तते । अथ वा आत्मनः शरीरस्वान्तः आह्वयते इति योजना । आह्वयते इति “उत्तरदि”

\* ‘निदधातीति’—इति च ।

हिंसानादरयोः \*—इत्थस्माद्द्वीधादिकाकृष्टि रूपम् ; अतः स्वय  
मातर्द्दैनसामान्यात् स्वयमाढण्यायाः प्राणात्मकत्व मित्यर्थः ।

विहितव्यवधानं मनुवदन् न केवलं स्वयमातर्द्दैनसामान्यादेव  
प्राणत्वम्, अपि तु पूर्वोक्तपृथिवीत्वसामान्याच्चापि † प्राणत्व मस्या  
विद्यत इति दर्शयति— “ता मनस्तर्हिता मित्यादिना । यत्  
किञ्चिन्नगुण्यपशुपक्षिसरोसृपादिकं प्राणिजात मस्ति, तत् सर्वं  
पृथिवी विभक्तिं खलु । अनेन पृथिव्याः प्राणात्मकत्वं सुपपादि-  
तम् । अष्ट मन्वत् ॥ २ ॥

अथ पुनरपि ता मेवेष्टकां विस्त्रस्तावयवस्य प्रजापतेः  
प्रतिष्ठारूपेण प्रशंसति— “यद्देवेति । पूर्वं प्रजापतिः प्रजाः  
सृष्ट्वा विस्त्रस्ताऽऽभूत् । तादृशं 'तं' प्रजापतिम् अवयवशः  
'आदाय', देवताः 'व्युदक्रामन्', ततः 'तासु' 'व्युत्क्रामतीषु' ‡,  
स प्रजापतिः प्रतिष्ठारूप मङ्गं स्वयम् 'अभिपद्य' गृहीत्वा 'उपावि-  
शत्' । तदेतत् प्राक् प्रपञ्चेनोक्तम्— “प्रजापतिः प्रजा असृजत,  
स प्रजाः सृष्ट्वा सर्वं माजि मित्वाव्यसंसत, तस्मादिस्त्रस्तात्  
प्राणो मध्यत उदक्रामदित्वादिना § । प्रजापतेः प्रजासर्जनेन  
विस्त्रस्तावयवत्वं तैत्तिरीयकेऽप्याम्नातम्— “प्रजापतिः प्रजाः  
सृष्ट्वा व्यसंसतेति ॥ ३ ॥

\* न० उ० ६ भा० ।

† 'पृथिवीत्व माद्यापि'— इति च, 'पृथिवीत्वप्रमाद्यापि' इति छ ।

‡ 'देवाः', 'तेषु', 'व्युत्क्रामस्य' इति अथः पाठास्तत्रव्यर्थं वा  
सायनीयाः ।

§ पुरस्तादिहेतु १. १. २ ( ४६ पृ० ) दृश्यम् ।

॥ तै० ब्रा० २. ३. ६. १.

“स य इति । ‘सः’ प्रजानां स्रष्टा , यः प्रजापतिः ‘विस्रस्तो-  
ऽभूत् , ‘सोऽय मेव’ ; य एष इष्टकासङ्घातरूपः ‘अग्निधीयते’ ।  
‘अथ’ ‘या च’ ‘सा’ प्रजापतिना प्राप्ता ‘प्रतिष्ठा’ , ‘सा एषा’ ;  
इदानीं उपधीयमाना ‘प्रथमा स्वयमादृशा’ । प्रथममध्यमोत्तमासु  
तिस्रश्चपि चितिषु तिस्रः स्वयमादृशा उपधीयन्ते , अतोऽत्र प्रथ-  
मेति विशेषणम् । “तद्यदिति । यतः ‘एताम्’ इष्टकाम् ‘अत्र’ पुरुषे  
‘उपदधाति’ , ‘तत्’ तेन ‘अस्य’ पुरुषरूपस्य प्रजापतेः ‘आत्मनः’  
स्वस्य ‘यदेतत्’ प्रतिष्ठालक्षणं मङ्गम् । ‘एषेति लिङ्गव्यत्ययः \* ।  
‘तत्’ ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतत्’ एतेन निहितवान् † भवति ।  
तस्मादस्मिन् पुरुषे उपदध्यात् ॥ ४ ॥

विहिते उपधाने मन्त्रं विधत्ते— “तां वै प्रजापति-  
नोपदधातीत्यादिना । अत्र “ध्रुवासि धरुणास्तृता”—“प्रजापतिद्वा  
सादयतु”—“भूरसिभूमिरसि”—इति तिस्रभिर्ऋग्भिः ‡ “विश्वस्मै  
प्राणाय”- इति § यजुषा च ।

यत एषा स्वयमादृशेष्टकोपधीयते , अतः प्रजापति-  
शब्देन तद्विशिष्टं मन्त्रं लक्षयित्वा , तेन लक्षित-लक्षणया ते  
सर्वे मन्त्रा लक्ष्यन्ते— “प्रजापतिर्द्वैतत् स्वय मात्मनः प्रत्य-  
धत्तेत्यनेन लक्षितलक्षणाविवक्षाकारणं मुच्यते ॥ । यतः प्रजा-

\* ‘एष इति लिङ्गव्यत्ययः’—इति छ , ञ ।

† प्रजापतौ च ते निहितवान्—इति छ-पाठः , डा० वेवरेण च  
दृष्टः । ‘प्रजापतौ प्रति निहितवान्’—इति ञ ।

‡ वा० सं० १३. १६, १७, १८ । § वा० सं० १३. १६ ।

॥ ‘लक्षितलक्षणाकारणं मुच्यते’—इति ञ ।

पतिः स्वयं मात्मनः 'एतत्' प्रतिष्ठासंज्ञकं मङ्गं 'प्रत्यक्षत्', अतस्तत्प्रतिष्ठात्मकस्य यमादृशोपधानमन्त्रेऽपि तन्मन्त्रप्रतीतिर्यथा स्यादिति प्रजापतिनोपदध्यादित्युक्तम् ।

प्रथमा सूचं व्याचष्टे— "ध्रुवासीति \* । "स्थिरासीत्येतदिति ध्रुवासीत्यस्य व्याख्यानम्, "अथो प्रतिष्ठासीत्येतदपि ध्रुवासीत्यस्यैव विवरणम् । 'धरुषेति'-प्रतीकं मादाय व्याचष्टे— "प्रतिष्ठा वै धरुष मिति । सर्वस्याधारभूतेत्यर्थः । "आस्तृता विश्वकर्माशेत्यस्य व्याख्यानम्— "प्रजापतिर्वै विश्वकर्मेति । विश्वस्य कृत्स्नप्रपञ्चस्य कर्म सृष्टिलक्षणं मस्वासीति विश्वकर्मशब्देन प्रजापतिरभिधीयते । तेन 'आस्तृता' आच्छादिता, उपहितेत्येतदुक्तं भवति ।

"रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्ण इति । अत्र पुष्करपर्णे रुक्मं निधाय, तत्र च हिरण्यपुरुषं भवत्स्वाप्य, तस्योपरि स्वयमादृशोपधानं कर्तव्यम् । अतश्च "मा त्वा समुद्र उदधीन्मा सुपर्ण इति †, अनेन आधारभूतो रुक्मपुरुषो तव हिंसां मा कार्ताम्, किन्तु आस्तृत्येनाङ्गीकृतता मित्येतदुच्यते ।

"यथैव यस्तुसाया बन्धुरिति । अनेन यथा मन्त्रसाथैव व्याख्या-  
नम्— "अव्ययमाणां पृथिवीं दृष्ट्वेत्येष मन्त्रभागः ‡ अष्टार्थं इत्युच्यते ॥ ५ ॥

\* 'ध्रुवासि धरुषाकृता 'विश्वकर्मेत्या'—इति वा० सं० १३. १६  
अथः प्रथमो भागः ।

† एव वा० सं० १३. १६ द्वितीयो भागः ।

‡ एव हि वा० सं० १३. १६ तृतीयो भागः ।

अथ द्वितीया सूचं व्याचष्टे—“प्रजापतिश्चेति \*’। यतः  
 ‘प्रजापतिः’ ‘एतां प्रथमां चिति मपश्यत्’, अतः “प्रजापतिश्चा  
 सादयत्विति मन्त्र आह । अपा माच्छादकत्वात् ‘इयं पृथिवी अपां  
 पृष्ठे । तथा ‘समुद्रस्य’ अपि ‘एमन्’ । एमन्निति “इण् गतौ †”—  
 इत्यस्मात् “अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते”—इति ‡ मनिन् प्रत्ययः । “समुद्र-  
 स्येति, ऋयोगे कर्मणि षष्ठी § । ‘समुद्रस्य एमा’ समुद्रं प्राप्तेत्यर्थः ।  
 परितः समुद्रेण वलयितत्वात् । “एमन्निति सप्तम्येकवचनस्य  
 “सुपां सुलुगित्यादिना ॥ लुकि सति रूपम् । ‘इयं पृथिवी’ व्यच-  
 खती’ व्यञ्जनवतो, अभिव्यक्तियुक्ता, ‘प्रथस्वती’ विस्तारयुक्ता चेत्ये-  
 तत् प्रत्यक्षसिद्धम् ; स्वयमाह्वया च पृथिव्यात्मिका ; अतश्च व्यच-  
 खतीं प्रथस्वती मिति मन्त्र आह, “प्रथस्व पृथिवी चासीत्ये-  
 तदिति ¶ । यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्वेत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः ।  
 पृथिवीशब्दस्य प्रथनप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते—  
 “तत् पुष्करपथेऽप्रथयत्, यदप्रथयत्, तत् पृथिव्यै पृथिवीत्व  
 मिति \*\* ॥ ६ ॥

\* “प्रजापतिश्चा सादयत्वप्राप्त्युद्धे समुद्रस्येमन् । व्यचखतीं प्रथस्वतीं  
 प्रथस्व पृथिव्यसि”—इति वा० खं० १३. १७ ।

† अदा० प० ३४ घा० ।

‡ पा० ख० ३. २. ७५ ।

§ पा० ख० २. ३. ६५ ।

॥ पा० ख० ७. १. ३६ ।

¶ मन्त्रद्वयाभिप्राय एव ब्राह्मणोक्तः, न तु मन्त्रपाठः ।

\*\* तै० ब्रा० १. १. ३. ७. १ ।

अथ 'द्वितीया सूचं व्याचष्टे—“भूरसीतीति \* । “भूर्हीयं भूमिर्हीयं मिति । 'इयं' पृथिवी, यतः सर्वेषां सुखानि भावयतीति भूः ; अस्याः सकाशादिदं सर्वं मविज्ञात मभूदिति भूमिश्च । अत एव श्रुतिः,—“अभूद्वा इदं मिति तद् भूम्यै भूमित्व मिति† । तस्माद्भूरसि भूमिरसौत्वभिधत्ते । “इयं हीदं सर्वं ददते”—इत्यनेनादितित्वोपपादनम् । 'इयं' पृथिवी 'इदं सर्वं' भोग्यवस्तुजातं 'ददते', तस्माद् अदितिः । “दद दाने ‡”—इत्यस्माददितिशब्दो निष्पन्नो दृश्यः । 'विश्वं' सर्वम् 'अस्यां' निहित मिति 'विश्वधायाः' । “विश्वस्य भुवनस्येति । भुवनशब्देनात्र भुवनवर्ति पदार्थजातं लक्ष्यते, ततश्च सर्वस्य भुवनवर्तिपदार्थजातस्य धारयिषीत्येतदुक्तं भवति । पृथिवीरूपस्वादात्मनः “पृथिवीं यच्छेत्त्वादिना आत्मन एव नियमनादिकं क्रियता मित्युच्यत इत्याह— “आत्मानं यच्छेत्त्वादिना ॥ ७ ॥

अथ 'यजुर्मन्त्रं व्याचष्टे—“विश्वस्मै प्राचायेति § । एक एव प्राचवायुर्वृत्तिभेदात् प्राचापानस्यानोदानशब्दैरभिधीयते । “प्राचो ज्ञेवैतत् स्वय मात्मनश्चाहन्दत इति स्वयमाह्वयायाः प्राचत्व मुक्तम् ॥ । “सर्वस्मा उ वा एतस्मा इति । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ¶ । सर्वस्य सत्येतस्य प्राचिसहस्रस्य प्राच एवाशासो

\* वा० सं० १३. १८ ।

† ति० ब्रा० १. १. ३. ७. १ ।

‡ भा० आ० १७ ब्रा० ।

§ वा० सं० १३. १६ ।

॥ इत्येव चिन्तयकश्चिन्तायां ( १७८ पृ० ६ पं० ) दृष्टव्यम् ।

¶ पा० १. ३. ६१ ख० १. ब्रा० ।

भवति, अतः सर्वस्यापि प्राणादिस्वैर्याधिं तत्रोपधानं मिति यावत् ।

“इमे वै लोका इति । तिस्रः स्वयमादृशाः, पृथिव्यन्तरिक्ष्यलोकात्मिकाः । ‘इमे’ खलु ‘लोकाः’ ‘प्रतिष्ठा’ सर्वप्राणिना माधारः । “चरित्र मिति प्रत्येकविवक्षयैकवचनम्, नियतलिङ्गत्वान्नपुंसकलिङ्गम् । ततश्च प्रथमायाः स्वयमादृशायाः पृथिव्यात्मकत्वात्, सर्वेषां माधारभूताय संसारसाधनभूताय च अस्मै लोकाय तत्रोपधानम् । “गोपायत्वित्येतदिति । पृथिव्यभिमानिदेवतात्वात् “अग्निस्त्वा अग्नि गोपायत्वित्येतदुक्तम् । “यच्छर्हिः शन्तमम्, तेनेत्येतदिति । ‘शन्तमम्’ अतिशयेन सुखकरं यच्छर्दिस्तेजोस्ति, तेनेति ॥

मन्वार्थस्तु,— हे स्वयमादृशे ! स्थिरासि, सर्वेषां प्रतिष्ठासि, प्रजापतिनोपहितासि । तादृशीं त्वां वक्षो मोहधीत् । तथा हिरण्यपुरुषश्च त्वां मोहधीत् । तथा सति अव्यथमानां त्वं पृथिवीं दृढीकुरु (१६) । किञ्च प्रजापतिः अपा माच्छादके समुद्रं प्राप्तवति भूप्रदेशे व्यचसतीं विस्तारवतीं त्वां सादयतु । यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः ‘प्रथस्व’ विस्तारवती भव (१७) । किञ्च, त्वं सर्वेषां सुखानां भावयित्री असि, सर्वेषां चोत्पत्तिस्थान मसि, सर्वस्यापि भोग्यवस्तुनो दात्री असि, कृत्स्नस्यापि भुवनवर्त्तिपदार्थजातस्य धारयित्री असि । तादृशो त्वं पृथिवीरूप मात्मानं ‘नियच्छ’ दृढीकुरु, मा च क्षिप्सोः (१८) । प्रयोजन मन्तरेण त्वां ‘नोपदधे’ किन्तु सर्वस्यापि प्राणिनः स्वैर्याधिं त्वा सुपदधामि, त्वां अग्निं मन्वामहे । तिस्रोपच्छादसः । ‘स्वस्वा’ अग्निनाशेन



सुखातिशयसम्पादकेन तेजसा च गीयायतु । तथा 'देवतया'  
'अङ्गिरस्यत्' अङ्गिरसा तुष्या, 'ध्रुवा' 'स्थिरा' 'सीद' उपविशेति  
कृत्स्नमन्वार्थः ॥

अथ "तया देवतयेत्यनेन मन्त्रेण सादयित्वा "ता अस्येत्यने-  
नाधिवदेदित्याह— "सादयित्वेति । अत्र सूत्रम्— "सादन-  
सूददोहसौ सवेच तथा देवतया ता अस्येतीति \* । साद-  
नाधिवदनमन्त्रयोर्व्याख्यानं प्रागुक्त मित्याह— "तस्योक्तो बन्धु-  
रिति । 'तत्र' तस्मिन्. काण्डे "प्राणो वै सूददोहा इत्यादिना  
अधिवदनमन्त्रो. व्याख्यातः † । षष्ठकाण्डे "स उपदधाति  
'नया' देवतयेति, "वाग्वै सा देवतेत्यादिना व्याख्यातः सादन-  
मन्त्रः ‡ ॥

अथ स्वयमाह्वानायां सामगानं विधाय, तत्रयोजनकथनलक्षणं  
व्याख्यानं उपरिष्ठाद् वक्ष्यत इति दर्शयति— "अथेत्यादिना ।  
अस्यां प्रथमायां स्वयमाह्वानायां भूरिति व्याहृत्यां साम गायेत् ।  
अत एव सूत्रम्— "भूरित्येतस्यां साम गायति"—इति § ।  
तद्वाख्यानन्तु "अथ स्वयमाह्वानासु सामानि गायतीत्यादिनो-  
त्तरत्र अष्टमकाण्डावसाने प्रपञ्चते ॥ ८ ॥

\* "नित्ये सादनसूददोहसा, उपधानादुत्तरे तथा देवतया ता  
अस्येति"—इति का० श्रौ० सू० १६. ७. १४ ।

† पुरस्तादिहेतु ८०. ४०. ८ पं० दृश्यम् ।

‡ तत्र १. २. २८ ( ६ भा० २२. ४० ) दृश्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. १६ ।

॥ उपरिष्ठात् ८. ७. ४. १ दृश्यम् ।

( प्राणात्मकत्वात् तदुपधानेन पुरुषः कथं मनमिनिहितो भवतीति प्रश्नपूर्वकं स्वयमाह्वयायाः ) \* लोके हि पुरुषस्योपरि पाषाणे निहिते अस्य † महानुपरोधो जायते, अतोऽत्र स्वयमाह्वयायाः पाषाणात्मकत्वात् ‡, तयोस्योपरोधहेतुत्वाभावात्, प्रत्यु-  
तानुकूलत्वात्, तत्सन्निधानेऽपि पुरुषोऽनभिहित एव भव-  
तीत्याह — “तदाहुरित्यादिना ॥ ८ ॥

स्वयमाह्वयेष्टकोपधानानन्तरं दूर्वेष्टकोपधानं विधत्ते—  
“अथेति । इष्टकाशब्दो मृन्मयेष्टकासु मृत्स्यः, दूर्वायानूपधान-  
सामान्याङ्गीणः । पशुपुष्टिसाधनत्वेन दूर्वाणां मपि पशुत्वात्, तदु-  
पधानेन § पशूनां मेवोपधानं कृतं भवतीत्याह—“पशवो वा इति ।  
यदुक्तं “पशुनेवैतदुपदधातीति, तत् किं साधारणपशुविषयम् ?  
नेत्याह—“तद्यौरद इति । ‘अदः’ पुरस्तात् ‘अग्निः’ ‘अनन्तर्हितैः’  
अव्यवहितैः । स्वस्य तेष्वनुप्रवेशादनन्तर्हितत्वम् । तादृशैः ‘यैः’  
पञ्चभिः पशुभिः अन्यत्रोपजगाम, ‘ते’ पशवः ‘एते’ दूर्वेष्टकात्मका  
इत्यर्थः । अग्निः पशून् प्रविश्यान्वच जगामित्येतत् “स एतान् पञ्च  
पशून् प्राविशदित्यादिना षष्ठकाण्डे प्रपञ्चेनोक्तम् ॥ । “उपदधातीति

\* बन्धनीचिह्नान्तःपाठो नास्ति ह-पुस्तकादन्यत्र ।

† ‘निहितस्य’—इति ऊ ।

‡ ‘अन्नप्राणात्मकत्वात्’—इति ह । “लोके पुरुषस्योपरि पाषाणे  
निहिते तस्य महानुपरोधो जायते । स्वयमाह्वयायाः पाषाणा-  
त्मकत्वात्”—इति ज ।

§ ‘तदुपधाने’—इति ऊ, ज ।

॥ १ प्र० ४ भा० २ कः ( ४ भा० ५३ पृ० ) इत्यम् ।

सामान्येन विधानात् स्नानविशेषं विधाय प्रशंसति— “ता मनन्तर्हिता मित्वादिना । “ता मनन्तर्हितां पुरुषादुपदधातीति स्नयमादृशेष्टकास्वापनविधिव्याख्यानेनैव कृतव्याख्यानमेतत् \* ॥ १० ॥

विहितं सुपधानं मन्व्यं ओषधीनां दूर्वायासोत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकं तदुपधानेनैव ( सत्र मन्वाः ) † सर्वौषधीः प्राणं रसञ्चोपहितवान् भवतीति स्तौति— “यद्देवेत्वादिना । “अशीयन्तेति अपतन्नित्यर्थः ॥ ११ ॥

“सोऽब्रवीदिति । ‘अयम्’ एव प्राणो माम् ‘अधूर्वीदु’ अहिंसीदिति ‘सः’ प्रजापतिः ‘अब्रवीत्’ । ‘यद्ब्रवीन्मा अधूर्वीत्’-इति, ‘तस्माद्’ एष प्राणो नाम्ना ‡ ‘धूर्वा’ अभूत् । ननु धूर्वा न दूर्वा भवितु मर्हति, तत् कथं दूर्वेत्युच्यत इत्यत आह—“धूर्वा ह वै ता मिति । धूर्वाशब्दः पचाद्यजन्तः § । लोकेऽपि यत् किञ्चिन्नामधेयविशिष्टं पुरुषं गौरवार्थं भ्राता पितृत्वेवं परोक्षेण व्यपदिशन्ति, तदद् देवा अपीत्यर्थः । “तदेतदिति । यतः ‘एषः’ दूर्वा प्राणात्मको ‘रसः’ । प्राणस्य रसात्मकत्वं श्रूयते—“प्राणो ज्ञानानां रस इति ॥ । ‘एषः’-इति पुल्लिङ्गत्वं प्राणरसापेक्षम् । अतः ‘तदेतद्’ ‘दूर्वा’ ‘सत्रं’ प्रधानम् । सत्रशब्देनात्र प्राधान्यं लक्ष्यते । ‘तदेतत्’-

\* पुरस्तादिहैव २७८ पृ० १० पं० द्रष्टव्यम् ।

† नास्येतद् पदद्वयं ह-पुस्तकाध्यायम् ।

‡ नास्येतत् पदं ह-पुस्तके ।

§ पा० छ० ३. १. १३४ ।

॥ छा० भा० ३. ३. १० द्रष्टव्यम् ।

इत्यपि नपुंसकलिङ्गं चतुशब्दापेक्षम् । तथा सति लोकां  
प्राणानुविधायित्वात् प्राणरसात्मिका मीतां दूर्वेष्टका सुपदध्यात् ।  
लोमात्मिकाः 'सर्वा अप्योषधीरुपदधाति' ॥ १२ ॥

किञ्च 'यत्र' यदा 'देवाः' 'तं' प्रजापतिं चयनसंस्कारेण संस्कृत-  
वन्तः, तदा 'अस्मिन्' प्रजापतौ 'मध्यतः' मध्ये । सप्तम्यर्थे तसिः\* ।  
'प्राणं रसम् अद्भुः' † स्थापितवन्तः । तथैव 'अयम्' अद्भुः  
'एतत्' एतेन दूर्वेष्टकोपधानेन 'प्राणं' रसं निहितवान् भवती-  
त्यर्थः । "ता मनन्तर्हिता मित्यादि । तस्यार्थलु व्यक्त एव ।

उपधातव्यायाः दूर्वेष्टकाया लक्षण माह— "सा स्वादिति ।  
'कस्त्रतायै' सम्पूर्णायाय ; अष्टिन्नमूलाग्रं हि सम्पूर्णं मन्वूनं  
भवति । अतो मूलाग्रवती कार्या । उपधाने विशेष माह—  
"यथेति । अत्र कात्यायनः— "मूलाग्रवतीं दूर्वां तस्यां पुरस्ताद्  
भूमिप्राप्ता मिति ‡ । दूर्वेष्टकायाः पुरस्ताद् भूमिसंस्पर्शेनो-  
पधाने इमां दूर्वां मनुलक्ष्यैता ओषधयो भूमौ प्ररोहैरुत्तिह—  
"अस्यां ज्ञेयता इति ॥ १३ ॥

"काण्डादिति, "या शतेनेति च द्वाभ्या मपीय मिष्टका उप-  
धीयते । तत्र प्रथममन्त्रे पूर्वार्धस्वार्थः प्रत्यक्षसिद्ध इति दर्श-  
यति— "काण्डात्-काण्डादिति § । द्वितीयार्धन्तु निगदव्याख्यात  
मित्वाह— "एवा नो दूर्वे इत्यादिना । काण्डशब्दः स्तम्बवाची ,

\* पा० ख० पृ. ३. ७, १४ ।

† 'मिद्भुः'—इति क ।

‡ का० श्रौ० ख० १७. ४. १८ क ।

§ का० श्रौ० ख० १७. ४. १८ ख ।

परुः-शब्दः; पर्ववचनः । यावन्तः काण्डाः स्तम्भा विद्यन्ते , तत्रैकै-  
कस्मात् स्तम्भात् प्रकर्षेणोत्पद्यमानाः । एकस्मिन्नपि स्तम्भे  
यावन्ति 'परु'षि' पर्वाणि विद्यन्ते , तेष्वेकैकस्मात् पर्वणः  
'परितः' प्रकर्षेणोत्पद्यमानाः । अथ वा , काण्डशब्देन पर्वणो-  
र्मध्यवर्ती दण्ड उच्यते ; 'काण्डात्-काण्डात्' सर्वस्मात् काण्डा-  
दित्यर्थः । 'परुषः-परुषः' सर्वस्मात् पर्वणः । हे दूर्वे ! येषु  
काण्डेषु यानि पर्वाणि सर्वाणि विद्यन्ते , तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि  
परतः प्ररोहन्ती भवसीत्यर्थः । 'एवा' एवं यथा त्वं भवसि ,  
एवं 'नः' अस्मान् 'शतेन सहस्रेण च' शतसहस्रसङ्ख्याकैः पुत्रा-  
दिभिः 'प्रतनु' विस्तारयेति प्रथमस्वार्थः ॥ १४ ॥

हे दूर्वे ! 'या' त्वम् काण्डानां 'शतेन' आत्मानं विस्तारयसि ,  
अङ्कुराणां 'सहस्रेण' विविधं प्रादुर्भवसि , हे 'देवि' द्योत-  
माने इष्टके ! 'तस्यास्ते' वयं 'हविषा' 'विधेम' परिचरेमेति  
द्वितीयस्वार्थः ॥ १ ॥

उपधानमन्त्रगता मर्थसिद्धां हित्वसङ्ख्या मनुवदति— "हाभ्या  
मुपदधातीति । हित्वसङ्ख्याप्रशंसालक्षणं व्याख्यानम् "हाभ्या मभि-  
स्तुहोति , द्विपाद्यजमानः , यजमानोऽम्भिरित्वादिना प्रागुक्तं ॥  
मित्वाह— "तस्योक्तो बभ्रुरिति । "सादयित्वेत्यादिकन्तु  
व्याख्यातम् § ॥ १५ ॥

\* वा० सं० १३. २० ।

† वा० सं० १३. २१ ।

‡ इहेव पुरस्तात् २३५ पृ० ४ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ इहेव पुरस्तात् ३०० पृ० ५ पं० द्रष्टव्यम् ।

कात्यायनः— “यास्त इति द्वियजुष मिति \* । “यास्ते अग्ने सूर्ये रुचः”—इति, “या वो देवाः”—इति, द्वाभ्यां † द्वियजुर्ना-  
मिष्टका मुपदधादिति सूत्रार्थः । तदेतद् विधत्ते— “अथेति ।  
विहिता मिष्टकां यजमानस्य स्वर्गप्राप्तिसाधनत्वेन प्रशंसति—  
“इन्द्राग्नी इत्यादिना । स्पष्ट मेतत् ।

“इमा मेवेति । ‘ताम्’ आत्मना दृष्टाम् ‘इमाम्’ अस्माभि-  
रधिष्ठीयमाना मिष्टकाम् ‘एव’ ‘उपादधाताम्’ । ‘ता मुपधाय’,  
‘अस्यै प्रतिष्ठायै’ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ‡ । अस्याः प्रतिष्ठायः  
सकाशात् सोपानवदिमा मारुह्य ‘स्वर्गं लोकं’ प्राप्नुता मित्यर्थः ।  
“तथैवैतदिति । “यजमानो द्वियजुष मुपदधातीति यत् एतत्,  
‘तथैव’ इन्द्राग्निदेवतावदेव । तदेव दर्शयति— “येनेति । येन  
प्रकारेण ‘यत् कर्म कृत्वा’ इन्द्राग्नी ‘स्वर्गं लोकं’ प्राप्नुताम्,  
तेनैव प्रकारेण ‘तत् कर्म कृत्वा’ अह मपि ‘स्वर्गं’ प्राप्तवानीति  
‘यजमानो द्वियजुष मुपदधाति’ । तस्मादेवा स्वर्गप्राप्तिसाधन  
मिति भावः ।

प्रकृताया एवेष्टकायाः द्वियजुरिति नामप्राप्तिं दर्शयति—  
“सा यदिति । यतः ‘एतां’ ‘हे देवते’ इन्द्राग्नी ‘अपश्यताम्’,  
तस्माद् द्वियजुर्नामिद्य मिष्टकेत्यर्थः ॥

ननु देवतादयदर्शनात् कथं द्वियजुरिति नाम स्यादिति  
चेत्, उच्यते— यतो ‘हे देवते एतां अपश्यताम्’, अत एव द्वाभ्यां

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २० । परं तत्रास्ति पाठभेदः ।

† वा० सू० १३. २२, २३ ।

‡ पा० ३. २. ६२ सू० १ वा० ।

यजुर्भ्यां मुपधीयते । तथा सति यंजुर्हविर्नोपधानस्त्रापि देवता-  
हयदर्शनोपाधिकत्वाद् द्वियजुरिति नामधेयस्त्रापि देवताहयदर्शन  
मेव निमित्त मित्त्वभिप्रायः ॥

ननु “यास्ते अन्वे”-“या वो देवाः”-इत्यनयोर्मन्त्रयोः ऋग्-  
ध्ववस्त्रया पठितत्वात् कथं यजुःशब्देन तदभिधान मिति ? एवं  
तर्हि अत्र यजुःशब्देन मन्त्रमात्रं लक्ष्यते ।

“ऋक्सामयजुषां लक्षणं जैमिनिना दर्शितम्—

“तेषां सृन् यत्रार्थवशेन पादध्ववस्था, गीतिषु सामाख्या,  
शेषे यजुः शब्दः”—इति \* ।

एतदेवान्धत्र सङ्गृहीत मभियुक्तैः—

“नर्कामयजुषां लक्षणं साङ्कर्यादिति शङ्किते ।

पादश्च गीतिः प्रज्ञिष्टपाठ इत्यस्वसङ्करः”— इति † ।

अथवा मन्त्रे एव यजुःशब्दव्यवहारो दृश्यते ; यथा—  
“तस्त्रास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वय मिति ‡ “यथैव यजुस्तथा  
बभ्रुरित्येवमादौ § ॥

अथ ता भिवेष्टकां यजमानाकनापि प्रशंसति— “यद्देवेति ।  
द्वियजुषो यजमानाकत्वात् तदुपधानेन यजमान भिवास्त्रिंशोके  
अर्पितवान् भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

द्वियजुषो यजमानस्त्रिंशोके सन्धोदयां पाश्चिमानां जिज्ञासा  
भवतारयति— “तदाहुरित्त्रादिना । “अथ कतमदिति । ‘अथ’

\* मी० जै० ख० २ अ० १ पा० ३५, ३६, ३७ ख० ।

† जै० अग्नि० २. १. १०, ११, १२ ।

‡, § पुरस्तादित्येव पञ्चमऋषीणांशाख्यानं (२०४, २६६ पृ०) ब्रह्मणम् ।

‘अस्य’ यजमानस्य ‘इदं’ द्वियजुर्नामिष्टका कतमद् ‘रूपं’ स्वरूपमिति । रूपापेक्षया नपुंसकत्वम् । उक्तस्योत्तरं दर्शयति— “देवो वा इति । ‘सः’ हिरण्यस्यः पुरुषः ‘अस्य’ यजमानस्य देवत्वप्रयुक्तः ‘आत्मा’ शरीरम् ; यद् # द्वियजुरिष्टका मनुष्यत्वप्रयुक्त आत्मैतर्धः । हिरण्यप्रत्वात् पुरुषस्य देवशरीरत्वम्, सन्मयत्वात् द्वियजुषो मानुषशरीरात्मत्वम् प्रतिपादयति— “तद्यदित्वादिना । “देवरूपमिति । यतो देवरूपम्, अतः ‘अस्य’ यजमानस्य तद्रूपम् ‘अमृतं’ खलु ; विलापनेऽप्यविनश्वरत्वाद्द्विरण्यत्वात्तत्त्वम् । “मानुषं” होति । ‘इदं’ द्वियजुर्लक्षणा स्वरूपम् । यतो मानुषम् अतः ‘इयं सृष्टः कृता भवति’ पार्थिवो भवति, मानुषाणां पार्थिवत्वादित्यर्थः ॥ १७ ॥

द्वियजुष उपधानस्यान्वयश्चतिरेकयोर्गुणदोषप्रदर्शनेनावश्यकत्वमाह— “स यदित्वादिना । ‘अमृतं’ हिरण्यपुरुषलक्षणा मिष्टकाम् एव ‘उपदध्यात्’ । “नेमा मिति । ‘इमां’ द्वियजुर्लक्षणा मपि तदानी मेव चेदुपदध्यात्, ‘नापशियात्’ नावशेषयेत्, तद्धि मानुषशरीररूपद्वियजुरिष्टकाया अपरिशेषणात् क्षिप्रकाले एव ‘अस्मात्तोकात्’ यजमानः प्रेयात्, तस्मात्सदानो मनुषधानेनावशेषणे तु ‘अनेन’ द्वियजुर्लक्षणेन मानुषशरीरणास्मिंस्तोके यजमानः कृत्स्नम् आयुरेतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथास्या इष्टकायाः हिरण्यपुरुषसमीपे सर्वदाऽनुपधाने दोषप्रदर्शनपूर्वकम्, तन्नोपधाने गुणं दर्शयति— “स यदि-



त्वादिगा । समीपेऽनुपधाने सति असम्बन्धाद् यजमानः स्वकीयं देवरूप मनुक्रमेण 'न प्रजानीयात्' ; उपधानेन तु प्रजानीयात् ।

अथ ता मेवेष्टकां दूर्वेष्टकासंस्पर्शेनोपदध्यादित्वाह— “ता मनन्तर्हिता मिति ॥ १८ ॥

यजमानस्य हिरस्मयपुरुषो देवं शरीरम् ; द्वियजुसु मानुष मित्बुक्तम् । तयोर्मध्ये स्वयमादृष्टादूर्वेष्टकयोः उपधानेन व्यवधानात् शरीरद्वयस्यापि प्राणेन कथं मध्यवच्छेद इति यात्रिकानां प्रश्नं भवतारयति— “तदाहुरिति । ‘सन्तती’--इत्यस्यैव विवरणम्— “अश्ववच्छिन्नाविति । उक्तस्योत्तरं दर्शयति— “प्राणो वा इत्यादिना । ‘प्राणो वै स्वयमादृष्टा’ “प्राणो ह्येवैतत् स्वय मात्मन आदृष्टान्ते”--इति स्वयमादृष्टायाः प्राणत्वे मुक्तम् । “अथास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामदित्वादिना प्राणरस एव दूर्वोऽभूदित्यपि उक्तम् । सन्तनोतीत्येतदेव विवृणोति— “सन्तघातीति । अष्ट मन्यत् ॥ २० ॥

द्वियजुष उपधाने मन्त्रौ विधत्ते— “यास्ते अग्ने इति \* । “यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो”--“या वो देवाः सूर्ये रुचः”--इत्येताभ्यां † मन्त्राभ्यां द्वियजुष उपदध्यादित्त्वर्थः । मन्त्रयोः पुनःपुनः रुक्पदप्रयोगस्वाभिप्राय माह— “रुचं रुच मिति । “अस्मिन्निति , यजमाने इत्यर्थः ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २० ।

† वा० सं० १३. २२, २३ ।

मन्त्रयोस्वय मर्षः \*— “हे ‘अग्ने !’ ‘ते’ तव ‘सूर्ये’  
सूर्यमण्डले ‘याः’ ‘रुचः’ दीप्तयो ‘रश्मिभिः’ रश्मिरूपेण  
‘दिवम्’ ‘मातन्वन्ति’ सर्वतो व्याप्रवन्ति । रात्रौ या  
अग्नेर्दीप्तयः, ता एव सूर्योदयकाले सूर्यरश्मयो भवन्ति ।  
एतच्च तैत्तिरीयके अग्निहोत्रब्राह्मणे समान्नातम्— “उद्यन्तं  
वावादित्य मन्मिरनुसमारोहतीति † । ‘ताभिः’ सर्वाभिर्दीप्तिभिः  
‘नः’ अक्षत्सम्बन्धिने ‘जनाय’ यजमानलक्षणाय ‘रुचे’ कृधि  
प्रकाशं कुरु । ‘रुचे’-इति विभक्तिव्यत्ययः ‡, रुच मित्यर्थः ।  
‘नस्त्वधीति’ “अतः कृकामीत्यादिना § विसर्जनीयस्य सकारः ॥  
हे ‘देवाः !’ ‘वः’ युष्माकं सम्बन्धिन्यः सूर्यमण्डले वर्त्तमानाः ‘याः’  
‘रुचः’ दीप्तयः सन्ति, तथा ‘गोषु अश्वेषु च ‘याः’ दीप्तयः सन्ति,  
‘ताभिः’ सर्वाभिर्दीप्तिभिः हे ‘इन्द्राम्नी !’ ‘हे बृहस्पते !’ त्रयोऽपि  
यूयं ‘नः’ अक्षत्सम्बन्धिने यजमानाय ‘रुचं धत्त’ प्रकाशं  
सम्पादयतु ॥

ननु चायं मन्त्रोऽध्वर्युणा पठ्यते, ततश्च “रुचञ्चो  
धत्तेति लिङ्गेन मन्त्र सुच्चारयितुरध्वर्युरिव तत् फलं युज्यते ;

\* तयोः पाठस्त्वैवम्,—

“यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिव मातन्वन्ति रश्मिभिः ।

ताभिर्नो अद्य सर्वाऽभि रुचे जनाय नस्त्वधि ॥ २२ ॥

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।

इन्द्राम्नी ताभिः सर्वाभि रूचे न धत्त बृहस्पते ॥ २३ ॥

† तै० ब्रा० २. १. २. १० ।

‡ पा० ३. १. ८५ सू० ब्रह्मम् ।

§ पा० सू० ८. ३. ४६ ।

अतो न इति पदं किं मित्युपचरित मिति चेत्, न ;  
यजेतेत्यात्मनेपदश्रुत्या साङ्गप्रधानफलस्य यजमानगामित्वं प्रती-  
यते ; न च परिक्रान्तस्वाध्वयोर्दक्षिणातिरिक्तफलसम्बन्धो न्याय्यः ।  
तस्मा श्रुतिन्यायाभ्यां विरुद्धं तन्निष्पन्नं यजमानपरत्वेनोपचरणीयम् ।  
तस्मात्प्रयजमानेन पाठेषु “आयुर्दा अन्नेऽस्यायुर्मे देहीत्यादिषु \*  
क्रियमानानुवादिषु प्रत्यगाशीर्मन्त्रेषु श्रुतं फलं यथा याज-  
मानम्, तथैवाध्वर्युणा पाठेषु करणमन्त्रेषु श्रुतं मपि फलं  
याजमान मेव । “इत्या मित्यादिकं पूर्वं व्याख्यातम् । प्रका-  
रान्तरेषापि हित्वं प्रशंसति — “अथो ह्य मिति । द्विविधं  
रूप मस्तीति तदुपधानमन्त्रयोरपि हित्वं सुपपद्यत इत्यर्थः ।  
व्याख्यात मुत्तरं वाक्यम् ॥ २१ ॥

अथ रेतस्त्रिङ्नामधेययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते— “अथ  
रेतस्त्रिञ्चा इति । “लोपः शाकल्यस्व”-इति † वकारलोपः ।  
विहिते-इष्टके . पृथिवोद्युलोकात्मना प्रशंसति— “इमो वै लोका-  
वित्यादिना । तत्रानयोर्लोकयोः रेतस्त्रेः प्रकृत्यतिपादयिषयो-  
क्तम्— “इमो वै लोकाविति । तद्देतस्त्रेः च न मनयोः प्रत्यक्षसिद्ध  
मित्याह— “इमो ज्ञेवेति । “इतो वा अथ मित्यादिना । तदेव  
प्रत्यक्षत्वं दर्शयति— ‘अयं’ लोकः ‘इतः’ अस्मात् प्रदेशात्  
धूमलक्षणं ‘रेतः सिञ्चति’, ‘सः’ धूमः ‘असुत्रं’ द्युलोके वृष्टि-  
र्भवति । वेति स्त्रीलिङ्गं वृष्ट्यपेक्षम् । धूमस्य मेघकारणत्वात्  
तद्वारा वृष्टिकारणत्वाद् धूमो वृष्टिरिति कारणे कार्यत्वो-

\* वा० सं० ३. १७. २ ।

† पा० सू० ८. ३. १६ ।

पचारः । 'तां' वृष्टिम् 'असी' ब्रुलोकः 'अमुतः' अमुष्मात् प्रदेशात् सिञ्चति । तस्मादनयोर्लोकयोर्मध्ये वृष्टिपरिणतान्नद्वारा प्रजाः 'प्रजावन्ते' । श्रूयते हि— "अन्नाद्दे प्रजाः प्रजायन्ते"—इति \* । अन्धन्नायुक्तम्— "वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"—इति † । "तस्मादिमौ लोकी रेतस्त्रिचौ ; रेतस्त्रिचोरनयोर्लोकयोः रूपिणानुसन्धानादिष्टके अपि रेतस्त्रिचावित्युच्येते ॥ २२ ॥

तत्र प्रथमाया उपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— "विराड् ज्योति रिति ‡ । 'अयं लोकः' पृथिवी 'विराट्'-शब्देनाभिधीयते । 'सः' च 'इमम्' अस्मदादीनां प्रत्यक्ष मग्निरूपं 'ज्योतिर्धारयति' । प्रथमा रेतस्त्रिक् भ्रूलोकात्किमेत्युक्तम्, तस्मात् प्रथमरेतस्त्रि-गात्मको विराड्-शब्दाभिधेयो भ्रूलोकोऽग्निरूपं ज्योतिर्धार-यति ॥ "स्वराड् ज्योतिरिति द्वितीयोपधानमन्त्रः § । सोऽप्येव मेव व्याख्येयः ।

अनयोर्लोकयोर्विराट्-स्वराट्-शब्दाभिधेयत्व मेवोपपादयति— "विराड् च हीमाविति । विविधं राजत इति विराट् । स्वय मेव राजत इति स्वराट् । तयोः पृथक्-पृथक्-मन्त्रेषो-पधान माह— "नानोपदधातीति । यतः 'इमौ लोकौ' 'नाना' पृथक्भूतौ, तस्मात्तदात्मिकयोरिष्टकयोरुपधानं पृथक्-पृथक्-मन्त्रेष कर्त्तव्य मित्यर्थः । उपधानमन्त्रवत्त्वादनमन्त्रस्त्वपि

\* ते० आ० उप० ७. २. २ ।

† म० स० ६. ७. ६ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. २२ ।

§ वा० सं० १३. २४० ।

पार्थिव्येन प्राप्तावाह— “सन्नदिति । “तया देवतयाङ्गिरस्वद्  
ध्रुवा सोद”—इत्ययं सादनमन्त्रः \* । त मेकवार मुञ्चार्य सादयेत् ।  
न तु प्रतीष्टक मित्यर्थः । तेन तदुपधानं समानं करोति ।  
‘तस्मादनयोर्लोकयोः’ अन्ताः’ प्रान्ताः ‘समायन्ति’ परस्परं सम्बन्धा  
भवन्ति । अन्तरिक्षभागा हि पृथिवीभागैः सम्बन्धन्त इत्येतत्  
प्रत्यक्षसिद्धमेव ॥ २३ ॥

अथ तदेवेष्टकादय माण्ड्यात्मकेनापि स्तौति— “यद्देवेति ।  
अष्टशब्दात् स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः । आण्ड्याविति पुरुष-  
सम्बन्धिनी वीजे उच्येते । “यस्य आण्ड्यौ भवत इत्यादिना  
आण्ड्योः रेतस्त्रिंशत् प्रतिपादितम् । “विराड् च ङीमाविति ।  
आण्ड्योः प्रजोत्पादनसामर्थ्याद्विराड् च प्रत्यक्षसिद्ध मित्यर्थः ।  
प्रजापतिशब्देन † प्रजोत्पादन मभिधीयते । रेतसः प्रजापतेश्च प्रजा  
सम्बन्ध इति तत्प्रकाशकत्वात्प्रोतिष्ठ मित्यवगन्तव्यम् । “समान-  
सम्बन्धनाविति । एकरूपसम्बन्धनावित्यर्थः । प्रकृतयोरिष्टकयोः  
स्वानविशेष माह—“ते अनस्तर्हिते”—इति ‡ । द्वियजुषोः समीपे  
अश्ववधानेनोपधानं किमर्थं मित्यत आह— “यजमानो वा  
इति ॥ २४ ॥

रेतस्त्रिंशोरुपधानानन्तरं विश्वन्व्योतिराख्याया इष्टकाया  
उपधानं विधाय, ता मन्वात्मना स्तौति— “अथेति § । अथ-

\* वा० सं० २७. ४५ ।

† ‘प्रजापतिशब्देन’—इति, ‘प्रजापतेश्च’—इति च ह-पुरुषकीयौ पाठौ ।

‡ का० श्रौ० १७. ४. २२ ख० वृत्तिर्ब्रह्मणा ।

§ का० श्रौ० ख० १७. ४. २३ ।

माहृष्या इव विश्वज्योतिषोऽपि तिस्रो विद्यन्ते, अतोऽच \*  
 प्रथमेति विशेषणम् । अस्मिन् लोके 'भुवि' यत्, किञ्चन  
 ज्योतिरस्ति, तत् सर्वं मग्निमय मेवेति । अग्निर्विश्व-  
 ज्योतिरिति तदात्मकत्वेनानुसन्धानादिष्टकापि 'विश्वज्योतिः';  
 अतस्तदुपधाने अग्नि मेवोपहितवान् भवति । विधत्ते—  
 "ता मनन्तर्हिता मिति । 'तां' विश्वज्योतिषं 'रेतस्मिन्गभ्याम्'  
 'अनन्तर्हिताम्' अव्यवहितां तत्संस्पर्शेनोपदध्यात् । तथा सति  
 रेतस्मिचोः पृथिवीद्युलोकामकत्वात् ताभ्या मव्यवहित मेव  
 'अग्निं दधाति' । क्वचित् पार्श्वेऽपि तत्संस्पर्शेनोपधाने अव्यवधान  
 मुपपद्यत इत्यत आह— "अन्तरेवेति । "अन्तरेव हीति ।  
 "अन्तरा इवेति पदविभागः । इवशब्द एवकारार्थः । "अन्त-  
 रान्तरेच युक्ते"—इत्यनेन † इमाविति द्वितीया । अनयोर्लोकयो-  
 र्मध्ये पृथिव्या उपरि अन्तरिक्षे खल्वग्निः प्रकाशते ; तस्मात्  
 मध्यत उपधानम् ॥ २५ ॥

अथैता मिष्टकां प्रजात्मना प्रशंसति— "यद्देवेति । 'प्रजा  
 हि विश्वज्योतिः' यतः प्रजा ज्ञानशक्त्या सर्वान् पदार्थान्  
 प्रकाशयति, तस्मात् प्रजा विश्वज्योतिरित्येतदपरोक्षम् ; अतः  
 प्रजा विश्वज्योतिः । तथा सति एतदिष्टकोपधानेन प्रजननं  
 प्रजोत्पादन मेवोपहितवान् भवति । प्रजायाः प्रजोत्पादनस्य  
 च कार्यकारणभावादभेदविवक्षयैव मुक्तम् । रेतस्मिचोराण्डत्वाद्,  
 विश्वज्योतिषश्च प्रजात्वात्, ताभ्या मव्यवहितत्वेन मध्यत

\* 'अतोऽच'—इत्येतन्नास्ति क-पुस्तके ।

† पा० सू० २. ३. ४ ।

उपधाने प्रजोत्पादनमेवाश्रयोर्निहितं भवतीति दर्शयति— “ता मनन्तर्हिता मिति । “अन्तरेव ज्ञाण्डाविति । आश्रयोर्मध्यतः ‡ एव रेतोनिर्गमनहारत्वात्, तत एव ‘प्रजाः प्रजायन्ते’ ॥ २६ ॥

अथ तस्मिन्नुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “प्रजापति-  
द्वेत्सादिना † । यतः ‘प्रजापतिरेतां प्रथमां चिति मपश्यत्’,  
अतः प्रथमां विश्वज्योतिषं “प्रजापतिद्वा सादयत्”—इति ‡; मन्त्रेण  
उपदध्यादित्यर्थः । “पृष्ठे ज्ञय मिति । ‘पृथिव्यै’—इति, षष्ठ्यर्थे  
चतुर्थी § । यतश्च पृथिव्याः ‘पृष्ठे’ उपरि ‘अग्निज्योतिषान्’ विश्व-  
ज्योतिषान्निरित्युक्तम्— “अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योति रिति ॥ ;  
अतः “पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिषतीम्”—इति ¶ मन्त्रवचनम् ॥ २६ ॥

“प्राणो वा इति । विद्यमाने एव प्राणे सर्वेषा मिन्द्रियाणां  
स्व-स्व-विषयप्रकाशकत्वात् प्राणस्य विश्वज्योतिषम् । “सर्वस्या उ  
वा एतस्मै”—इति । सर्वस्य स्वस्वेतस्य लोकस्य । पूर्ववच्चतुर्थी ‡‡ ।  
प्राणः आशांसो †† भवतीति शेषः । अपानो व्यानश्चेति प्राण  
एव वृत्तिभेदभिन्नः ; प्राणस्य विश्वज्योतिषात् । ‘विश्वस्मै’ सर्वस्य  
लोकस्य प्राणादित्यैर्याचं तवोपधान मिति मन्त्रभाग आह । “सर्वं  
ज्योतिरिति विश्वशब्दार्थविवरणम् । “अग्निष्टेऽधिपतिरिति”—

\* ‘आश्रयोर्मध्यै’—इति छ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. २३ ।

‡, ¶ वा० सं० १३. २४. २ ।

§, †† पा० सू० २. ३. ६२. वा० १ ।

॥ इहेव पुरस्तात् २५ कञ्जी ( २८७ पृ० ) द्रष्टव्या ।

†† ‘आश्रयो’—इति छ ।

एतन्नग्नभागकथनेन 'अग्नि मेव' 'अस्याः' विश्वज्योतिषः 'अधि-  
पतिं करोति' ।

हे विश्वज्योतिः ! पृथिव्याः पृष्ठे 'ज्योतिष्मतीं' ज्योतिषा  
युक्तां त्वां 'प्रजापतिः' 'सादयतु' स्थापयतु । किमर्थं मिति  
तत्राह— 'विश्वञ्चै' विश्वस्य, सर्वस्य लोकस्य 'प्राणाय अपानाय  
व्यानाय' प्राणादिव्यापारार्थम् । किञ्च 'विश्वं' समस्तं 'ज्योतिः'  
तेजो 'यच्छ' नियच्छ, अस्मादायत्तं कुरु । 'ते' तव 'अग्निः अधि-  
पतिः', अतः स त्वां 'परेभ्यो नोपायस्त्विति, कृत्स्नमस्मार्थः ॥ २८ ॥

अथ ऋतव्याख्ययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते— "अथेति \* ।  
'ऋतव्ये'—इति "वाङ्मृतुपितृषसो यत्"—इति † देवतार्थे यत्  
प्रत्ययः । "यच्च भम्"—इति ‡ भ सञ्ज्ञायाम् "सोर्गुणः"—इति §  
गुणः, "वान्तो यिप्रत्यये"—इति ॥ अवादेशः । ऋतुदेवत्येष्टको  
पधानेन ऋतूना मेवोपधानं भवतीत्याह— "ऋतव एत इति ।

ऋतव्ययोरुपधाने मन्त्रं विधाय ११ व्याचष्टे— "मधुञ्चेति \*\* ।  
मधुमाधवशब्दाभ्यां चैत्रवैशाखावुच्येते । "वासन्तिकाविति, "वस-  
न्ताश्च"—इति †† ठञ्-प्रत्ययः । ऋतुशब्दो मासद्वये मुख्यः, अत्र

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २४ ।

† पा० सू० ४. २. ३१ ।

‡ पा० सू० १. ४. १८ ।

§ पा० सू० ६. ४. १४६ ।

॥ पा० सू० ६. १. ७६ ।

१ का० श्रौ० सू० १७. ४. २५ ।

\*\* वा० सं १३. २५ ।

†† पा० सू० ४. ३. ३० ।



तदवयवभूते मासे उपचाराद् वर्त्तते । मधुश्च माधवश्चेत्येती वसन्त-  
सम्बन्धिनी 'ऋतू' मासी ; अतश्च तद्देवत्वत्वेन तदात्मिके वा  
मुपदधामि इत्यर्थः । "नामनी"-इत्यादिना मधुमाधवशब्दो-  
पयोगं दर्शयति । ननु स्वयमाहृत्त्वादिवदेकैकस्या इष्टकाया  
उपधानं विज्ञाय, किं मिति ह्योरुपधान मिति तथाह— "हे  
इष्टके इति । इष्टकयोर्हित्वेऽपि सकृन्नादनेनैक मेव ऋतुं  
सम्पादयतीत्याह— "सकृदिति ॥ २६ ॥

प्रथमायां चितौ तद्रूपधानस्य कारण माह— "तद्यदित्वा-  
दिना । 'एते' ऋतव्ये 'अथ' प्रथमायां चितौ 'उपदधाति'-इति  
यत्, तन्न कारणं मुच्यते— 'एषः' चीयमानः 'अग्निः' 'संवत्सरः'  
संवत्सरात्मकः । अग्नेः संवत्सरात्मकत्वं संवत्सरं सुखायां सन्भृत्वो-  
त्पादनीयत्वाद् । चीयमानस्वाम्नेः प्रजापतिरूपत्वं प्रागुक्तम्—  
"स यः प्रजापतिर्व्यसंसत, अथ मेव स योऽय मग्निचीयत  
इति \* । 'सः' प्रजापतिः सर्वलोककारणत्वेन तदात्मकः । "संव-  
त्सर एषोऽग्निरिति । तस्य संवत्सरात्मकत्वोक्तेः संवत्सरः 'इमे  
लोकाः' खलु । "तस्येति । 'तस्य' संवत्सरान्निर्गम्यलोकान्निर्गम्य  
प्रजापतेः । 'अथ मेव लोकः' पृथिवी । प्रथमा चितिः, वसन्त  
ऋतुश्च, प्राथम्यसादृश्याद् 'अस्य' संवत्सरात्मकस्य 'प्रजापतेः' अव-  
यवभूतः 'अयं' लोकः ; अतश्चात्र प्रथमायां चितौ 'एते' ऋतव्ये  
वसन्तर्तुदेवत्वत्वेन तदात्मिके, उपदधातीति यत्, तेन यदेव  
'अस्य' प्रजापतेः 'आत्मनः' स्वस्य 'एतद्' इष्टकाद्यत्मकं

\* इहैव पुरस्ताद् चतुर्थो कण्ठो ( २०६, १० ) द्रष्टव्यः ।

यदङ्ग मस्ति, तद् 'अस्मिन्' अवयवे प्रथमचितिलक्षणे 'एतत्' एतेन पुनः 'प्रतिदधाति' \* ; तस्मादेते प्रथमायां चित्तावुप-  
दध्यात् ॥ ३० ॥

अथ पुनस्ते एव ऋतव्ये प्रजापतेः प्रतिष्ठात्मनापि स्तौति—  
“यद्देवैते इति । “प्रतिष्ठो अस्य वसन्त ऋतुरिति । ‘प्रतिष्ठा  
उ’ इति पदविभागः । “आहुणः” †, उकारस्य “निपत्त एका-  
जनाङ्”—इति ‡; प्रगृह्यसञ्ज्ञायाम् “भूतः प्रगृह्या अचि”—इति §  
प्रकृतिभावात् “प्रतिष्ठो अस्येति । “एङ्; पदान्तादिति”—इति ॥  
पररूपत्वं न भवति । वसन्तर्त्तौः संवत्सरप्रथमावयवत्वात् प्रति-  
ष्ठात्वम् । यथावयवे प्रतितिष्ठति, सा प्रतिष्ठा । यथा पुरुषः  
पदयोः प्रतितिष्ठति, तद्वत् संवत्सरोऽपि वसन्तर्त्तौ प्रतितिष्ठति ।  
प्रथमायाश्चित्तसु उत्तरचितिलक्षणान् प्रजापतेरवयवान् प्रत्या-  
धारत्वात् प्रतिष्ठात्वम्; अतश्च प्रथमायां चित्तौ प्रकृतयो-  
रिष्टकयोरुपधाने प्रजापतेः स्वस्य वसन्तर्त्तुदेवत्वत्वेन तदात्मकै-  
तदिष्टकाहयलक्षणं यत् प्रतिष्ठारूप मङ्ग मस्ति, तदस्मिन्नेतेन  
प्रतिनिहितवान् भवतीत्यर्थः ॥

अथानयोरिष्टकयोरुपधानस्य स्थानविशेषं विधाय प्रशं-  
सति— “ते अनन्तर्हिते इति । “अनन्तर्हितास्तदिति । ‘तत्’

\* 'प्रदधाति'—इति ज ।

† पा० सु० ६. १. ८७ ।

‡ पा० सु० १. १. १४ ।

§ पा० सु० ६. १. २५ ।

॥ पा० सू० ६. १. १०६ ।

तेन 'प्रजाः' 'ऋतुभ्यः' 'अनन्तर्हिताः' अव्यवहिताः 'दधाति', ऋतुषु प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः । तदेव दर्शयति— "तस्मादिति । यत एवं तस्मात् 'प्रजाः' 'ऋतून्नेव' अभिलक्ष्य 'प्रजायन्ते' 'गर्भे सन्तं' गर्भेऽपि विद्यमानं 'जन्तुम्' ऋतुभिर्द्धेव 'सम्पश्यन्ति' । ऋतूनां कालात्मकत्वात्, कालस्य च सदातनत्वेन सर्वोत्पत्ति-मन्त्रिमितत्वाद्, अजातावस्था, जायमानावस्था, जातावस्था च तत्रैव सम्बन्धन्त इति भावः ॥ ३१ ॥

विधत्ते— "अथेति \* । 'अथ' ऋतुष्वेष्टकोपधानानन्तरम्, अषाढाभिधा मिष्टका सुपदध्यात् । अषाढायाः सृष्टयेष्टकात्वात् तदुपधाने पृथिव्युपधानं मेव सम्पादितम् भवतीत्याह— "इयं वा इति । तस्या अषाढाया उपधानम् चयनखलस्य पूर्वभागे कर्त्तव्यं मित्याह— "तां पूर्वाहं इति । ननु किमर्थं मखाः पूर्वाहं उपधानं मिति तत्राह— "प्रथमेति । 'इयम्' अषाढा, उखायाः 'प्रथमा' पूर्वा 'असृज्यत' खलु ॥ ३२ ॥

प्रज्ञताया इष्टकायाः अषाढेतिनामधेयप्राप्तिप्रदर्शनपूर्वकं सुप-धानोपयोगं दर्शयति— "सा यदषाढा नामित्वादिना । पुरा खलु 'देवासासुराश्च' 'प्राजापत्याः' प्रजापतेरपत्यभूताः । पत्युत्तरपदत्वाद् "दित्वादित्वेत्वादिना †' अपत्यार्थे खल-प्रत्ययः । 'ते' एते उभये ऽपि अर्था मज्जुर्वन् । ततः 'ते द्वेवाः' केनोपायेनासुरान् जयेमिति विचार्य, 'एताम्' अषाढाभिधाम् 'इष्टकां' तदुपायत्वेन 'अप-सृजन्' । इहा च 'ता मिमाम्' इष्टका सुपद्विगमन्तः । ततः 'ता

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २५ ।

† पा० सू० ४. १. ८५ ।

मुपधाय 'असुरान्' 'सपन्नान्' वैरिणः, 'भ्रातृव्यान्'-इति सपन्न-  
शब्दार्थविवरणम् । भ्रातृशब्दाद् "व्यन् सपन्ने"-इति \* सपन्नार्थे  
व्यनो विधानात् । तानसुरान् 'अस्मात् सर्वस्मात्' स्थानाद् 'अस-  
हन्त' निराकुर्वन्, यथेषु लोकेषु अवस्थानं न लभन्ते, तथा पर्यबी-  
भवन्त्वित्यर्थः । यत एतया असुरानसहन्त, 'तस्मादषाढा'-इति  
नामधेयम् । अत्रासुराणां सहनकथनेन स्वेषा मसहन् मर्धतः  
प्राप्तम्; अतश्चेतस्या इष्टकायाः स्वेषा मसहन् प्रत्यपि कारण-  
त्वादसहनसाधनत्वेनाषाढेत्युच्यते । "साव्यै साढा साढेति निगमः"  
-इति † 'साढा'-शब्दो निपातितः, ततो नञ्समासः, व्यत्ययेन  
मूर्धन्यादेशः । "तथैवेतदिति । यथैव देवा अषाढा मुपधाय  
असुराभिराकुर्वन्, 'तथैव' 'यजमान एता मुपधाय' 'द्विषन्तम्'  
द्वेषं कुर्वन्तम्, 'भ्रातृव्यम्' अस्मात् सर्वस्मात् 'प्रदेशाभिरा-  
कुर्वते' ॥ ३३ ॥

अथैता मेवेष्टकां वागात्मनापि प्रशंसति ‡—"यद्देवेति । "वा-  
चैव तद्देवाः"-इत्यादिना अषाढाया वाग्रूपत्वं § प्रतिपाद्यते । यतो  
देवा निर्भर्त्सनादिविशिष्टया 'वाचैव' 'असुरानसहन्त', तस्माच्चिरा-  
करणसाधनत्वसाधर्म्यादषाढा वाक् स्वत्वित्यर्थः । "तथैवेति ।  
यतो देवाः वाचा असुरान् असहन्त, ततो देववदेव 'यज-  
मानः' अपि 'वाचैव द्विषन्तं भ्रातृव्य मस्मात् सर्वस्मात् सहते' ।

\* पा० सू० ४. १. १४५ ।

† पा० सू० ६. ३. ११३ ।

‡ 'प्रशंसति'-इति ७ ।

§ 'वाग्रूपवाद्योक्तं'-इति ७ ।

यतः अषरटा उक्तन्यायेन वागात्मिका, अत एतेन अषाढो-  
पधानेन 'वाच मेव उपादधत देवाः', 'तथैव' 'यजमानः'  
'वाच मेवोपधत्ते' ॥ ३४ ॥

यदुक्तं मियं वा अषाढेत्यषाढायाः पृथिव्यात्मकत्वम् \* ,  
तदुपजीव्यास्या अषाढाया इष्टकायाः 'वामभृत्'-सञ्ज्ञाप्राप्तिं  
दर्शयति— "सेय मिति । 'वामं' वननीयं वस्तु ; 'प्राणाः'  
सर्वैराशास्त्रमानत्वात् 'वामं' वस्तु । 'यत् किञ्च' 'प्राणीयं'  
प्राणवत् अर्थजातं मस्ति, 'तत् सर्वम्' 'इयं' पृथिवी 'विभर्ति'  
स्रुत्तु । अतश्च वामशब्देन प्राणाना मभिधानात्, प्राणानां तदतां  
चाभेदविवक्षया 'इयं' पृथिवी 'वामभृत्'-सञ्ज्ञेति तदामिका-  
प्यषाढा वामभृत्-सञ्ज्ञेत्यर्थः । "वाग्वा अषाढेति यदुक्तं वागा-  
त्मत्वकम् †, तदप्युपजीव्येतस्सञ्ज्ञालाभ म.इ-- "वाग्घ  
त्वेवेति । "वाचि वा"-इत्यत्र वाक्शब्देन वागिन्द्रियत्वानं  
मुखं लक्ष्यते, प्राणानुविधायित्वात् प्राणशब्देन च श्रोत्रादीनी-  
न्द्रियाणि, प्राणेभ्योऽर्थे वाचि मुखे अन्नं 'धीयते' निधीयते ।  
"तस्माद् वाम्बामभृदिति । तदामिकाषाढापि वामभृदित्य-  
भिधीयते ॥ ३५ ॥

सेय मित्वादिनोक्तप्रकारेण निष्पन्नं मर्थं माह— "त एत  
इति । सेय मित्वादिना अषाढाया आधिभौतिकप्राणात्मकत्व  
मुक्तम्, वाग्घ त्वेवेत्यादिना तु आध्यात्मिकप्राणात्मकत्वम् ।  
ततश्च अषाढेति यदेवा, 'ते सर्वे प्राणाः' आध्यात्मिकत्वा-

\* इहैव परस्मात् ३२ कण्ठी ( २८६ पृ० ) दृश्यते ।

† पुरस्मात् ३३ कण्ठी ( २८६ पृ० ) दृश्यते ।

धिभौतिकत्वादिभिर्देनोभयविधा अपि प्राणा इत्यर्थः । \* 'त एते'  
-इति 'प्राणाः'-इत्येतदपेक्षया लिङ्गवचने । उक्त मृषाढाया  
उभयविधप्राणात्मकत्व सुपजीव्य , तस्याः पूर्वभागे उपधान  
सुपपादयति— "तां पूर्वाहं इति । 'तस्मादिति । 'पुरस्तात्'  
पूर्वभागे इत्यर्थः । "इमे"-इति अभिनयेन निर्देशः । 'तस्मात्'  
पूर्वाहं उपधानात् मुखे 'इमे प्राणाः' अवतिष्ठन्त इति शेषः ।  
अषाढायाः पूर्वभागे मन्त्रवत्या इष्टकाया उपधानं निवारयति  
— "तां नान्वयेति । 'पुरस्तात्' 'ताम्' मृषाढां 'प्रति' 'अन्यथा'  
मन्त्रवत्या इष्टकयोपधानं 'न' सम्पादयेत् । 'एतस्यां चित्ता-  
विति । तत्र हेतुरुच्यते— "नेदिति , निपातः परिभये  
वर्त्तते \* । अषाढायाः प्राणात्मकत्वाद् एतस्यां प्रथमायां चित्तौ  
तस्याः पुरस्तात् मन्त्रवदिष्टकोपधाने तद्व्यवधानात् 'प्राणान्'  
एव अपिहितवान् भवतीति परिभयेन नोपदध्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

ननु यदि समन्त्रकाणां मिष्टकानां सुपधाने प्राणापिधानम्,  
तर्हि अपस्थानां मन्त्रविशिष्टानां मिष्टकानां सुपधानेन तत्  
कक्षात् भवतीत्यत आह— "यदपस्वा इति । अपस्थाना  
मन्त्रात्मकत्वं तद्विधायकब्राह्मण्येऽभिधास्यते † । आपषान्नात्मिकाः ;  
तत्कारणत्वात् । अत्रेन तु प्राणानां अपिधानं न सम्भवति ;  
असुपजीवित्वात् प्राणानाम् । अतश्चात्मात्मकत्वादपस्थानां  
समन्त्रकाणां मय्युपधानं न विरुध्यत इति भावः । अथ तस्या  
उपधानं सूतश्चयोः समीपे विधाय स्तीति— "ता मनन्तर्हिता

\* "नेति एष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये"—इति निरु० १. ३. ६ ।

† इहेवोपरिष्ठाद् पश्चमे ब्राह्मणे १०. कक्षिकायां इष्टत्वं भविष्यति ।

मिति । 'स्येयं वाच्यतुषु प्रतिष्ठिता वदतीति । ऋतुष्ववस्थितेषु प्राणिषु प्रतिष्ठिता वदतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

“प्रजा वै विश्वज्योतिरिति विश्वज्योतिषः प्रजात्व सुक्तम् , “वाच्या अषाढेति अषाढाया वाक्त्रं प्रतिपादितम् , ततश्च विश्वज्योतिषः समीपे अषाढाया उपधाने सति प्रजासु वागुपहिता भवति ; तदकृत्वा तयोर्मध्ये किमर्थं ऋतव्ययोरुपधानं कृतमित्याशङ्क्य तत्कारणं माह— “तदाहु रिति । “संवत्सरो वा ऋतव्ये इति । “ऋतव एते यदृतव्ये इति ऋतव्ययोः ऋत्वाक्-कक्षात्, सम्भूय सर्वेषां सृत्नां संवत्सरात्मकत्वात्, ऋतव्ये संवत्सरः । ततश्च ऋतव्ययोरन्तरोपधाने संवत्सरेण प्रजाभ्यो वाचं व्यवहृतां करोति । ‘तस्मात्’ इदानीं सुत्यप्तेरुपरि ‘संवत्सरवेलायां’ संवत्सरे गते सति पश्चात् ‘प्रजाः वाचं प्रवदन्ति’ ॥ ३८ ॥

प्रकृताया इष्टकाया उपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— अषाढाशीत्वादिना \* । यतो ‘देवाः’ ‘एतया’ इष्टकया ‘असुरान्’ ‘असहन्त’ निराकुर्वन् ; अतः सहनसाधनत्वाद् “अषाढाशीति मन्त्रं आह । “सहस्रवीर्याशीत्वात् सहस्रशब्देनापरिमितसङ्ख्या विवक्षितेति दर्शयति— “सर्वे वै सहस्र मिति । हे इष्टके ! त्वं ‘सहस्रानां’ असुराणां निराकर्त्री ; अतो नाच्या अषाढासि । तस्मात् ‘अरातीः’ अदानशीलान् (अपून् †) ‘सहस्र’ परिभावय । किञ्च ये पूर्वं विरोधिना न भवन्ति, इतः परम् ‘दृतनां’ सहस्रं मिच्छन्ति, ते ‘दृतनायतः’ । दृतनाशब्दा-

\* वा० सं० १३. १६ ।

† नास्तीत्यत् परं ऋ-पुस्तके ।

दाकारलोपाभावश्चाहसः । तानपि परिभावय । किञ्च त्वं  
'सहस्रवीर्यासि' अपरिमितवीर्यविशिष्टा \* भवसि । अनेन शत्रु-  
निराकरणसामर्थ्यं सुपपादितम् भवति । तादृशी 'सा' मं 'जिन्व'  
ग्रीषीहीति मन्वार्थः ॥ ३८ ॥

अथ दूर्वेष्टकादीनां स्वयमाढसायाः प्राग्भागे उपधाने  
कारणं माह— “तदाहुरिति । ‘अभि स्वयमाढसान्’ अभिलक्ष्य,  
स्वयमाढसाया उपरि भागे इत्यर्थः । “लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये”  
—इत्यव्ययीभावसमासः † । ‘अन्या इष्टकाः’ उपरि वक्ष्यमाणाः  
'उपधीयन्ते' 'एताः' दूर्वेष्टकादयस्तस्याः 'प्राञ्च उपधीयन्ते'—  
इति यदस्ति, तत्रोत्तरं माह—“हे वै योनी”-इति । 'देवयोनिः'  
'अन्यः', 'मनुष्ययोनिः अन्यः', इति यदुक्तं मन्यत्वम्, तदाह—  
“प्राचीनेति । 'प्राचीने भागे' पूर्वभागे 'प्रजननम्' उत्पत्तिः,  
तत्कारणं वा येषां ते तद्योक्ताः ; 'मनुष्याः' तु 'प्रतीचीनप्रजननाः'  
ततश्च 'एताः' इष्टकाः स्वयमाढसायाः 'प्राचीः' प्रागपवर्णाः  
'उपदधाति'-इति यत्, तेन 'देवयोनिरेव' 'एतत्' एनं 'यज-  
मानम्' 'प्रजनयति' उत्पादयति । दूर्वेष्टकादीनां सुत्तरोत्तर-  
पूर्वभावेन उपधानं कात्यायनेनोक्तम्— “पूर्वान्-पूर्वा सुत्त-  
राम्”—इति ‡ ॥ ४० ॥ २ [४. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थोऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* 'अपरिमितसङ्गाकवीर्यविशिष्टा'—इति क ।

† पा० क० २. १. १४ ।

‡ का० औ० क० १७. ४. १६ ।



वेदार्थस्य प्रकाशिन तमो ह्यर्हं निवारयन् ।  
सुमर्यांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूर्व्वी स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसीवर्णभ्रूमीः ।  
रत्नोत्सां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ ,  
व्यश्राणोद्विश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णसुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।  
आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्वृणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मज्जत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

संयन्त्राचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे तृतीयप्रपाठकश्च समाप्तः † ॥

\* अथत्वाष्टीप्यन्वः पञ्चमकाण्डोयद्वितीयाध्यायीन्ते दृष्टव्याः ।

† अथ ३ ब्रा० ४५ क० , २ ब्रा० ४० क ; सङ्कलनयाच  
तृतीयप्रपाठकीयदयोर्ब्राह्मणयोः ५५ कण्डिकाः श्रुता इति ।

अथ

चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

कूर्मं मुपदधाति । रसो वै कूर्मीं रस मेवैतदु-  
पदधाति यो वै स एषां लोकानां मसु प्रविह्वानां  
पराङ् रसोऽत्यक्षरत्स एष कूर्मस्तु मेवैतदुपधाति या-  
वानु वै रसस्तावानात्मा स एष इमऽएव लोकाः \*  
॥ १ ॥

तस्य यदुधरं कपालम् । अथ स लोकस्तत्  
प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकोऽथ  
यदुत्तरं सा दौस्तद्व्यवृहीतान्त मिव भवति  
व्यवृहीतान्तेव हि दौरेयं यदन्तरा तदन्तरि च

\* 'लोकाः' इति ग, घ ।

स एष इमऽएव लोका इमानिवैतन्नोकानुपदधाति  
॥ २ ॥'

तु मभ्यनक्ति । दध्ना मधुना घृतेन दधि हैवास्य  
लोकस्य रूपं घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य खेनैवैन-  
मेतद्रूपेण समर्हयत्यथो दधि हैवास्य लोकस्य रसो  
घृतमन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य खेनैवैनमेतद्रूपेण समर्ह-  
यति \* ॥ ३ ॥

मधु ज्वाता ऋतायत ऽवृत्ति । यां वै देवता मृग-  
भ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सऽक्सो देवता तद्य-  
जुस्तद्वैतन्मञ्जैवेषु त्रिषो रसो वै मधु रस मेवा-  
स्मिन्नैतद्वधाति गायत्रीभिस्त्रिभस्त्रिस्तस्योक्तो बन्धुः  
॥ ४ ॥

स यत् कूर्मी नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजा-  
पतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्  
तस्मात् कूर्मः काश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः  
प्रजाः काश्यप्य इति ॥ ५ ॥

\* 'समर्हयति'—रति ख ।

स यः स कूर्मोऽसौ स षादित्यः । अमु मेवै-  
 तदादित्य मुपदधाति तं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मुपदधा-  
 त्यमुं तदादित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं दधाति तस्माद-  
 सावादित्यः पुरस्तात् प्रत्यङ् धीयते दक्षिणतोऽषा-  
 ढायै वृषा वै कूर्मो योषाषाढा दक्षिणतो वै वृषा  
 योषा मुपश्रितेऽरन्निमात्रेऽरन्निमात्राच्च वृषा योषा  
 मुपश्रिते सैषा सर्वासा मिष्टकानां मृष्टिषी यदृषाढै-  
 तस्यै दक्षिणतः सन्त्सर्वासा मिष्टकानां दक्षिणतो  
 भवति ॥ ६ ॥

यद्देव कूर्मं मुपदधाति । प्राणो वै कूर्मः प्राणो  
 हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति प्राण मेवैतदुपदधाति  
 तं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मुपदधाति पुरस्तात्तत् प्रत्यञ्चं  
 प्राणं दधाति तस्मात् पुरस्तात् प्रत्यङ् प्राणो धीयते  
 पुरुष मभ्यावृत्तं यजमाने तत् प्राणं दधाति दक्षि-  
 णतोऽषाढायै प्राणो वै कूर्मो व्यागृषाढा प्राणो वै  
 व्याचो वृषा प्राणो मिथुबन् ॥ ७ ॥

अपां गुह्यं गृहीदिति । एतद्वापां मृन्निष्ठं यच्चैष  
 एतत्तपति मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन् माम्निर्वैश्वानर

इति मैत्र त्वा सूर्यो हिंसीन् मो ऽग्निर्वैश्वानर  
 इत्येतद्दृष्टिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वेतीमा वै सर्वाः  
 प्रजा या इमा इष्टकास्ता अरिष्टा अनार्ता अनु-  
 वीक्षस्वेत्येतदनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचता मिति  
 यथैवेन दिव्या वृष्टिरनुसचेतैव मेतदाह ॥ ८ ॥

अथैन मेजयति । चीनसमुद्रान्समसृपत्  
 स्वर्गानिती मे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकास्तानिषु  
 कूर्मी भूत्वानुसृससर्पापां पतिर्बृषभ इष्टकाना  
 मित्यपां छेष पतिर्बृषभ इष्टकानां पुरीषं  
 व्यसानः सुकृतस्य लोक ऽइति पशवो वै पुरीषं  
 पशून् वसानः सुकृतस्य लोक इत्येतत् तत्र गच्छ  
 यत्र पूर्वे परेता इति तत्र गच्छ यत्रैतेन पूर्वे  
 कर्मण्येयुरित्येतत् ॥ ९ ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इति । महती द्यौः  
 पृथिवी च न इत्येतदिमं यज्ञं मिमिक्षता मितिमं  
 यज्ञं मवता मित्येतत्पृतां नो भरीमभिरिति  
 बिभृतां नो भरीमभिरित्येतद् द्यावापृथिव्ययोस्तमयो-  
 पदधाति द्यावपृथिव्यो हि कूर्मः ॥ १० ॥

त्रिभिरुपदधाति । त्रय इमे लोका अथो विष्टु-  
दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मितदुप-  
दधाति विभिरभ्यनक्ति तत् षट् तस्योक्तो बन्धु-  
रवका अधस्ताङ्गवन्धुवका उपरिष्ठादापो वा अत्रवका  
अपा मेवैन मेतन्मध्यतो दधाति सादयित्वा सुद-  
दोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥ ११ ॥

अथोलूखलमुसले ऽउपदधाति । त्रिष्णुरका-  
मयतान्नादः स्या मिति स एते ऽदृष्टके ऽअपश्यदुलू-  
खलमुसले ते ऽउपाधत्त ते ऽउपधायान्नादो ऽभवत्तथै-  
वैतद्यजमानो यदुलूखलमुसले ऽउपदधाति येन  
रूपेण यत् कर्म कृत्वा त्रिष्णुरान्नादोऽभवत्तेन रूपेण  
तत् कर्म कृत्वान्नादोऽसानीति तदेतत्सर्वं मन्त्रं यदु-  
लूखलमुसले ऽउलूखलमुसलाभ्यां ऽष्टौवाक् क्रियत  
ऽउलूखलमुसलाभ्या मद्यते \* ॥ १२ ॥

ते रेतस्त्रिचोर्ध्वलयोपदधाति । पृष्टयो वै रेतः-  
सिचौ मध्यं मु पृष्टयो मध्यतं एवास्मिन्नेतदन्नं दधा-

\* 'मद्यते'-इति च, च ।

शुत्तरे ऽउत्तर मेवास्मादेतद्ग्नं दधात्यरन्निमात्रेऽरन्नि-  
मात्राद्यान्न मद्यते ॥ १३ ॥

प्रादेशमात्रे भवतः । प्रादेशमात्रो वै गर्भी  
श्विष्युरन्न मेतदात्मसम्भित मेवास्मिन्नेतद्ग्नं दधाति  
यद् वा ऽपात्मसम्भित मन्नं तदवति तन्न हिगस्ति  
यद्ग्नो हिगस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति ॥ १४ ॥

श्रीदुम्बरे भवतः । जग्र्वे रस उदुम्बर जर्ज्वं  
मेवास्मिन्नेतद्ग्नं दधात्यथो सर्ज्वं ऽएते व्वनस्पतयो  
यद्दुम्बर एते ऽउपदधत् सर्ज्वान् व्वनस्पतीनुपद-  
धाति रेतस्त्रिचोर्ध्वलयेमे वै रेतस्त्रिचावनयोस्तद्वन-  
स्पतीन् दधाति तस्मादनयोर्ध्वनस्पतयश्चतुःसक्ति  
भवति चतस्रो वै दिशः सर्ज्वान् तद्दिशु व्वन-  
स्पतीन् दधाति तस्मात् सर्ज्वान् दिशु व्वनस्पतयो  
मध्ये सङ्गृहीतं भवत्युलूखलरूपतायै ॥ १५ ॥

यद्देवोऽलूखलमुसले ऽउपदधाति । प्रजापते-  
र्विचक्षात् प्राचो मध्यत उदचिक्रमिषत् मन्नेना-  
यज्ञात् तस्मात् प्राचो ऽग्नेन गृहीतो यो चोवात्र  
मत्ति स प्राचिति ॥ १६ ॥

प्राचे गृहीते ऽस्माद्गुणमुदचिन्न मिषत्तत् प्राचेना-  
गृह्णात् तस्मात् प्राचेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति  
सोऽन्न मत्ति ॥ १७ ॥

एतयोरुभयोर्गृहीतयोः । अस्माद्गुणमुदचिन्नमि-  
षत्ता मेताभ्या मुभाभ्या मगृह्णात् तस्मादेताभ्या  
मुभाभ्यामूर्गं गृहीता यो ह्येवान्न मत्ति स प्राणिति त  
मूर्क्षयति ॥ १८ ॥

जर्जि गृहीतायाम् । अस्मादेते ऽउभे ऽउदचिन्न-  
मिषतां ते ऽजर्जागृह्णात् तस्मादेते ऽउभे जर्जा  
गृहीते यत् ह्येवोर्क्षयति स प्राणिति सोऽन्न मत्ति  
॥ १९ ॥

तान्येतान्यन्योऽन्येन गृहीतानि । तान्यन्यो-  
ऽन्येन गृहीत्वात्मन् प्रापादयत तदेतद्गन्नं प्रपद्य-  
मानः सूर्वे देवा अनुप्रापद्यन्तान्नजीवनं षीदत्  
सूर्वम् ॥ २० ॥

तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः । तदै स प्राणो ऽभव-  
दिति तद्धि स प्राणो ऽभवन् महा भूत्वा \* प्रजापति-

§ 'महात्' 'भूत्वा'—इति क, ख । इत् 'च वेवस्महोदधेनापि ।



रिति महान् हि स तद् भवद्यदेन मेते देवाः  
 प्रापद्यन्त भुजो भुजिष्या व्वित्वेति प्राणा वै भुजो  
 ऽन्नं भुजिष्या एतत् सर्व्वं व्वित्वेत्येतद्यत् प्राणान्  
 प्राणयत् पुरीत्यात्मा वै पूर्य्यद्दे प्राणान् प्राणयत्  
 तस्मात् प्राणा देवा अथ यत् प्रजापतिः प्राणयत्  
 तस्माद् प्रजापतिः प्राणो यो वै स प्राण एषा सा  
 गायत्र्यथ यत् तद्ब्र मेघ स व्विष्णुर्देवताथ या सो  
 ऽर्गेष स उदुम्बरः \* ॥ २१ ॥

सो ऽब्रवीत् । अयं व्वाव मा सर्व्वस्मात् पाप्यन  
 उद्भार्षीदिति यद्ब्रवीदुद्भार्षीन्मेति तस्मादुदुम्बर  
 उदुम्बरो ह वै त मुदुम्बर इत्याचक्षते परोऽक्षम्परोऽक्ष-  
 कामा हि देवा उरु मे करदिति तस्मादुरुकर  
 मुरुकर् ह वै तदुलूखल मित्याचक्षते परोऽक्षम्परो-  
 ऽक्षकामा हि देवाः सैषा सर्व्वेषां प्राणानां योनि-  
 र्यदुलूखल् शिरो वै प्राणानां योनिः ॥ २२ ॥

तत् प्रादेशमात्रं भवति । प्रादेशमात्रं मिव

\* 'उदुम्बरः'—इति ल, 'उदुम्बुरः'—इति ग, ण ।

हि शिरश्चतुःस्रति भवति चतुःस्रत्तौव हि शिरो  
मध्ये सङ्गृहीतं भवति मध्ये सङ्गृहीतं मिव हि  
शिरः ॥ २३ ॥

तं यत्र देवाः समस्कुर्वन् तदस्मिन्नेतत् सर्व्वं  
मध्यतो ऽदधुः प्राण मन्न मूर्ज्जं तथैवास्मिन्नय मेत-  
दधाति रेतस्त्रिचोर्ब्वेलया पृष्टयो वै . रेतस्त्रिचौ  
मध्य मु पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेतत् सर्व्वं दधाति  
॥ २४ ॥

व्विष्णोः कर्माणि पश्यतेति । व्वीर्यं वै कर्म  
व्विष्णोर्ब्वीर्याणि पश्यतेत्येतद्यतो व्रतानि पस्पश  
ऽद्वत्यन्नं वै व्रतं यतो ऽन्नं स्पाशयाश्चक्रं ऽद्वत्यत-  
दिन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रस्य श्लेष युज्यः सखा  
द्विदेवत्ययोपदधाति \* द्वे शूलखलमुसले सकृत्  
सादयति समानं तत् करोति समानं श्लेषेतदन्न  
मेव सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः  
॥ २५ ॥

\* 'द्विदेवत्यो भवति'—इति क, ख ।

अथोखा मुपदधाति । योनिर्वा ऽउखा योनि  
 मेवैतकुपदधाति ता मुलूखल ऽउपदधात्वन्तरिचं  
 वा ऽउलूखलं यद्वै किञ्चास्या जर्ह मन्तरिच मेव  
 तन्मध्यं वा ऽअन्तरिचं मध्यतस्तयोनिं दधाति  
 तस्मात् सर्वेषां भूतानां मध्यतो योनिरपि ध्वन-  
 स्पतीनाम् ॥ २६ ॥

यद्देवोखा मुपदधाति । यो वै स प्रजापति-  
 र्यस्रत्सतैषा \* सोखि मे वै लोका उखि मे लोकाः  
 प्रजापतिस्ता मुलूखल ऽउपदधाति तदेन मेतस्मि-  
 न्सर्वास्मिन् प्रतिष्ठापयति प्राचे ऽन्न ऽजर्ज्यथो ऽए-  
 तस्मादेवैनं मेतत् सर्वस्मादनन्तरितं दधाति ॥  
 ॥ २७ ॥

अथोपशयां पिष्ट्वा । लोकभाज मुखां कृत्वा  
 पुरस्तादुखाया उपनिवपत्येष हैतस्यै लोकस्तयो  
 हास्यैषानन्तरिता भवति ॥ २८ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैषा पक्ता ऋतोपहिता भव-

\* 'अस्रत्सतैषा'—इति न, च ।

तीति यदेव यजुष्कृता तेनाथो यद्वै किञ्चैव मन्त्रि  
 व्यैश्वानर मुपनिगच्छति तत एव तत् पक्वत् मृत  
 मुपहितं भवति ॥ २९ ॥

ध्रुवासि धरुणेति । तस्योक्तो बभ्रुरितो जज्ञे  
 प्रथम मेभ्यो योनिभ्यो ऽग्नि जातवेदा इत्येतेभ्यो  
 हि योनिभ्यः प्रथमं जातवेदा अजायत स गायत्र्या  
 त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं ब्रह्म प्रजानन्नि-  
 ख्येतैस्त्वां ऽएष हृन्दोभिर्देवेभ्यो हव्यं ब्रह्मति प्रजा-  
 नन् ॥ ३० ॥

इषि राये रमस्व । सहसे द्युम्न ऽजर्जे ऽप-  
 त्वायेत्येतस्मै सवर्षस्मै रमस्वित्येतत् सव्राडसि स्वरा-  
 डसीति सव्राट् च ऋषि स्वराट् च सारस्वतौ  
 त्वोत्सौ प्रावता मिति मनो वै सरस्वान् वाक्सर-  
 स्वत्वेतौ सारस्वता ऽउत्सौ तौ त्वा प्रावता मित्ये-  
 तद् हाभ्या मुपदधाति तस्योक्तो बभ्रुरथो इयत्  
 ऋषैतद्रूपं मृच्चापस्य साद्वित्वा सूददोऽसाधिवदति  
 तस्योक्तो बभ्रुः ॥ ३१ ॥

अथैना मभिञ्जुहीति । एतद्वा ऽपस्वा मेतत्

पूर्वम् . रेतः सिक्तं भवति सिक्तास्तदेतदभिकरोति  
 तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं मभिक्रियत ऽप्राज्येन जु-  
 हीति सुवेण स्वाहाकारिण हाभ्या मान्नेयीभ्यां गाय-  
 व्रीभ्यां तस्योक्तो बभुः ॥ ३२ ॥

अग्ने युक्त्वा हि ये तव । युक्त्वा हि देवहृत-  
 मानिति युक्तवतीभ्या मिद मेवैतद्योनौ रेतो युनक्ति  
 तस्माद्योनौ रेतो युक्तं न निष्पद्यते ॥ ३३ ॥

स यदि संवत्सरभृतः स्यात् \* । अथाभिजुहु-  
 यात् सर्व्वं वै तद्यत् संवत्सरभृतः सर्व्वं तद्यदभि-  
 जुहोत्यथ यद्यसंवत्सरभृतः स्यादुपैव तिष्ठेता सर्व्वं  
 वै तद्यदसंवत्सरभृतो ऽसर्व्वं तद्यदुपतिष्ठते ऽभि-  
 त्वेव जुहुयात् ॥ ३४ ॥

पशुरेष यदग्निः † । सी ऽचैव सर्व्वः क्वात्सः  
 संस्कृतस्तस्यावाङ् प्राञ्चः स्वयमाट्क्वा श्रोषी द्विवजुः  
 पृष्टयो रेतश्चिचौ कौक्त्वा विप्रव्योतिः ककुद

\* 'स्वान्'—इति ग, घ ।

† 'यदग्निः'—इति ग, घ ।

मृतव्ये यीवा अषाढा शिरः कूर्मीं ये कूर्मे प्राणा  
ये शीर्षेण प्राणास्ते \* ते ॥ ३५ ॥

तं वा ऽएतम् । इत जर्हं प्राञ्चं चिनोत्यसौ  
वा ऽष्वादित्य एषो ऽग्निरमुं तदादित्य मित जर्हं  
प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत जर्हः प्राङ्  
धीयते † ॥ ३६ ॥

अथैनं प्रसलव्यावर्त्तयति । अमुं तदादित्यं प्रस-  
लव्यावर्त्तयति तस्मादसावादित्य इमांश्लोकान् प्रस-  
लव्यनुपयेति ॥ ३७ ॥

उदरमुखा ‡ । योनिरुलूखल मुत्तरोखा भवत्य-  
धर मूलखल मुत्तरं ह्युदर मधरा योनिः शिर्शं  
मुसलं तद् वृत्तं मिव भवति वृत्तं मिव हि शिर्शं तद्  
दक्षिणत उपदधाति दक्षिणतो वै व्युषा योषा  
मुपश्रिते यदु पशोः संस्त्रतस्याञ्चं तद् दूर्ध्वेष्टका  
तस्य वा ऽएतस्योत्तरोर्ध्वं उदाहिततरो भवति पशु-

\* 'ते'—इति ग, घ ।

† 'धीयते'—इति क ।

‡ 'उदरमुखा'—इति ग, घ ।

रेष यद्गन्निस्तस्मात् पथोः सुहितस्योत्तरः कुच्चिरुन्नत  
तरो भवति \* ॥ ३८ ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [ ५. १. ] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे स्वयमात्राद्यादीनां मुपधानं मभिहितम् ;  
अथास्मिन् ब्राह्मणे कूर्मोदीनां मुपधानं मभिधास्यते । तत्रादौ  
तावत् कूर्मोपधानं विधाय तं रसात्मना स्तौति— “कूर्मं  
मुपधातीति । उक्तं मेव कूर्मस्य रसत्वं प्रतिपादयति— “यो  
वै स इति । ‘एषां’ पृथिव्यादीनां ‘लोकानाम्’ ‘अप्सु’ ‘प्रविद्यानां’  
मन्वानां ‘सः’ प्रसिद्धो यः ‘रसः’ ‘पराङ्’ अनाहुतः ‘अस्यश्चरत्’  
अस्रवत् । ‘सः’ रसः ‘एषः’ इदानीं मन्वाभिरुच्यमानः ‘कूर्मः’ ।  
अतः ‘त मेव’ रसम् ‘एतत्’ एतेन कूर्मोपधानेनोपहितवान् भवति ।  
लोकैरसत्वप्रनाद्यां कूर्मस्य लोकैककत्वमेवाह— “यावानु  
वा इति । ‘रसः’ ‘यावान्’ यत्परिमाणः , ‘आत्मा’ देहोऽपि  
‘तावान्’ तत्परिमाणः ; रस एव देहस्यान्तर्भावात् । यथा  
विलीने लोहपिण्डे तत्स्वरूपं तद्गुणं सूक्ष्माकारेण भवतिष्ठते ,  
तद्वन्नोकरसात्मके कूर्मे ‘लोकैः’ अपि सूक्ष्मरूपेण भवतिष्ठत  
इति ‘स एव’ कूर्मः एतत् सर्वलोकैककत्व इत्यर्थः ॥ १ ॥

यदुक्तं कूर्मस्य पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वम् , तदेव तच्छ-

\* ‘भवति’—इति च ।

रीरे विविध दर्शयति— “तस्येति । ‘तस्य’ कूर्मस्य यदधस्तनं  
 ‘कपालं’ कठिनत्वक्, ‘सः’ ‘अयं लोकः’ पृथिवी । अधरकपाल-  
 पृथिव्योः कस्त्वचित् साधर्म्यस्य प्रदर्शनात् तादात्म्यं सुपपाद-  
 यति— “तत् प्रतिष्ठितं भवेति । ‘प्रतिष्ठितम्’ अधः सर्वत्र  
 पृष्ठतलम् । अधरकपाल-पृथिव्योस्तथाविधत्वात् तस्य पृथिव्या-  
 ककत्वम् । “अथेति । ‘अथ’ ‘यत्’ ‘उत्तरं’ कपालम्, ‘तद्’ ‘द्यौः’  
 युलोकः । पूर्ववत् तदेवोपपादयति— “तद् व्यकटह्रीतात्मा मिति ।  
 विविधं मवकटह्रीतः अवनतः प्रान्तो यस्य, तत् तथोक्तम् ।  
 कूर्मस्योपरिकपालम् सर्वतो मण्डलाकारिणावनतप्रान्तम् ‘इव’  
 ‘भवति’, ‘द्यौः’ अपि तथाविधा ; अतस्तस्य तदात्मकत्वम् ।  
 अथ ‘यत्’ अधरोत्तरयोर्द्वयोः कपालयोः ‘अन्तरा’ मध्यं मस्ति,  
 ‘तदन्तरिक्षम्’ । अतः ‘स एषः’ कूर्मः, ‘इमे’ पृथिव्यादयः ‘एव’  
 लोकाः । तस्मादेतेनोपधानेन ‘इमानेव लोकानुपदधाति’ ॥ २ ॥

विहितस्य कूर्मस्य दक्षिमणुपुत्रैरभ्यञ्जनं विधत्ते— “तं मभ्य-  
 नक्तीति \* । दक्षिमणुपुत्रानां पृथिव्यादिलोकरूपत्वम् । पृथस्य,  
 दक्ष उपरिभावित्वात् पृथिव्युपरितनान्तरिक्षलोकरूपत्वम् ।  
 मधुनसु वृक्षाचलशिखरादिभूपरि भागेष्ववस्थितत्वात् युलोक-  
 ककत्वम् । अथवा मधुनो मधुररसत्वेन सोमात्मकत्वात्,  
 सोमस्य च युलोकोऽवस्थानात्, ‘मधु’ युलोकरूपम् । प्रकारान्तरि-  
 णापि दध्यादिभिरभ्यञ्जनं प्रशंसति— “अथो इति ॥ ३ ॥

अभ्यञ्जने मन्त्रं विधत्ते— “मधु वाता ऋतायत इति † ।

\* का० शी० सू० १७. ४. २७ ।

† य० भा० १३. २७, २८, २९ ।



विहित मन्थनमन्त्रं रसात्मना प्रयंसति—“यां वै देवता मिति ।  
 ‘यां देवताम्’ ‘अभि-लक्ष्ण’, या ‘ऋक्’ ‘अनुक्ता’ उच्चारिता,  
 तद्देवताप्रतिपादकत्वेनोच्यते, सा ऋक् तत्प्रतिपादकत्वात् सैव  
 प्रतिपाद्या देवता । तथा यक्षुरपि । एवं च सत्यत्र तद्देवतास्व-  
 रूप मितत् मधु ; “मधुवाता ऋतायते”—इत्यनया ऋचा प्रति-  
 पाद्यत्वात् । ततश्च ‘एष ऋचः’ प्रतिपाद्यत्वेन देवताभूत-  
 मध्वात्मकः । तिस्र ऋचो यस्मिन् समुदाये, स ऋचः ।  
 “ऋचि त्रेहत्तरपदादिसोपच्छन्दसि”—इति \* त्रिशब्दस्य सम्प्र-  
 सारचम्, ऋवर्चस्य च लोपः, “ऋक्पूरश्चूरिति समासान्तः † ।  
 मधु च सोमरसस्वरूपम् ; अतश्चैतेन ऋचिनोपधाने सति रसा-  
 त्मके ‘यस्मिन्’ कूर्मे ‘रस मिव’ विहितवान् भवति ।

अभ्यञ्जनमन्त्राणां छन्दःसङ्घे विधत्ते—“गायत्रीभिस्त्रिद्विभि-  
 रिति । तद्व्याख्यानम् प्रागुक्त मित्वाह—“तस्मोक्तो बभुरिति ।  
 तच्च “गायत्रीभिः प्राची गायत्री प्राच मीवास्त्रिजेतद्दधाति तिस्र-  
 भिः, त्रयो वै प्राचाः ताच उदानो व्यानः, तानेवास्त्रिजे-  
 तद् दधाति”—इति षष्ठ्याच्छेऽभिहितम् ‡ ।

मन्त्राणां अयं अर्थः §,— ‘ऋतायते’ ऋतं यत्र मात्मन

\* पा० ६. १. ३७ छ० १ वा० । † पा० सू० ५. ४. ७४ ।

‡ इका० ३५० २भा० ५३० ( ६ भा० २११ ८० ) ।

§ तन्पाठाभिव्यक्तम्,—

“मधु वाता ऋतायते मधु चरन्ति त्रिद्विभः ।

माधीनः सन्तोषधीः । १ । मधु नक्त सुतोषधी मधुमत्

पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता । २ । मधुमन्त्री नो

वपश्चतिर्मधुमां अस्तु. छन्दैः । माधीर्मांनो मंभवत् । ३ ।”

इच्छतीति ऋतायन् यजमानः । व्यत्ययेनाकारः । तस्मै 'वाताः'  
 वायवो 'मधु' मधुररसं 'चरन्ति' स्त्रावयन्ति । 'सिन्धवः' समु-  
 द्राश्च नद्यश्च 'मधु चरन्ति' । 'शोषधीः' शोषधयोऽपि । "वा-  
 ष्ट्दसि"—इति \* पूर्वसवर्णदीर्घः । 'नः' अस्मत्सम्बन्धि यजमानार्थं  
 'माध्वीः' मधुररसोपेताः 'सन्तु' । "ऋथ्वास्तुथ्वास्त्येत्वादिना ण  
 माध्वी-शब्दो निपातितः । किञ्च 'नक्तम्' रात्रिरपि 'मधु' मधुर-  
 रसोपेता भवतु । अपि च 'उषसः' मधुररसोपेता भवन्तु । तथा  
 यत् 'पार्थिवं रजः', तत् सर्वं 'मधुमत्' अस्तु । 'नः' अस्माकं यज-  
 मानस्य 'पिता' पित्रस्त्वानीया 'दीः' 'मध्वसु' मधुररसोपेता भवतु ।  
 'वनस्पतिः' अश्वत्यादिर्यज्ञसाधनभूतः 'नः' अस्मद्यजमानार्थं  
 'मधुमान् अस्तु' । 'सूर्यः' अपि 'मधुमान्' सन्तापरांश्चित्कलञ्च-  
 माधुर्यरसोपेतः 'अस्तु' । तथा 'मावः' 'नः' अस्मद्यजमानार्थं  
 'माध्वीः' मधुररसोपेताः 'भवन्तु' ॥ ४ ॥

अथ कूर्म इति नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति— "स  
 यत् कूर्म इति । 'एतत्' कूर्मसम्बन्धि 'रूपम्' आत्मनः  
 'कृत्वा' 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' । असृजतेत्यस्य व्याख्यानम्—  
 "यदसृजताकरोदिति । असृजतेति यत्, तदकरोदित्यर्थः ।  
 'तत्' तेन कूर्मरूपेण 'अकरोत्'-इति 'यत्', तस्माद् अकरोदिति  
 'कूर्मः'-इति, कूर्मशब्दो न्युमधेय मित्यर्थः । करोतेरौचादिके मक्-  
 प्रत्यये "बहुल' इन्दसि"—इत्युत्वे ‡; 'इलि च'-इति § दीर्घे च

\* पा० ख० ६. १. १०६ ।

† पा० ख० ६. ४. १०५ ।

‡ पा० ख० ७. १. १०२ ।

§ पा० ख० ८. २. ७७ ।

कृते, कूर्म इति रूपम् भवति । “कश्यपो ना”-इत्यादिक-  
स्वाय मर्षः,— कूर्मशब्दस्य करणे प्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्, कश्य-  
पस्य च प्रजापतित्वेन प्रजाकारकत्वात्, ‘कश्यपः कूर्मः खलु’;  
अत एव ‘सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः’ इति ‘चाहुः’ जनाः । अतश्च  
कूर्मस्य कश्यपात्मकत्वात् तदुपधानम् प्रशस्तमिति ॥ ५ ॥

अथ तमेव कूर्मं मादित्वात्मनापि स्तौति— “स य इति ।  
‘सः’ प्रकृतो ‘यः’ ‘कूर्मः’ अस्ति, ‘सः’ ‘असौ’ विप्रकृष्टः ‘आदित्यः’ ।  
आदित्वात्मकत्वम् मण्डलाकारसाम्यात्, यथा ‘आदित्यो यूषः’-  
इति । एतस्योपधाने आदित्यस्यैवोपधानं कृतम् भवति । उक्तं  
मादित्वात्मकत्वं मुपजीव्य, तस्य अयनप्रदेशे एव पूर्वभागे प्रत्यङ्-  
मुखस्योपधानं माह— “तं पुरस्तादिति ।

ननु कूर्मस्यादित्वात्मकत्वेन पुरस्तात् \* प्रत्यगुपधानेनादि-  
त्यस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्निधानमित्यन्योन्याश्रयता-दोष इति  
चेत्, मैवम् †; कारकप्रापकयोर्हेतुहेतुमन्नाववैपरीत्यं भूषण  
मैव, न तु दूषणम् । यथा अन्विर्धूमस्य कारको हेतुः,  
धूमशब्देर्प्रापक इति; तथात्रापि कूर्मस्य पुरस्तात् प्रत्य-  
गुपधानं मादित्यस्य पुरस्तात् प्राङ्निधाने कारकम्,  
आदित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यगवसानं कूर्मस्यैवंविधोपधाने प्राप-  
कम् । पुरस्तात् प्रत्यगुपधानम्, प्रवाठायाः पुरस्तादुत्तरतो  
वापि आदित्यत आह— “इच्छित इति । ‘प्रवाठाया’-

\* “प्रत्यगुपधानम्, एतस्य च पुरस्तात्”— इत्यधिकः पाठः; न उ-पुस्तके ।

† ‘मैवम्’-इत्यस्य स्थाने “नैव दोषः”— इति उ-पाठः ।

इति, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी \* । उक्तोऽर्थे उपपत्ति माह— “वृषा वा इति । वृषशब्देन सेचनसमर्थत्वात् पुमानुच्यते ; अषाढा-शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाद् अषाढा योषा खलु । “उत्तरतो हि स्त्री पुमांस सुपश्यते”—इति श्रुतेः † पुमान् दक्षिणभागे योषा सुपश्यते । उपशयनेन ईक्षिततमत्वात् योषा मिति द्वितीया ‡ ; अतश्चास्य कूर्मस्य अषाढायाः दक्षिणभागे उपधानं सुपपन्नमित्यर्थः । दक्षिणभागे विप्रकृष्टेऽप्युपधानं स्यादित्यत आह— “अरन्निमात्रे इति । उखाया अपि पुरस्ताद् अषाढायाः श्लिष्टत्वेन सर्वेष्टकानां मपि प्रशस्तत्वात् तद्दक्षिणभागे उपधानेन सर्वेष्टकानां मपि दक्षिणभागे उपशयनं सिद्धम् भवतीति दर्शयति— “सैवेति ॥ ६ ॥

अथ त मिव कूर्मं प्राञ्चालनापि स्तौति— “यद्देवेति । “प्राचो होमा इति । ‘प्राचः’ खलु ‘हमाः सर्वाः प्रजाः करोति’ ; प्राणिभिरेव प्रजानां मुत्पादनात् । अतश्च कर्त्तव्यत्वसामान्यात् ‘प्राचः कूर्मः’ इति । तदुपधाने प्राचस्यैवोपधानं भवति । “तं पुरस्तादिनोक्तम् प्राञ्चालकत्वं सुपजीव्य ‘पुरस्तात्’ प्रत्यक्षुत्वेनोपधानं सुपपाद्यते । “तस्मादिति । यत एवम्, तस्मात् कारणात् ‘पुरस्तात्’ सुखे प्राणवायुः प्रत्यक्षसुखत्वेन ‘धीयते’ भ्रियते ।

कूर्मस्य प्राञ्चालकत्वाद्दिरङ्गयपुरुषाभिसुख्येन तस्योपधाने

\* पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

† पुरस्तात् १का० १प्र० १त्रा० २०क० ( १भा० ६४० ) इत्यमरम् ।

‡ पा० सू० १. ४. ४५ ।

पुरुषस्य यजमानरूपत्वाद् यजमाने प्राचनिधानं भवत्याह—  
 “पुरुष मभ्यावृत्त मिति । कूर्मस्य प्राचत्वादवाढायाः वाक्कात्  
 तस्य दक्षिचत उपधानं युञ्जत इति दर्शयति — “दक्षिचत इति ।  
 स्त्रीत्वसामान्यादवाढायाः वागात्मकत्वम् । ‘प्राचः’ ‘वाचः’ ‘वृषा’  
 पतिः ऋतुः ; प्राचोपजीवनेन वाचः प्रवृत्तेः । अतः प्राचो  
 वागित्पुत्रभय मपि ‘मिथुनम्’ । एवञ्च वागात्मिकाया अवाढाया  
 दक्षिचभागे प्राचात्मकस्य कूर्मस्योपधानं सुपपन्न मित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ तदुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “अपां गन्ध-  
 विस्त्रादिना † । “यत्रेति । ‘यत्र’ स्थाने ‘एवः’ सूर्यः ‘एतत्’ तपनं  
 करोति, ‘एतत्’ ऋतु ‘अपां’ ‘गन्धिष्ठं’ गन्धीरतमम्, इदं इत्यर्थः ।  
 सूर्यस्य वृष्टिहेतुत्वात् तस्मावस्थानप्रदेशस्य इदं सुच्यते ।  
 ततश्च कूर्मस्यापा मन्त्ररेखावस्थानाद् ‘अपां गन्धन्’ सूर्यावस्थान-  
 समीपदेशलक्षणे अपां इदं ‘सीद’ उपविशति मन्त्रं चाह ।  
 “गन्धिष्ठमिति । गन्धीरशब्दस्य ह्यन्वसो गन्ध्यादेशः †, तत  
 उत्तरस्याः सप्तम्याः “अपां सुलुक्”-इत्यादिना ‡ सुबि रूपम् ।  
 “गन्धिष्ठ मिति । गन्धन्-शब्दादतिशयाने इहनि कृते §, “टेः”-  
 इति ॥ टिसोपे कृते, रूपम् । “मा त्वा सूर्योऽमिताषीन्  
 प्राञ्चिर्वैश्वानरः”-इत्यादिमिताषीदित्थेतत्पदार्थं माह— “मेव

० का० यौ० अ० १०. ४. ३८ ।

† “असुम इव वासि मन्त्राणां”-इति तै० ब्रा० ७. ७. १ ।

‡ पा० सू० ७. १. ३६ ।

§ पा० अ० ५. ३. ५५ ।

॥ पा० अ० १. ४. १४२ ।

त्वेति । 'अष्टिन्नपत्राः'-इति । पत्रशब्देनात्रयवो • लक्ष्मते, तेनात्राष्टिन्नावयवा इत्यय मर्थः स्यात् । 'या इमाः' उपहिताः 'इष्टकाः', 'ताः' इमा एव 'सर्वाः प्रजाः' खलु । इष्टकानां प्रजापत्यात्मकत्वेन, प्रजापतेषु सर्वप्रजाकारणत्वेन, तदात्मकत्वादित्यर्थः । रिष्ट-शब्देनानिष्टं व्याधिप्रभृतिकं मुच्यते, तद्रहिता अरिष्टाः; तस्मैव विवरणम्—'अनार्त्ताः'-इति । तथा सति अष्टिन्नपत्राः प्रजाः 'अनुवीक्षस्व'-इत्यनेन एतदुपहितेष्टकारूपाः प्रजाः, यथा 'अरिष्टा अनार्त्ताः' भवन्ति, तथा ताः 'अनुवीक्षस्व' अनुपालयेत्येतदुक्तम् भवतीत्यर्थः । "यद्येवैन मिति । 'एनं' कूर्मं मनुलक्ष्य, 'यथैव' 'दिव्या वृष्टिः' सम्बन्धीयात्, 'एवम्' अनेनाभिप्रायेण 'एतत्' अनुत्वेत्यादिकम् आह ॥

"अपाङ्गश्चान्", "चीकसुद्रान्", "मही द्यौः"-इति \* त्रिभिः मन्त्रैः अयं कूर्मं उपधीयते । तत्र मध्यमेन तं चालयन्नुपदध्यात् । अत एव कात्यायनः— "अपाङ्गश्चिति तिस्रभिर्घट्टयति मध्यमया"-इति † ॥ ८ ॥

तदेतद्दर्शयन्नाचष्टे— "अथेति । 'एजयति' कम्पयति । "एजु कम्पने"-इति ‡ धातुः । "इमे इति । ये 'इमे' इयः 'समुद्राः' समुद्रवन्ति समुद्राच्छतीति समुद्रा लोकाः § ।

\* वा० सं० १३. ३०, ३१, ३२ ।

† का० शौ० सं० १७. ५. १, २ ।

‡ भा० पं० २३४ धा० ।

§ निरु० २. ३, १ ब्रह्मम् ।० ।

‘स्वर्गाः’ सुखहेतुभूताः । ‘तान्’ ‘एषः’ प्रजापतिः ‘कूर्मां’  
मृत्वा अनुसंससर्पे’ ; प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकत्वात् \* । “स एष इमि  
एष लोका इत्यादिना † कूर्मस्य लोकत्रयात्मकत्वाभिधानात् ,  
प्रजापतिः कूर्मरूपेण लोकाननुसंससर्पेति ।

अथ मन्त्राभिसन्धिः, — अपाम्पतित्वं कूर्मस्य ; तत्रैव सर्वदा-  
कस्यानात् । वृषमश्वेन वैष्ठां लक्षते, तच्च लोकत्रयात्मकत्वादिना  
दृष्टव्यम् । अथ वा दृष्टकात्मनां स्त्रीणां ‘वृषमः’ पुमान् । पुरीष-  
श्वेन पशवोऽभिधीयन्ते, तान् ‘वसानः’ आच्छादयन्, यज-  
मानस्य सम्पाद्यन्नित्यर्थः । अथ वा दृष्टकारूपान् पशून्  
आच्छादयन्निति । पूर्वं सुपदिताः कूर्माः ‘एतेन’ उपधानलक्ष-  
णेन कर्मणा ‘यत्र’ ‘परीताः’ कृताः प्राप्नुवन्, तत्र नष्केत्वे-  
तदुक्तं भवति ॥ ८ ॥

“मही खीरिति ‡, अत्र महीपदस्य विकचितं मर्च्चं माह—  
“महतीति । द्वितीयपादे ‘मिमिक्षताम्’—इत्यस्वावनं मर्च्चं इति  
दर्शयति— “इमं यत्र मङ्गता मित्सेतदिति । अनेकार्थत्वाद्वा-  
तूनां मिमिक्षतिरत्रावने वर्त्तते । तृतीयपादे ‘मिष्टताम्’—इत्य-  
स्वार्थं माह— “मिष्टता मिति ॥

• मन्त्रार्थसु,— हे कूर्म ! त्व मयां गन्धीरतरि देवे उप-  
विश, तत्र सोदन्तं त्वां सूर्यो मा. अभितपसु, ‘वैश्वानरः’  
सर्वेषां सुदरस्यः सर्वाश्वा च, सर्वेषुः अन्निरपि मा अभितपसु ।

\* वा० सं० १३. ३१ ।

† पुरस्तादिष्वेव द्वितीया लक्षौ ब्रह्मण ।

‡ वा० सं० १३. ३३ ।

तथाविधस्य मनसश्छिन्तावयवा इष्टकारुपाः प्रज्ञाः बहु-  
बीजस्य । 'त्वा' त्वां 'दिव्यं वृष्टिः' चानुसम्बन्धीयता मिति  
प्रथमस्वार्थः \* ॥

हे कूर्म ! त्वं 'त्रीन्' सुखहेतुभूतान् लोकान् 'समसृपत्'  
संसृजोऽसि । अत्ययेन तिवादेशः, छदित्वात् चुरेडादेशः † ।  
अतः स त्वम् 'अपान्मतिः', 'इष्टकानां' च 'वृषभः', अतस्त्वां  
ब्रवीमि— 'पुरीषम्' इष्टकारूपान् पशून् 'वसानः' आच्छादयन्,  
'सुखतस्य' सुखं सम्पादितस्त्वाम्बेः 'लोके' स्वानि खित्वा, 'तत्र'  
गच्छ, एतेन कर्मणा 'पूर्वं' कूर्माः 'यत्र' 'परिताः' परागतः,  
अत्रतिं प्राप्नुवन्निति द्वितीयस्वार्थः ‡ ॥

"मही क्षीरिति मन्त्रसु प्रागेव व्याख्यातः § । अन्तिस-  
मन्त्रस्य आवापृथिव्यत्वं प्रशंसति— "आवापृथिव्य इति ।  
"तस्य यद्वह्नं कपालं मयं स लोकः"—इत्यादिना ॥ कूर्मस्वा-  
धस्तनोपरितनयोः कपालयोर्वावापृथिवीरूपत्वस्योक्तत्वात् 'कूर्मो

\* अस्य पाठश्चिन्म—

"आप्राक्कनसौद मा त्वा ह्ययोऽभिताक्षीणासिर्वेशानरः । अन्तिस-  
पचाः प्रचा चानुवीचस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः वचताम्"—इति ।

† प्रा० पृ० ३. १. ५५ ।

‡ अस्य पाठश्चिन्म—

"भीक्षुस्तुम्राश्वयत्पत् स्वर्गानपांम्यतिर्द्वेषम इष्टकानाम् । \* पुरीषं  
वसानः सुखतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वं परिताः"—इति ।

§ ३४६ पृ० १३ प्रकृतितो इष्टवम् ।

॥ पुरस्यदिशेव ३२५ पृ० २१ पं० इष्टवम् ।



यावापृथिव्यः' ; अतस्तदुपधाने उत्तमाया ऋचो यावापृथिव्यत्वं प्रथस्य मिति यावत् । यावापृथिव्यश्चन्द्रसु “यावापृथिवीदुना-सीरेत्वादिस्तुत्रेषु \* देवतार्थे यत्प्रत्ययान्तः ॥ १० ॥

उपधानमन्त्राणां त्रित्वसङ्गा मनुष्य प्रशंसति— “त्रिभि-रिति । ‘इमे’ पृथिव्यादयो ‘लोकाः त्रयः’ ; कूर्मश्च लोकत्रया-त्मकः ; ततश्च तदुपधानं त्रिभिर्मन्त्रैः सम्याद्यते । अपि च अग्निस्त्रिहृतसोमात्मकः ; अग्नेस्त्रिहृतस्य मेकस्मादेव सहोत्पत्तेः । तथा च श्रूयते— “सु सुखतस्त्रिहृतं निरमिमीत , त मग्नि-देवताम्बसृज्यतेति † । आहवनीयादिमेदेन वा अग्नेस्त्रिहृतम् । अथवा षष्ठकाण्डे रुद्रादिनवनामधेयाभिधेयत्वादाग्नेस्त्रिहृतस्य सु-क्तम् ‡ । तथा सति अत्रोपधानमन्त्राणां त्रित्वात् ‘अग्निः’ ‘यावान्’ यत्परिमाणविशिष्टः , ‘अस्य’ च ‘मात्रा’ अवयवः ‘यावती’ यत्परिमाणविशिष्टा , ‘तावता’ तत्परिमाणविशिष्टेन रूपेण ‘एतदुपधाने’ सम्यादितम् भवति ।

अभ्यञ्जनमन्त्राणां उपधानमन्त्राणां च सङ्गाः सम्भूय प्रशंसति— “त्रिभिरभ्यनन्तीति । ‘तत्’ तथा सति ‘षट्’ सङ्गा सम्यद्यते । तस्य सङ्गासम्यादनस्य तु प्रशंसारूपं व्याख्यानम् “षट् वा. ऋतवः”—इत्यादिना § प्रागुक्तं मित्त्वर्थः ।

कूर्मस्वाधस्तादुपरिष्टाच्चावकाः त्रापयेदित्याह—‡ “अवका

\* पा० सू० ४. २. ३२ ।

† तं० सं० ७. १. १. ४ ।

‡ पूर्वजिन् काण्डे १. २. १०—१८ ( ४ भा० १७ - २० पृ० ) ऋचम् ।

§ पुरस्तादिष्टेषु २ ३. ३५० ऋचम् ।

इति \* । 'अवका' शेषालम् । अवकास्वापनं किमर्थं मिथ्यं तं  
 आह— "आपो वा इति । 'अवकाः' अस्तु जायन्त इति कार्य-  
 कारणभेदाविवक्षया आपोऽप्यवकाः । अतश्चेतेनावकास्वापनेन  
 'अपा मेव मध्यतः' 'एनं' कूर्मं निहितवान् भवति । "साद-  
 यित्वेत्यादिकन्तु प्रागेव व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

कूर्मोपधानानन्तरम् उलूखलमुसलयोरुपधानं विधत्ते—  
 "अथेति । विहितं मुलूखलमुसलयोरुपधानं मन्नादनसाधनतया  
 प्रशंसति— "विष्णुरित्वादिना । 'येन' 'रूपेण' प्रकारेण 'यत्  
 कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्', 'तेन' प्रकारेण 'तत् कर्म कृत्वा'  
 अहं मयि 'अन्नादोऽसानोति' अभिप्रायेण 'यजमान उलूखलमुसले  
 उपदधाति' यतः, अतो यथैव विष्णुरभूत्, 'तथैव' 'एतत्' एतेन  
 यजमानोऽप्यन्नादो भवतीत्यर्थः ।

अन्नादनसाधनता कथं मनयोरिति तदुपपादयति— "तदे-  
 तदिति । यतः 'उलूखलमुसलाभ्यां मन्त्रं क्रियते'; ताभ्यां  
 श्रौद्धादीनां वितुषीकरणात्, वितुषीकृतानां भेदात्त्वात्,  
 'अत्र मय्युलूखलमुसलाभ्यां क्रियते' । अतश्च 'उलूखलमुसले'-  
 इति यदेतत् कर्तव्यं मन्त्रम्; तथा सति अन्नादनसाधनतामयो-  
 रूपपदात् इति भावः ॥ १२ ॥

अनयोः स्नानविशेषं विधाय, स्तौति— "ते इति । रेतस्त्रिधा-  
 विति, इष्टकादिशेषी प्रान्बिहितौ † । तयोः 'वैलया' प्रान्तेन ।  
 सप्तम्यर्थे द्वितीया । अत एव कात्यायनः,— "रेतस्त्रिषोर्वैलाया

\* का० शौ० सू० १७, ४. २७ ।

† पुरस्कारं ३, ९. २९ इष्टकम् ।

अरन्निमान्मुतेरिति \* । तत्रैते उपदध्यात् । यतो 'रित-  
स्त्रिचो' 'पृष्टयः' । पृष्टिशब्देन कटिपार्श्वस्यास्त्रिविधोपावृत्तेः ।  
अवयवापेक्षया च बहुत्वम् । रेतस्त्रेचनसाधनत्वसामान्यात्  
रेतस्त्रिचोः पृष्टिरूपता । शरीरमध्येऽवस्थानात् पृष्टयो मध्यं  
हि ; अतश्च तत्रान्ते अत्रयोरुपधानात् मध्यभागे एवास्त्रिन्  
प्रजापती, चीयमानान्त्रिरूपे 'एतत् अत्र' निहितवान् भवति ।

दिग्गन्तरेऽपि रेतस्त्रिवोरुपधानं सम्भवेदित्यत आह—  
“उत्तर इति । स्रयमादृशाया उत्तरप्रदेशेऽपि । प्रमात्रविशेष  
माह— “अरन्निमाने इति । लोके हि अरन्निमात्रप्रदेशादत्र  
मादायाभ्यवक्रियते ; अतश्चात्ररूपयोरनयोरुपधानं तावति प्रदेशे  
कर्त्तव्यम् । “उलूखलमुसले स्रयमादृशा मुत्तरेश्वरन्निमाने”—  
इति हि सूत्रम् † ॥ १३ ॥

प्रकृते उलूखलमुसले प्रादेशमात्रे कर्त्तव्ये इत्याह—  
“प्रादेशमात्रे भवत इति ‡ । परिमात्रविशेषोपादाने कार्त्त-  
माह— “प्रादेशमात्रो वा इति । 'विष्णुः' शब्दः , चीयमानान्त्रि-  
रूपः । इदानीं मनिष्यवत्त्वेन गर्भः स्रुत् ; अतोऽयं प्रादेशमात्रः ;  
लोके चर्माद्यां तावत्-प्रमात्रत्वात् । उलूखलमुसलं चात्रम् ;  
तदेतत् सर्वं मत्र मित्युक्तत्वात् । ततश्च 'अस्त्रिन्' गर्भरूपे  
विष्णौ एतेनान्नसदृशप्रमात्रं नैव 'अत्रं दधाति' ।

\* “उलूखलस्य रेतस्त्रिवर्णाया अरन्निमान्मुतेः”—इति सुप्रित-  
पाठः का० भौ० छ० १७. ४. २१ ।

† का० भौ० छ० १७. ५. ३५ ।

‡ का० भौ० छ० १७. ५. ३६ ।

अथ व्याख्यासुरूपप्रमाद्यपरिग्रहे को लाभः ? तदतिक्रमे वा कः ? इत्यत आह— “यद् वा इत्यादि । ‘आत्मसम्भित मन्त्रम्’ आत्मार्गं रक्षति, न तु हन्ति । यत्तु ततोऽधिकं न्यूनं वा ‘तत्’ तथा न करोति । अल्पस्य बलाङ्गपोषानाधायकत्वाद्, अधिकस्य च दुर्ज-रत्वेन पोषाकरत्वादित्यर्थः । “हिनस्तीति, ‘हिसि हिंसायाम्’—इत्यस्य \* रौधादिकस्य त्रिपि अत्रि “त्रात्रलोपः”—इति † नकार-लोपे रूपम् । अल्पशब्दादीयसुनि “युवात्पयोः”—इत्यादिना कच्चा-देशे ‡ कनीय इति भवति ॥ १४ ॥

अनयोर्द्वेषविशेषं विधाय स्त्रीति— “धौदुम्बरे भवत इति । ‘धौदुम्बरे’ उदुम्बरविकारे, ततो निष्पन्ने भवतः । “विस्वा-दित्वाधिकारे § अण् प्रत्ययः । ‘उदुम्बर जर्क’, ‘बंसकरो रसः’ अणु । उदुम्बरस्य जर्कूपत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते— “देवा वा जर्कं स्वभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति ॥ । तथा चैतेन ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘अर्कं मेव रसं निदधाति । सर्ववनस्पतीनां सुपधान-सिध्दर्थं सुदुम्बरस्य सर्ववनस्पतिरूपता माह— “अथो सर्व एत इति । ‘एते’ अलूखलमुसले ‘उपदधद्’ उपदधानः ‘सर्वान् वनस्पतीन् उपहितवान् भवति ॥

रेतस्त्रिभ्वेलाया सुपधानेन आवापृथिव्योर्वनस्पत्युपधानं प्रति-

\* स० प० १३६भा० ।

† पा० सू० ६. ४. २३ ।

‡ पा० सू० ५. ३. ६४ ।

§ पा० सू० ४. २. १३६ ।

॥ तै० ब्रा० ३. १. ३. १० ।

पादयति— “रैतस्मिन्नोर्वे”लयेति । ‘इमे’ द्यावापृथिव्यौ खलु  
‘रैतस्मिन्नो’ इष्टके । ‘तत्’ तेन ‘अनयोः’ द्यावापृथिव्योः ‘वनस्पतीन्’  
उपहितवान् भवति । ‘तस्माद्’ हेतोर्द्यावापृथिव्योः ‘वनस्पतयः’  
सन्तीति शेषः ॥

उलूखलस्य चतुष्कोणत्वाभिधानेन सर्वदिक्षु वनस्पत्यु-  
पधानं माह— “चतुःस्रतोति । चतस्रः स्रक्तयः कोषा यस्य ,  
तदिदं चतुःस्रक्ति । यथा ‘मध्ये सङ्गृहीतम्’ मध्यप्रदेशे सङ्गु-  
हितम् । किमर्थम् ? ‘उलूखलरूपतायै’ एवं रूपं हि लोके  
प्रसिद्धं मुलूखलम् । एतस्मादेव च वाक्प्रयोगादुलूखलं मेव चतुः-  
स्रक्ति मध्यसङ्गृहीतं च भवति , न मुसलम् । तथा च वक्ष्यते—  
“तद् वृत्तं मिव भवतोति \* ॥ १५ ॥

अथ विशिष्टावयवस्य प्रजापतेः प्राचं मन्त्रं मूर्ध्नि मस्त्रिजग्नी  
प्रतिनिधातुं मितिहासं माह— “यद्देवेति । ‘मध्यतः’ मध्यप्रदेशात्  
‘प्राचः’ अग्नेषुतिर्वायुः ‘उदक्किमिषत्’ उत्क्रमितुं मैच्छत् । ‘तं’  
प्राचं मुत्क्रमितुं मिच्छन्तम् ‘अग्नेन’ अदनीयेन ‘अग्न्यात्’ गृहीत-  
वान् , प्रजापतिरिति शेषः । ‘तस्मात्’ कारणात् ‘प्राचोऽग्नेन’  
गृहीतः । उक्तं मेवार्थं प्रसिद्धा इत्यति— “यो ज्ञेवेति ।  
‘यो’ हि ‘असा’ ‘अन्नम्’ अदनीयम् ‘अस्ति’ भक्षयति , ‘सः’  
‘प्राचिति’ चेषते ॥ १६ ॥

सिद्धे प्राचग्रहणे अन्नस्योत्क्रमणेच्छा माह— “प्राचे गृहीत  
इति । ‘तस्मात्’ प्रजापतेः ‘अन्नं’ कर्तुं उत्क्रमितुं मैच्छत् ।

‘तत्’ अन्नं ‘प्राग्नेन’ साधनेन ‘अष्टङ्गात्’ प्रजापतिः ।\* तस्मादि-  
त्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

“एतयोरिति । ‘एतयोरुभयोः’ प्राणान्नयोर्वशीकृतयोः ‘जर्क्’  
बलम् ‘उदच्चिक्लमिषत्’ । “जर्ज् बलप्राणनयोरिति \* धातुः ।  
जर्ज्जयति बलयतोत्पूर्क् बलम् ; यद्वा बलहेतुरवरसीऽपि जर्गि-  
त्यभिधीयते । ‘ताम्’ जर्जम् ‘एताभ्या सुभाभ्यां’ प्राणान्नाभ्याम्  
‘अष्टङ्गात्’ प्रजापतिः । ‘तस्मात्’ अन्नप्राणाभ्यां सा ‘जर्क्’  
‘गृहीता’ वशीकृता । “यो ह्येवेत्यादि, पूर्ववद् व्याख्येयम् । “त  
मूर्ज्जयतीति । ‘तम्’ अन्नारम् पुरुषम् ‘जर्जयति’ बलयति, मुक्त  
मन्नं कर्तुं इति शेषः ॥ १८ ॥

“जर्जीति । जर्क् यद्बलानन्तर मुच्चिक्लमिषन्तावन्नप्राणी ‘जर्जा  
अष्टङ्गात्’ । “यं हीति । जर्क् बलं य मेव ‘जर्जयति’ बलयति  
‘सः’ ‘प्राणिति’ चेटते, ‘सोऽन्न मन्ति’ च ॥ १९ ॥

“तान्मेतानोति । यतस्सावत् ‘तानि’ सर्वाणि अन्वोऽन्वेन ‘गृही-  
तानि’, ततः ‘तान्यन्वोऽन्वेन’ ‘गृहीत्व’ प्रजापतिः आत्मनि ‘प्रापा-  
दयत्’ प्रापयत् । ‘आत्मन्’-इति, “सुपां सुसुगित्वादिना † सप्तम्या  
सुक् । यत् ‘इदं सर्वम्’ इन्द्रियजातम् ‘अन्नजीवनम्’ । अन्न मेव  
जीवनं यस्य तदन्नजीवनम् ; तदभावे सर्वेषां स्वस्वव्याप्यरा-  
समर्थत्वात् । अतोऽस्मिन् अजापतौ प्रपद्यमान मन्नं ‘सर्वे देवाः’  
इन्द्रियाणि प्रपन्नान्भूवन् ॥ २० ॥

\* पु० प० १६ पा० ।

† पा०, सु० ३. १. ३३ ।

उत्तेऽर्थे कश्चिन् मन्त्रं संवादयति — “तदेव इति । ‘तत्’  
तत्रार्थे ‘एवः’ वक्ष्यमाणः ‘श्लोकः’ मन्त्रोऽभ्युक्तः । मन्त्रः—

“तद्दे स प्राचोऽभवत्तद्वा भूत्वा प्रजापतिः ।

भुजो भुजिष्या विश्वा यत् प्राणान् प्राचयत् पुरि”-इति ॥

त मेतं मन्त्रं पादगो विभण्य व्याचष्टे— “तद् वा इति । ‘तत्’  
तच्च तदा अत्रलाभाय \* ‘सः’ वै खलु ‘प्राचोऽभवत्’ । प्राणशब्देन  
इन्द्रियाण्युच्यन्ते, ततश्च वेन्द्रियोऽभूदित्यर्थः । “महान् भूत्वेति ।  
यदा ‘एनं’ प्रजापतिम् ‘एते देवाः’ इन्द्रियाणि ‘प्राचयन्त’, तदा  
‘स महान् अभूत्’ खलु । “भुजो भुजिष्या विश्वेति । भोगसाधन-  
त्वेन ‘भुजः’ प्राचा उच्यन्ते । ‘भुजिष्या’-शब्देन भोग्यत्वादकम् ।  
तदेतत् सर्वं ‘विश्वा’ सम्भ्रुत्येतदुक्तं भवति । “यत् प्राचयति ।  
‘पुरि’ चात्मनि शरीरे ‘प्राचान्’ ‘प्राचयत्’ स्वस्वध्यापार-  
समर्थानकरोत् । यत एव प्राचयत्, ‘तस्मात्’ ‘देवाः’ इन्द्रियाणि  
प्राचयन्त इति † ( प्राचा इति ) व्युत्पत्त्या प्राचाः अभूवन् ।  
अथ ‘प्रजापतिः’ तान् प्राचयदिति यत्, तस्मात् प्रजापति-  
रपि प्राचोऽभूत् । अत्र प्राचप्रयोजकत्वात् प्रजापतेः प्राचत्व  
सुक्तम् । एतावता तदेतद्वचं प्रपद्यमानं सर्वे देवा अनुप्राप-  
यन्तु अन्नजीवनं ह्येदं सर्वं मित्वाय मर्षः संवादप्रदर्शनेनोप-  
पादितो भवति ॥

प्रजापतेर्विश्वत्वादिस्वायंप्रकमेव प्रकृते किं मायात मित्वा  
चाह— “यो वा इत्यादि । ‘सः’ पूर्वोक्तः प्रजापतिसम्बन्धी

\* अत्रलाभायशरीरे—इति ज-पाठः ।

† मितम् प्रपद्य मक्ति ज-इत्युक्तादकम् ।

यः प्राणोऽस्ति, 'सेवा गायत्री' विष्णोः कर्माचीत्यत्र \* यद् गायत्र्यात्मकं हृद्दः, स प्राण एतदित्यर्थः । प्रकृतोपधानमन्त्र-सन्निहितत्वादेवेति परामृश्यते—“सेवेति । लिङ्गं विधेयाविषयम् । उत्तरब्राह्मणं दृष्टव्यम् । प्राणो वृत्तिभेदेन चिदा भिद्यते, गाय-त्रयपि पादभेदेन ; अतः सादृश्यात् † 'प्राणो गायत्री'-इत्युक्तम् । 'अथ' 'यत्' प्रजापतिस्त्वन्धि 'अथम्' अस्ति, 'स एष विष्णु-देवता' विष्णुरिति यत्रोऽभिधीयते ; भोगसाधनत्वसामान्या-दत्रस्य विष्णुरूपत्वम् । 'अथ' 'या सा जर्क', 'स एष उदु-म्बरः' । उदुम्बरस्य बलकररसत्वादूर्गात्मकत्वम् ॥ २१ ॥

उदुम्बरोलूखलग्रन्थौ निर्वन्धि—“सोऽन्नवीदिति । 'सर्वस्मात्' 'पापनः' छच्छात् 'मा' भाम् 'अथं' हि 'उदभावीत्' उद्भूतवान् 'इति' 'सः' प्रजापतिः 'अन्नवीत्' । छच्छादुदुम्बरस्योऽन्नब्राह्मणयो-रकरोधकत्वात् ; अतश्चोदभावीत्या मिति यदन्नवीत्, 'तस्मात्' जर्क 'उदुम्बरः' अभूत् । अत एकं सुक्तत्वादयं सुदुम्बरः । त-मेव देवाः 'उदुम्बर इति परोक्षं भावयन्ते' । पारोक्ष्येणभिधानं गौरवाय कल्पयत इति देवानां परोक्षकामत्वम् ।

तथा 'मे' 'उरु' अधिकम् 'अकरत्' अकार्षीदिति यद्-न्नवीत्, 'तस्मात्' उरुकरम्, त मेव देवाः 'उलूखल मिति परोक्षं भावयन्ते' । उदुम्बरस्योर्गात्मकत्वात्, उलूखलस्य च औदुम्बरत्वात् उरुकरणं पापन उदभावीदित्युक्तं च सम्यज्यते ।

\* 'कर्माचीत्यर्थः'—इति च-पाठः ।

† 'इतस्मात्सद्भावात्'—इति च-पाठः ।



उदुम्बरोलूखलशब्दौ उदोदरादित्वाद् \* भवते; करोतेच व्युत्पा-  
दनीयौ । 'अकारत्'-इति, "अहहृत्स्विभ्यश्चस्वीति चुरडादेयः†",  
"अहृद्योऽङि गुचः" ‡ । प्रकृतं मुलूखलं शिरोरूपेण प्रशंसति  
— "सैवेत्वादिना । शिरः 'सर्वेषां' 'प्राधान्याम्' इन्द्रियाणां  
'योनिः' खलु ; मुलूखापि शिरःप्रदेशत्वात् तत्रैव सर्वेन्द्रियाणां  
मुत्पत्तिः, तथा सति उलूखल मिति यत्, सैवापि सर्वेषां  
'प्राधान्यां योनिः' भवति ॥ २२ ॥

उलूखलश्च शिरस्त्राधर्म्यसम्पादनादेतदुपपद्यत § इत्येतत्  
प्रदर्शयति— "तदिति । 'तत्' उलूखलं 'प्रादेशमाचमं' 'चतुः-  
स्रक्ति' 'मध्ये' च 'सङ्गृहीतं' तनूकुतं 'भवति', शिरोऽपि तथैवेति  
सर्वप्राशियोनित्वं मुलूखलस्योपपद्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

उपसंहरति— "तं यच्च देवा इति । 'यत्र' यदा 'देवाः' 'तं'  
प्रजापतिं संस्क्रानयन्तः, तदेतस्मिन् 'प्राच मत्र मूर्धनम्'-इत्ये-  
तत् 'सर्वं' मध्यप्रदेशे निहितवन्तः; तस्मात् 'तथैव' 'अयं'  
यज्ञमानोऽपि अनेनोपधानेनैतत् 'सर्वं' सम्पादयति । रेतस्विषोः  
घृष्टिरूपेण मध्यत्वात् तस्मिन्प्रदेशे उपधाने देवा यथा मध्यतो-  
ऽद्भुः, तथैव 'अस्मिन् मध्यत एव' 'सर्वं' निदधाति ॥ २४ ॥

विहिते उलूखलमुससदोपधाने मन्त्रं विदधानो ध्यायति—  
"विष्णोः कर्माचोति ॥ । कर्मशब्देन शीर्षं विवक्षति । अतएव इ

† पा० सू० ६. ३. १०६ ।

† पा० सू० ३. १. ५६ ।

‡ पा० सू० ७. ४. १६ ।

§ 'सम्पादनं तु उपपद्यत'-इति अ-पाठः ।

| वा० सं० १३. ३३ ।

जनाः । 'विश्वोः' यज्ञस्य 'कर्माणि' वीर्याणि 'पश्यन्तः' इत्येतत्  
 उक्तं भवति । "यत इति । 'यतः' वीर्यतः 'व्रत'-शब्देनात्र  
 सुष्यते । 'व्रतानि' अत्रानि 'पश्यन्ते' स्थाशयाचक्षते, अर्शयमानस्य  
 अजनेनैभयामासेत्यर्थः । "स्यश्च वाधनस्यर्शनयोः"-इति \* धातुः ।  
 "इन्द्रस्येति । 'एवः' यज्ञः 'इन्द्रस्य' 'युज्यः' योग्यः 'सखा हि'  
 तस्य दक्षिणेतुत्वात् । अत इन्द्रस्य युज्यः सखेत्युक्तं मित्यर्थः ॥

उलूखलमुसलयोर्दित्वात् तदुपधानमन्त्रस्य द्विदेवत्वत्व सुप-  
 पन्न मिति दर्शयति— "द्विदेवत्ववेति । उलूखलमुसलयोः  
 सादनं पृथगेव कर्त्तव्यं मित्यत आह— "सन्नदिति ।  
 यतः 'एतत्' उलूखलं मुसलञ्च अन्नरूपेण 'समानं मेव', अतः  
 सादनं मपि सन्नदेव कर्त्तव्यं मिति । अनेनैव सिद्धेनोपधान-  
 मन्त्रस्यावृत्तिर्ज्ञायते ; यदि सुगपदुपधानं ज्ञात्, सन्नत् सादन-  
 षोष्येतेति । उत्तरवाक्यं व्याख्यातम् । अत्र कात्यायनः—  
 "उलूखलमुसले स्वयमादृशा सुत्तरैवारत्रिमात्रं श्रीदुध्वरे श्रीदेश-  
 माने चतुरस्रं सुलूखलं मध्यसङ्गृहीतं मूर्धं वृत्तं मुसलं दक्षिणं  
 सुलूखलाद्विश्वोः कर्माचोति १ ॥ २५ ॥

उलूखलमुसलोपधानानन्तरं सुखाया उपधानं विधत्ते—  
 "अवेति † । इट्काचित्तु विधास्यमानस्यान्नेरुखायां श्रुत्वोत्पा-  
 दनात् उखायाः योनित्वेन ‡ तदुपधाने योनेरेवोपधानं भवती-

\* भा० उ० ८८७ धा० ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. ४ ।

§ 'उखायोनित्वेन'—इति ज-प्राठः ।

त्वाह— “योनिर्वा इति । विहित सुपधान सुलूखले कर्त्तव्य  
 मित्वाह— “ता मिति । तत्रोपधानं प्रयंसति— “अन्त-  
 रिचं वा इति । ‘यत्’ किं अपि वस्तु, ‘अस्माः’ दृष्टिभ्याः ‘जहंम्’  
 उपरि अवस्थितम्, तत् सर्वम् ‘अन्तरिच मेव’; ‘अन्तरिचं’ च  
 यावाद्दृष्टिभ्योः अन्तराले अवस्थानात् ‘मध्यं हि’; ततःसो-  
 खलस्यापि दृष्टिभ्या उपर्यवस्थानेन मध्यभूतान्तरिचामक-  
 त्वात् तत्रोपधाने मध्यभागे एव योनिरुपधानं भवति ।  
 ‘मध्यतः’-इति; सार्वविभक्तिकस्तसोति \* सप्तम्यर्थे तसिः ।  
 दृष्टानुसारेणोक्त मध्यं प्रमाच्यति— “तस्मादिति । ‘वन्स्यतीना-  
 मपि’ बीजानां मध्यभागं भिस्त्रोपकत्वात् † ‘मध्यतो योनिः’  
 इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अथोखायाः प्रजापत्यात्मकत्वेनोल्खले उपधानं प्रयं-  
 सति— “यदेवोखा मिति । “स इति । प्रजासर्जनेनावयव-  
 विच्छेपदंशपक्षः परावृश्यते—‘सः यः’ । ‘सः’ प्रजापतिः ‘व्यसंसत’  
 विस्रस्तावयवोऽभूत् । ‘सा उखा’ । वेति स्त्रीलिङ्गं सुभाषेचया ।  
 अतः प्रजापतेरेतन्नोक्तत्रयात्मकत्वात् ‘एषा’ ‘उखा’ अपि, ‘इमे’  
 दृष्टिभ्यादयो ‘सोकाः’ । तथा सति प्रजापत्यात्मिकाया उखाया  
 उल्खले उपधानेन विस्रस्ताङ्गं प्रजापतिम् ‘एतस्मिन् सर्व-  
 स्मिन् प्रतिष्ठापयति’ । तदेव प्रदर्शयति— “प्राचेऽव जर्झीति ।  
 उल्खलस्य श्रीदुम्बरत्वेन तस्य चाक्षरसामकत्वाद्दक्षरत्वेन च

\* “इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते” -इति पा० न० ५. ३. ५४ ।

† ‘मध्यभागत उपपत्तेः’-इति च-पाठः ।

प्राधान्यां धारणात् प्राणान्कत्व मनुसन्धेयम् । प्राणाव्योर्जां  
परस्परं ग्रहणं मुक्तम्, न केवलम् प्रतिष्ठापनमात्रम् ;  
अपि तु अश्वधानेन तत्सम्बद्धं मेव कुर्यादित्याह— “अथो  
इति ॥ २७ ॥

उपशयानामोखाभिदे सति तदप्रतिसम्भानार्थं प्रागवशीविता  
मन्त्रसंस्कृता मृतम् । तां चूर्णीकृत्योखायाः पुरोभागे निदध्या-  
दित्याह— “अथेति । ‘उखां लोक भाजं’ स्थानभाजं उलू-  
खलभाजिनीं कृत्वेत्यर्थः । उखाभिदेप्रतिसम्भानार्थत्वादुपशया-  
यास्तपुरोभागे अश्वकाशः, अतस्तत्रोपनिवापेन स्वावकाशस्वा-  
प्यवहिता भवतीत्याह— “एष हैतस्या इति ॥ २८ ॥

इष्टकोपधानप्रदेशे पक्वानां भवोपधानात्, उपशयाया-  
द्यापकत्वात् कथं अत्रोपधानं युज्यत इति याज्ञिकानां जिज्ञा-  
सा भवतारयति— “तदाहुरिति । “अस्येति । उपधान-  
प्रदेशावकाशस्वेत्सर्वः । मृतं मिति पाकविशेषाभिधानात्  
‘पक्वा मृता’-इति न पुनरुक्तिः । अथवा पाकेन मृता सती-  
त्यर्थः । एतस्मिन्नेषां हेधा दर्शयति— “यदेवेत्यादिना । ‘एषा’  
उपशया नाम ‘यजुश्कृतेति यत्’, तेन असौ पक्वा मृता  
च भवति । मन्त्रेषां ह्येतैव मृदुपशया क्रियते, अतस्तस्याः  
मन्त्रेषु निष्पादनादेव ऽपाकसम्पत्तिरित्यर्थः । किञ्च ‘यत्’  
किञ्चिदपि बलु ‘एनं वैश्वानरं, मग्निम्’ इष्टकोपधानसंस्कार-  
कार्यं प्राप्नोति, ‘तत्’ सर्वं ‘तत एव’ तन्नामेरेव ‘पक्वं मृतं’  
सदेव ‘उपहितं भवति’ ॥ २८ ॥

उखोपधाने ध्रुवासीति, इष्टुं राय इति च, ही मन्त्री विद-

धानो व्याचष्टे—“भुवासीत्वादिनाम् ॥ “भुवासि प्रवृत्तेः ॥  
 व्याख्यानम्—“भुवासीति स्मिरासि”-इत्यादिना प्रागुक्तम् ॥  
 “एभ्य इति । प्रथमतो वदुःखायाः जनित्वा, पश्चात् ‘एतेभ्यो’  
 योनिभ्यः’ लोकेभ्यः ‘जातवेदा अजायत’, पतयामु मर्षन् “इत  
 इत्यादिमन्त्रभागो ब्रूते इत्यर्थः । ‘एतैः’ गायत्र्यादिभिः ‘हृन्दो-  
 भिः’ स ईषोऽग्निः स्नाधिकारं जानन्, ‘इव्यं ववृति’ खलु ।  
 हृन्दसां इविर्वहनं तैत्तिरीयके श्रूयते—“हृन्दांसि देवेभ्योऽपा-  
 न्नामन् वो भामानि इव्यन् वक्षाम इति § ॥ ३० ॥

“इवे राय इत्यादिना ॥ इट्प्रभृतिभ्यः सर्वेभ्यो रमस्ते-  
 लदुमं भवतीति व्याचष्टे—“एतस्मा इति । यत इय सुखा  
 सम्ययाजते, स्वयमेव राजते, अतः “सन्नाडसि स्मराडसीति  
 मन्त्रभागो ब्रूते-इति व्याचष्टे—“सन्नाडसीति । “सारस्वताविति ।  
 ‘सरस्वान् मनः’ उच्यते, ‘सरस्वती च वाक्’, ‘एतौ’ ‘सार-  
 स्वती’-इति स्नाधिकारोऽप्युक्तः । ‘उक्षौ’ वारिप्रवाहौ, वास-  
 नसाधकौ । मनसस्तावत्, सर्वथाकार्यपरिज्ञानरसाधारत्वात्,  
 चाचक्ष तन्मतिपादनरसाधारत्वात्, उक्तस्व मनयोः । ‘ती’  
 ‘त्वा’ ‘प्रावृता’ पासयतां अभिज्ञानवदनव्यापाराभ्यामित्यर्थः ॥  
 ३३ उच्ये ! त्वं ‘भुवा’ स्मिरा ‘सि’, ‘वदुःखा’ चादिभ्यो

० का० मी० ख० १०. ५. ३ ।

१ वा० सं० १३. ३३ ।

२ पुरस्ताद्विधेय १०१ पृ० ७ वं प्रत्ययम् ।

३ ते० सं० ५. १. १. ४ (५भा० १२ः) ।

४ वा० सं० १३. ३५ ।

च 'असि' । 'जातवेदाः' 'व्रतः' त्वत्तः सकामान् 'प्रथमम्'  
 'अधिजन्ने', पश्चात् 'एभ्यः' लोकेभ्यः अधिजातः । 'सः' तथा-  
 विधी जातवेदाः नायत्रादिभिन्द्स्त्रीभिः सह स्वाधिकारं  
 'ब्रह्मानम्' 'देवेभ्यः' इविः 'वहतु' धारयतु ॥ (१) किञ्च स्वम्  
 'इवे' अवाय, 'राये' धनाय, 'सहवे' वलाय, 'सुक्ते' सुक्त्वं  
 यमः तस्मै, 'अर्जे' पयोदध्वासुपवेचनाय, 'अपत्याय' पुत्रार्थञ्च  
 'रमस्व', तत् सर्वं सम्पादयितु मभिरतिं कुर्व । त्वं सम्भन्  
 राजमानाऽसि, स्तेनैव राजमानासि त्वाञ्च वाङ्मनस्वरूपी 'उक्ती'  
 प्रकर्वेच पालयताम् ॥ (२) इति मन्त्रद्वयस्वार्थः \* ।

अत्र कात्यायनः— "उलूखले उखां क्तलोपग्रयां पिष्टा  
 न्युप्य पुरस्तात् ध्रुवासीत्सुखा मिति † । अथ "अधोपग्रयां  
 पिष्टेत्वादिश्रुतिक्रमिचानुष्ठानम् ‡ । उपग्रयोपनिवापोत्तरकाण्डञ्च  
 मन्त्रवचनम् । उपधानमन्त्रयोर्द्वित्वसङ्ग्राया व्याख्यानं प्रागुक्त  
 मित्वाह— "हाभ्या मिति । किञ्च अत्रिरेव स्त्रिक्रयात् सदा  
 क्तत्वाद्दुष्कायां स्रुचापश्चेति द्विविधं रूप मस्ति, अतश्च  
 तदुपधानमन्त्रयोर्द्वित्वं सुपपद्यत इत्याह— "अधो इति । उत्तर-  
 वाक्यं तु व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

उपधानानन्तरं सुखावा उपरि होमं विधत्ते— "अधीति § ।  
 अभिहोमस्त्रीपयोग माह— "एतदा इति । मित्वा वाक्य-

\* वा० सं० १३. ३३, ३५ ।

† वा० मी० अ० १०. ५. ४ ।

‡ पुरकारिहोवाहाविंशो कर्त्तौ (३३३ ए०) इत्यष्ट ।

§ वा० मी० अ० १०. ५. ५ ।

मेतत् । 'एतत्' कसु समभूत् । तदेवाह— "अथा मेतत् पूर्वं  
 रेतस्सिद्धं भवति सिक्ता इति । पूर्वं अथा कुशाया मेतत्रेतः  
 सिद्धं भवति । सिक्ता इत्येतदिति निर्दिष्टप्रदर्शनम् । अन्वुदाप-  
 समनमद मेव कुशायाः सिक्ताभिः पूरितत्वात् तत्रेत इति-  
 वाभिहोमिन 'अभिकरोति' अभिवर्षयति । अत एव 'तज्जात्'  
 इदानीं 'योनी सिक्त' रेतः 'अभिम्लियते' अवयविरूपेण म्लियते  
 इत्यर्थः । विहितोऽभिहोमः 'आज्येन', 'सुवेच', 'साहा कारिच'  
 'हाभ्या माज्येयोभ्यां मायत्रीभ्यां' कर्त्तव्य इत्याह— "आज्ये-  
 नेत्यादिना । आज्यसुवाद्यर्षपादसु प्रागुक्त इत्याह— "तज्जोक्तो  
 कश्चुरिति । "हाभ्या मित्वादिना ॥ ३२ ॥

उक्ते ऋची. प्रदर्शनम् तयोर्युजिधातुसम्बन्धं प्रयच्छति—  
 "अज्ये कुशाहोति \* । 'जुक्तयोभ्यां' युजिधातुमतीभ्या मित्त्वर्थः ।  
 'एतत्' इतिनोपधानसम्बन्धयोर्बुजिधातुसम्बन्धेन 'योनी' सिक्तं  
 'रेतः' 'जुनक्ति' म्लियच्छति । 'तज्जात्' इदानीं 'योनी'  
 सिक्तं 'रेतः' अवयवोत्पादनार्थं 'जुक्तं' कसु 'न म्लियच्छते' न म्लिय-  
 तति, तन्निवापतिष्ठत इत्यर्थः ॥

अज्यवेरसु— इ 'अज्ये' 'इच' दानादिमुचयिषिष्ट !  
 'तव' 'इ' 'अज्यासः' अज्याः 'साज्यः' जातिमुचयमभिताः  
 कश्चि । 'अज्यासः'—इति "अज्यवेरसुक्" † । तन् 'जुक्त्वा  
 इ' जुक्त्वा । "वपुर्वं इन्दुसि"—इति ‡ विकारवत्सु हुम्,

\* पा० अ० १३ ३६, ३० ।

† पा० अ० १. ५० ।

‡ पा० अ० २. २. ७२ ।

“इयथोऽतस्त्रिभुवः”-इति \* दीर्घः । एवं च इति ‘क्षि’ चक्ष्माः  
‘अक्षये’ यच्चाद्यन् ‘अरन्’ अक्ष ‘वहन्ति’ वक्षन्ति । वर्त्तमान-  
सामीप्ये भविष्यदर्थे षट् ॥ (१)

इ ‘अक्षे !’ ‘देवज्ञतमान्’ देवानाङ्गयन्तीति देवदुवः । त्रिभु-  
वत्स्य सम्प्रसारणे कृते रूपम् । अतिशयेन देवदुवः देवज्ञत-  
माक्षानम्मान् ‘निमुञ्क्ष’ । क इव ? ‘रथीरिव’ रथिक  
इव । ईकारो मत्वर्थीयः । ‘क्षि’ यक्षादेवम्, अतः ‘सदः’  
सदक्षि । विभक्तिव्यत्ययः । ‘पूर्वः’ अग्निः, वो ज्येता सन्निवी-  
देदिति श्रेयः (२) ॥ ३३ ॥

उच्चाया मन्त्रेः संवत्सरभरणम्, असंवत्सरभरणं वेति पञ्च-  
दशमक्षि, तत्र प्रथमोऽभिहीम इत्याह— “च व्रदीति । ‘सः’  
अग्निः ‘सदि’ उच्चायां च ‘संवत्सरधृतः स्रजत्’, ‘अथ’ एतस्याम्  
‘अभिमुहुयात्’ । संवत्सरस्य सर्वावच्छेदकत्वात् संवत्सरधृतोऽपि  
सर्वात्मकः, अभिहीमश्च सर्वः ; तेन छास्त्रतायाः स्वभ्याद्वेनात्  
अतः संवत्सरभरणपक्षेऽभिहीमो युज्यत इति दर्शयति । असं-  
वत्सरभरणपक्षे किं कर्त्तव्यं मिति तन्नाह— “अथ व्रदीति \* ।  
असंवत्सरधृतस्य पूर्वोक्तविपर्ययेवासर्वात्मकत्वादुपख्यानस्य चाही-  
मानकत्वेनानुकल्पत्व मिति । असर्वात्मकत्वात् तस्मिन् पक्षे  
तदेतदेव युक्तं मित्वाह— “असर्वं वा इति । अस्मिन् पक्षे-  
ऽभिहीमं विकल्पेनाह— “अभि” त्वेन मुहुवादिनि । स्वकासे-

\* पा० अ० ५. ३. १३५ ।

‡ पा० अ० ३. ३. १३१ ।

‡ सा० श्रौ० १७. ५. ६ ।



इत्तं विकल्पयित्वाः । “उपस्त्रानं वाऽसंवल्लरधृतिनः”—इति \*  
 द्वि सूत्रम् । संवल्लरधृतिनो होमवन्नियमेन तूपस्त्रानम् ; इतरक्ष  
 तु विकल्पः । उपस्त्रानं होमो वेति सिद्धोऽर्थः ॥ १४ ॥

अथ चित्वाग्नेः स्वयमाहवादिषु चयोद्गमस्त्रिकासु कृत्वा-  
 पञ्चाकारत्वं सम्पादयितुम् ( आह— “पश्यरेव वदन्मिरिति ।  
 “स)† एतान् पञ्च पशून् प्राविशत्, स एते पञ्च पशवो-  
 ऽभवत्”—इत्युक्त मन्त्रेः पञ्चाकारत्वं । ‘सः’ पञ्चाकारोऽग्निः  
 ‘अत्रैव’ उवाहो स्वयमाहवादाविष्टकाकलापि ‘सर्वः’ कृत्वाः संकृ-  
 तः । कथं मित्त्वपेक्षायां तं मिष्टकाकलाप मङ्गत्वेन सम्पादयति,  
 —‘तस्मावाह् प्राचः’—इत्यादिना । ‘स्वयमाहवा’ इष्टका, तस्य  
 पञ्चाकारत्वाग्नेः ‘अवाह् प्राचः’ अपानाश्वः ; पश्चाद्भागस्त्रिति-  
 सामान्यात् । ‘द्वियसुः’ इष्टका, ‘त्रोषो’ कटी ; तदानन्तर्यात् ।  
 ‘रितस्त्रिषो’ इष्टके, ‘दृष्टयः’ महान्ति पार्श्वीणीनि । ‘विश्वज्योतिः’  
 इष्टकर, ‘कोकसाः’ कृत्वापार्श्वीणीनि । ‘अतस्ये’, ‘कपुड’, गस-  
 प्रदेयतः पश्चात् छठदेये अवस्थित उक्ततावयवः । ‘अषाठा’,  
 ‘शीवाः’ कम्भराः । ‘कूर्मैः’, ‘शिरः’ । ‘कूर्मैः’ द्वे प्राचाः, ‘ते’  
 ‘शीर्वन्’ शीर्विःयाः ‘प्राचाः’ ; ‘ते’ चक्षुरादय इत्यर्थः ॥ १५ ॥

एव मन्त्रेः कृत्वाकृत्वं प्रतिपाद्य, आदित्वाकृत्वं सूक्ष्मवयनेन  
 प्रतिपादयति— “तं वा एतं मिति । ‘तं मितं’ चित्वा मन्त्रिन्  
 ‘इतः’ अवाचः प्राचादारभ्य आ-शिरर्षः ‘अर्षु’ प्रागपवर्षे चिन्वि-

\* का० श्री० छ० १७. ५. ६ ।

† एतावान् पाठः सर्वेभ्यो मद्दृष्टेयु पुंलक्षेण वा—पैवरुड-  
 पुंलक्षेण च विनष्ट इव प्रतीयते ।

ति' । किं मत इत्थेकेनाग्निनादित्यता माह— “असी वा आदित्य एवोऽग्निरिति । “असुं तदिति । इतो लोकाः भूराद्याः 'असु मादित्यम्' 'जहुं' 'प्राचं' प्रागचन' 'दधाति' क्वापयति । 'तस्माद्' एव यन्नानुकरणाद् 'असावादित्यः' 'इतः' पृथिवीलोकान् 'जहुः' 'प्राङ्' 'धीयते' धार्यते, लोकैरिति शेषः ॥ ३६ ॥

अथ प्रदक्षिणावर्त्तनं विधत्ते— “अथैन मिति । 'अथ' अन्तरम् 'एनम्' आदित्यभूतं स्वयमाहवाद्यात्मक मन्त्रिं 'प्रसलवि' प्रदक्षिणं 'आवर्त्तयति' आवर्त्तते । अवाठां पूर्वार्धे उपधाय तस्याः दक्षिणतः कूर्मं सुपपदधाति, ततः स्वयमाहवाद्या उत्तरतः उलूखलमुसले, तत्रैवोष्ठा सुपदधातीत्येव भावर्त्तयति । 'तत्' तेन प्रदक्षिणावर्त्तनेन 'असुम्' आदित्यं प्रदक्षिणं भावर्त्तयति । 'तस्मात्' यन्नानुकरणात् 'असावादित्यः' 'इमान् लोकान्' तथैव सञ्चरति ॥ ३७ ॥

प्रकारान्तरेव उलूखलमुसलयोरीत्तराधर्यं प्रशंसति— “उदर मुखेति । उखायाः सकाशात् \* अन्वेदत्यन्तेः 'उखां' 'उदरम्', 'उलूखल' तु इविर्निष्पादनात् 'योनिः' । तथा च लोके, —उदरयोन्धोरीत्तराधर्यादनयोरपि तदात्मकयोरीत्तराधर्यं सुपपन्न मित्यर्थः । मुसलस्य उदुलूखलदक्षिणभागे उवधानं सोपपत्तिक माह— “अत्र मिति । अत्रस्य वृत्ताकारितया तदाकारत्वेन † मुसल मपि 'अत्रम्' । तथाविधम् उलूखलस्य

\* 'अस्मात्'—इति ज-पाठः ।

† 'तदाकारत्वेन'—इति ज-पाठः ।

दक्षिणभागे उपदधात् । लोके दक्षिणभागे 'उवा' वर्ध-  
समर्थः पुत्रवः 'बोवा सुपथेते', अतवासापि \* वर्धसमर्थत्वेन  
उपत्वात्, उलूकस्य योनित्वेन लीलात्, दक्षिणभागेऽस्य  
उपधाम सुपथम् † ॥

उक्त निवाजेः पञ्चरूपत्वं प्रकारान्तरेण द्रष्टव्यम् । "अदु  
पञ्चोरिति । "अन्निरिति । 'यत् यतः, एव पञ्चः अदु, तथैव  
प्रागुक्तत्वात्; अतश्च पथोः अन्निरूपस्य संस्कृतस्य पञ्चमयव-  
सम्पादनाय ‡-निष्पादितस्य 'यदन्नम्', 'तद् दूर्वेष्टका' । तस्मात्  
'तस्य' दूर्वेष्टकारूपेणात्मेन सुहितस्यैतस्यान्निरूपस्य पथोऽन्तरभान  
'उदाहिततरः' उन्नततरो भवति; उत्तरभागे एव उलूकस्य-  
सुसंसाद्युपधामात् । उक्त मर्थं प्रमाचयति— "तस्मादिति ।  
यतोऽन्निरूपस्य पथोः दूर्वेष्टकात्त्वेन सुहिततरस्योत्तरभान  
उन्नततरोऽभूत्, तस्मादिदानी मपि लोके उवायभ्यवहारिण उक्तस्य  
'पथोऽन्तरः सुहिततरतरो भवति' ॥ ३८ ॥ १ [५. १.] ॥

इति त्रीन्नायवाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्वन्दिनमतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमोऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* 'अस्य'—इत्थेन मेव पदं सिद्धं अ-पुस्तके ।

† 'लीलात्तदुपपन्नम्'—इत्थेनेह अ-पाठः ।

‡ 'सम्पादनाय'—इत्थेन पाठो अ-पुस्तके ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

पशुशीर्षाण्युपदधाति । पशवो वै पशुशीर्षाणि  
 पशुनेवैतदुपदधाति तान्युखाया मुपदधातीमे वै  
 लोका उखा पशवः पशुशीर्षाण्येषु तल्लोकेषु पशुन्  
 दधाति तस्मादिमं ऽएषु लोकेषु पशवः ॥ १ ॥

यद्देवोखायाम् \* । योनिर्त्र्या ऽउखा पशवः पशु-  
 शीर्षाणि योनौ तत् पशुन् प्रतिष्ठापयति तस्मात्-  
 दद्यमानाः पच्यमानाः पशवो न क्षीयन्ते योनौ  
 ज्ञेयान् प्रतिष्ठापयति ॥ २ ॥

यद्देव पशुशीर्षाण्युपदधाति । या वै ताः श्रिय  
 एतानि तानि पशुशीर्षाण्यथ + यानि तानि कुसि-  
 भान्येतास्ताः पञ्च चितयस्तद्यास्ताः पञ्च चितय इमे  
 ते लोकास्तद्ये त ऽइमे लोका एषा सोखा तद्य-  
 दुखायां पशुशीर्षाण्युपदधात्तेरेव तच्छीर्षाभिरेवानि  
 कुसिभानि सन्दधाति ॥ ३ ॥

\* 'यद्देवोखायाम्'—इति क ।

† 'पशुशीर्षाण्यथ'—इति क ।

तान् पुरस्तात् प्रतीच उपदधाति । एतद्दे-  
 वचेतान् प्रजापतिः पशूनालिप्सत त्वालिप्सु-  
 माना उदचिक्रमिषंस्तान् प्राचेषु समगृह्णातान्  
 प्राचेषु सङ्गृह्य पुरस्तात् प्रतीच आत्मन् धत्ते ॥ ४ ॥

तदा एतत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं  
 न्वस्मात् पशवो नोच्चिक्रमिषन्ति यत्सेतत् करोति  
 यद्देवा अकुर्वन्स्तत् करवाचीत्वयो \* प्राचेष्वेवैनानेतत्  
 सङ्गृह्य पुरस्तात् प्रतीच आत्मन् धत्ते ॥ ५ ॥

यद्देव पशुशीर्षास्वुपदधाति । प्रजापतिर्व्यां  
 ऽद्द मय ऽचासीदेक एव सोऽक्वामयतान् सृजेय  
 प्रजाथियेति स प्राचेभ्य एवाधि पशुन्निरमिमीत  
 मनसः पुरुषं चक्षुषोऽश्वं प्राचाद्वाऽ श्रीवाद्दुवि  
 व्याचीऽश्वं तद्यदेनान् प्राचेभ्योऽधि निरमिमीत  
 तस्मादाहुः प्राचाः पशव इति मनो वै प्राचानां  
 प्रथमं तद्यन् मनसः पुरुषं निरमिमीत तस्मादाहुः  
 पुरुषः प्रथमः पशूनां स्वीर्यवत्तम इति मनो वै

\* 'करवाचीत्वयो' - इति ख ।

सुर्वे प्राणा मनसि हि सुर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिता-  
स्तद्यन् मनसः पुरुषं निरुमिमीत तस्मादाहुः पुरुषः  
सुर्वे पशुव इति पुरुषस्य श्चैवेति सुर्वे भवन्ति ॥  
॥ ६ ॥

तदेतद्ब्रह्म सृष्टा । पुरस्तात् प्रत्यगात्मब्रह्मत्त  
तस्माद्यः कश्चान् सृजते पुरस्तादेवैनत् प्रत्यगात्मन्  
धत्ते तद्वा उखाया मुदरं वा उखीदरे तद्ब्रह्म  
दधाति \* ॥ ७ ॥

अथैह हिरण्यकलान् प्रत्यस्यति । प्राणो वै  
हिरण्य मथ वा ऽपतेभ्यः पशुभ्यः सञ्जप्यमानेभ्य एव  
प्राणा उत्क्रामन्ति तद्यहिरण्यकलान् प्रत्यस्यति  
प्राणानुवैध्वेतद्दधाति ॥ ८ ॥

सप्त प्रत्यस्यति । सप्त वै शीर्षन् प्राणास्तान्-  
स्मिन्नैतद्दधात्यथ यदि पञ्च पशुवः स्युः पञ्चैव कृत्वः  
सप्त-सप्त प्रत्यस्येत्यञ्च वा ऽपतान् पशुनुपदधाति सप्त-  
सप्त वा ऽएकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सुर्वेषु  
प्राणान् दधाति ॥ ९ ॥

\* 'दधाति'—इति क ।

तद्येकेऽपि । यद्येकः पशुर्भवति पक्षैव कृत्वः  
सप्त-सप्त प्रत्यस्यन्ति पक्ष वा ऽएतान् पशुनुपदधाति  
सप्त-सप्त वा ऽएकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु  
प्राणान् दध इति न तथा कुर्यादेतस्मिन् वै पशौ  
सर्वेषां पशूनां रूपं तद्यदेतस्मिन् प्रत्यस्यति  
तदेषु सर्वेषु प्राणान् दधाति \* ॥ १० ॥

मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति । सम्यक् स्रवन्ति सरितो  
न धेना इत्यन्नं वै धेनास्तदिदं सम्यक्मुख मभि-  
सृष्ट्वन्वत्यन्तर्दृष्ट्वा मनसा पूयमाना इत्यन्तर्बे  
हृदयेन मनसा सताकं पूतं य ऋजुस्तस्य घृतस्य  
धारस्य अभिचाकशीमीति वा एवैतस्मिन्नग्नावाहुतौ-  
र्हीष्यन् भवति ता एतदाह हिरण्ययो ज्योतसो  
मध्ये ऽचनेरिति य एवैष हिरण्यमथः पुरुषस्त मेत-  
दाह ॥ ११ ॥

ऋचे त्वेतीह । प्राची वा ऽऋक् प्राचेन सृष्टति  
ऋचे त्वेतीह प्राची वै ऋक् प्राचेन हि रोचतेऽथो

प्राणायुः शीदुः सर्वुः रोचते भासि त्वेतीह ज्यो-  
 तिषि त्वेतीह भासती हीमे ज्योतिष्मती चक्षुषी  
 ऽपभूदिदं विप्रस्य भुवनस्य व्याजिन मन्वेवैश्वान-  
 नरस्य चेतोहानिर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् कस्मो  
 व्यर्षसा व्यर्षस्वानितीह विप्रस्वावतीभ्यां विप्रुः हि  
 श्रोत्रम् ॥ १२ ॥

अथ पुरुषशीर्षं मुदृष्टव्वाति । मह्यत्वेवैनदेतत्  
 सहस्रदा असि सहस्राय त्वेति सर्व्वं वै सहस्रुः  
 सर्व्वस्य दातासि सर्व्वस्मै त्वेत्वेतत् \* ॥ १३ ॥

अथैनानुपदधाति । पुरुषं प्रथमं पुरुषं तद्  
 वीर्येवाप्ता दधाति † मध्ये पुरुष मभित इतरान् पशून्  
 पुरुषं तत् पशूनां मध्यतो ऽस्तरं दधाति तस्मात्  
 पुरुष एव पशूनां मध्यतोऽस्ता ‡ ॥ १४ ॥

अश्वं चाविं चोत्तरत § । एतस्वां तद्दिश्येती

\* 'त्वेत्वेतत्'—इति म, च ।

† 'वीर्येवाप्ता दधाति'—इति अ-पुस्तके, इतरान् वा०-वेषरमहोदयेनापि ।

‡ 'मध्यतोऽस्ता'—इति ग, च ।

§ 'चोत्तरतः'—इति क, ख ।



पशु दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येती पशु भूविष्टी  
॥ १५ ॥

गां चार्ज च दक्षिणत \* । एतस्यां तद्दिश्येती  
पशु दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येती पशु भूविष्टी  
॥ १६ ॥

पयसि पुरुष मुपदधाति । पशवो वै पयो  
यजमानं तत् पशुषु प्रतिष्ठापयत्वादिहं गर्भं पयसा  
समङ्गधीत्यादित्यो वा ऽएष गर्भो यत् पुरुषस्तं  
पयसां समङ्गधीत्येतत् सहस्रस्य प्रतिमां विश्व-  
रूप मिति पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा पुरुषस्य ह्येव  
सहस्रं भवति परिहृङ्गिध इरसा माभिमंस्या इति  
पर्येनं अङ्गधर्षिषा मेनं इत्सीरित्वेतत्तयुषं  
ह्यबुधि चीयमान इति पुरुषं तत् पशुनां शतायुं  
करोति \* तस्मात् पुरुष एव पशुनां शतायुः ॥  
॥ १७ ॥

अथोत्तरतोऽश्वम् । . अतएव जूत मिति आ-

\* 'दक्षिणतः' - इति च , अ ।

तस्य वा ऽएष जूतिर्यदुश्वो व्यरुणस्य गाभि मिति  
 व्यारुणो अश्वोऽश्वं जज्ञानः सरिरस्य मध्व  
 ऽश्वत्वापो वै सरिर मसुजा उ वा ऽश्वश्वः शिशुं  
 नदीनाः हरि मद्रिवुध मिति गिरिर्वा ऽश्वद्रिर्गिरि-  
 बुधा उ वा ऽचापोऽग्ने मा हिःसीः परसे व्योम-  
 म्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकेष्वेनं मा  
 हिःसीरित्वेतत् \* ॥ १८ ॥

अथ दक्षिणतो गाम् + । अजस्र मिन्दु मरुषं  
 मिति सोमो वा ऽइन्दुः स वैष सीमो ऽजस्रो  
 यद्गौर्भुरखु मिति भर्तार मित्वेतदग्निमीडे पूर्व-  
 चित्तिं नमोभिरित्वाग्नेयो वै गौः पूर्वचित्ति मिति  
 प्राञ्चः अग्नि मुहरन्ति प्राञ्च मुपचरन्ति स पर्वभि-  
 र्कर्तुशः कल्पमान इति यद्वा ऽएष चीयते तदेष  
 पर्वभिकर्तुशः कल्पते गां मा हिःसीरदिति वि-  
 राज मिति विराड् वै गौरन्नं वै विराडन्नं सु  
 गौः ‡ ॥ १९ ॥

\* 'रित्वेतत्'—इति ग, घ ।

† 'गाम्'—इति ग, घ ।

‡ 'गौः'—इति ग, घ ।

अधोत्तरतोऽविम् । अरुचीं त्वष्टुर्व्यरुचस्य  
 चाभि मिति आरुची च हि त्वाष्ट्री चाविरुचिं  
 अज्ञानाए रजसः परस्मादिति श्रोत्रं वै परे रजो  
 दिशो वै श्रोत्रं दिशः परे रजो महीए साहस्री  
 मसुरस्य माया मिति महीए साहस्री मसुरस्य  
 माया मित्तेतदने मा हिप्सीः परमे व्योमन्निती-  
 ने वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकीष्वेन मा हिप्सी-  
 रिच्छेतत् \* ॥ २० ॥

अथ दक्षिणतोऽजम् † । यो ऽचन्निरन्नेरधु-  
 चायतेत्यन्निर्वा ऽएषो ऽन्नेरधुजायत शोकात्  
 पृथिव्या उत वा दिवस्परीति यद्दे प्रजापतेः शोका-  
 दजायत तद्विषय पृथिव्यै च शोकादजायत येन  
 प्रजा अश्लक्ष्णानां अजानेति व्याम्ना ऽचजो व्याचो  
 वै प्रजा अश्लक्ष्णानां अजान त मन्ने ईडः परि ते  
 व्युत्पत्तिरिति यथैव बहुस्तथा बभूवुः ॥ २१ ॥

\* 'रिच्छेतत्'—इति न, च ।

† 'अजम्'—इति न, च ।

तु ऽएते पशवः । तान्नानोपदधाति नाना  
सादयति नाना सूददीहसाधिवदति नाना श्येते  
पशवः \* ॥ २२ ॥

अथ पुरुषशीर्षं मभिजुहोति । आहुतिर्वै यज्ञः  
पुरुषं तत् पशूनां यज्ञियं करोति तस्मात् पुरुष  
एव पशूनां यजते ॥ २३ ॥

बृहवैनदभिजुहोति । शीर्षंस्तद्वीर्यं दधात्या-  
ज्येन जुहोति व्व्यञ्चो वा ऽप्राञ्चं व्वीर्यं वै  
व्व्यञ्चो व्वीर्यं मेवास्मिन्नेतद्दधाति स्वाहाकारेणं व्वृषा  
वै स्वाहाकारो व्वीर्यं वै व्वृषा व्वीर्यं मेवास्मिन्नेतद्  
दधाति त्रिष्टुभा व्व्यञ्चो वै त्रिष्टुब् व्वीर्यं वै व्व्यञ्चो  
व्वीर्यं त्रिष्टुब् व्वीर्यं मेवास्मिन्नेतद् व्वीर्यं दधाति ॥  
॥ २४ ॥

स वा ऽपहर्षं मनुद्रुत्य स्वाहाकरोति । अस्थि  
वा ऽरुगिदं तच्छीर्षकपालं विश्राप्य बृदिद् मन्तरतः  
शीर्षो व्वीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥ २५ ॥

अथोत्तर मर्षञ्च मनुद्गत्य स्वाहाकरोति । इदं  
तच्छीर्षकपालं सभ्याय यदिद् मुपरिष्ठाच्छीर्षी  
क्षीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥ २६ ॥

अथ देवाना मुदगादनीक मिति । असी वा  
ऽथादित्य एष पुरुषस्तदेतच्चित्रं देवाना मुदेत्यनीकं  
अथुर्मित्तस्य व्यरुचस्याग्नेरित्यभयेषां हैतद्देवमनु-  
ष्याणां अथुराप्रा द्यावापृथिवी ऽपन्तरिक्ष मित्तुयान्  
वा ऽएष इमाँल्लोकानापूरयति सूर्यं चात्मा जग-  
तस्तत्सुपशेत्सेषु अस्तु सर्वस्वात्मा अथ जगदाथ  
तिष्ठति ॥ २७ ॥

अथोत्सर्गेरुपतिष्ठते \* । ऽएतद्देवैतान् प्रजापतिः  
पशुनालिप्तत त ऽथालिप्समाना अथोचक्षेष्वा  
मेतैरत्सर्गेः शुचं पाप्मानं मपाशंस्यैवैषा मथ मेतदेतै  
रत्सर्गेः शुचं पाप्मानं मपशन्ति ॥ २८ ॥

तद्देवैः । अं य मेव पशु मुपदधति तस्य  
तस्य शुचं मुत्पशन्ति मेऽशुचं पाप्मानं मभ्युपदधा-

महा ऽद्भुति ते इ ते शुचं पाप्मानं मय्युपदधति  
यां हि पूर्वस्य शुचं मुत्सृजन्ति ता मुत्तरेण सही-  
पदधति ॥ २६ ॥

व्यपिरिक्तामसु हैक ऽउपतिष्ठन्ते । जर्हां  
शुचं मुत्सृजाम इति ते इ ते शुचं पाप्मानं मनूय-  
न्त्यूर्ध्वं ह्येतेन कर्मणोत्सृज्वां मु शुचं मुत्सृजन्ति ॥  
॥ ३० ॥

वाङ्मनैवान्नि मुत्सृजत् । इमे वै लोका एषी  
ऽग्निरेभ्यस्तुल्लोकेभ्यो बहिर्वा शुचं दधाति बहि-  
र्व्येदीयं वै व्येदिरस्यै तद् बहिर्वा शुचं दधात्युदङ्  
तिष्ठन्नेतस्यां इ दिश्येते पशवस्तद्यवैते पशव-  
स्तदेवैष्वेतच्छुचं दधाति \* ॥ ३१ ॥

पुरुषस्य प्रथमं मुत्सृजति । तं हि प्रथमं  
मुपदधातीमं मा हिंसीर्दिपादं पशु मिति द्विपादा  
ऽएष पशुर्यत् पुरुषस्तं मा हिंसीरित्वेतत् सह-  
साहो मेधाय चीयमानं इति हिरण्यशकलैर्वा

\* 'दधाति'—इति क ।

ऽएष सप्तसाधो मेधायैत्वद्वायैत्येतन् मयुं पशुं मेध-  
 मन्ने जुषस्वेति किम्पुरुषो वै मयुः किम्पुरुष  
 मन्ने जुषस्वेत्येतत्तेन चिन्वानस्तन्वोः निषीदेत्यात्मा  
 वै तनूस्तेन चिन्वान् आत्मान् संस्करुष्वेत्येतन्  
 मयुं ते शुयच्छतु यं द्विघ्नस्तं ते शुयच्छत्विति तन्  
 मयौ च शुचं दधाति यं च हेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३२ ॥

अथाश्वस्य । इमं मा हिंसोरेकशफं पशु  
 मित्येकशफो वा ऽएष पशुर्यदश्वस्तं मा हिंसी-  
 रित्येतत् कनिक्रदं व्याजिनं व्याजिनेष्विति कनि-  
 क्रदो वा ऽएष व्याज्यु व्याजिनेषु गौर मारस्य  
 मनु ते दिशामीति तदस्मै गौर मारस्य मनुद्विशति  
 तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान् आ-  
 त्मान् संस्करुष्वेत्येतद्गौरं ते शुयच्छतु यं द्विघ्नस्तं  
 ते शुयच्छत्विति तद्गौरे च शुचं दधाति यं च  
 हेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३३ ॥

अथ गोः । इमं साहस्रं अतधार सुख  
 मिति साहस्रो वा ऽएष अतधार उत्सो यद् गौ-  
 र्यच्यमानं सरिरस्य मध्य ऽहृतीने वै लोकाः

सरिरु सुपजीव्यमान मेषु लोकीष्वित्येतद् घृतं दुष्हा-  
ना मदिति जनायेति घृतं वा ऽएषादितिर्ज्वनाय  
दुष्टेऽग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्निती मे वै लोकाः  
परमं व्योमेषु लोकीष्वेन मा हिंसीरित्येतद्भवत्  
मारुत्य मनु ते दिशामीति तदस्मै गवयु मारुत्य  
मनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन  
चिन्वान् आत्मान् संस्करुष्वेयेतद्भवत् ते शुश्रु-  
च्छतु यं द्विषस्तं ते शुश्रुच्छत्विति तद् गवये च शुचं  
दधाति यं च हेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३४ ॥

अथावेः । इमं मूर्षायु \* मित्यूर्षावस्य मित्येतद्  
व्यक्तवस्य नाभि मिति व्याकृतो ह्यविस्त्वचं पशूनां  
द्विपदां चतुष्पदा मित्युभयेषां चैष पशूनां त्वग्  
द्विपदां च चतुष्पदां च त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनिच  
मित्येतद् त्वष्टा प्रथमं रूपं द्विचकारान्ने मा  
हिंसीः परमे व्योमन्निती मे वै लोकाः परमं  
व्योमेषु लोकीष्वेन मा हिंसीरित्येतद्दुष्ट मारुत्य



मनु ते दिशामीति तदस्मा ऽउष्ट्र मारुष्य मनुदिशति  
 तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान चा-  
 त्मानं संस्करुष्वेतदुष्टं ते शुगच्छतु यं द्विषस्तं  
 ते शुगच्छत्विति तदुष्टे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि  
 तस्मिंश्च ॥ ३५ ॥

अथाजस्र । अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकादिति  
 यद्दे प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकाद-  
 जायत सो ऽपश्यञ्जनितार मय ऽद्विति प्रजा-  
 पतिर्व्यं जनिता सो ऽपश्यत् प्रजापति मय ऽद्वत्वे-  
 तत् तेन देवा देवता मय ऽभायन्निति \* व्याम्वा ऽच-  
 जो व्याचो वै देवा देवता मय मायस्तेन रोह  
 मायन्नप मेध्यास इति स्वर्गो वै लोको रोहस्तेन  
 स्वर्गं लोक मायन्नप मेध्यास इत्येतच्छरभ मारुष्य  
 मनु ते दिशामीति तदस्मै शरभ मारुष्य मनु-  
 दिशति तेन चिन्वानस्तन्वो द्विषीदेति तेन चिन्वान  
 चात्मानं संस्करुष्वेतच्छरभं ते शुगच्छतु यं

\* 'मायन्निति'—इति क, ख ।

द्विषस्तुं ते शुगृच्छत्विति तच्छरभे च शुचं दधाति  
यं च हेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३६ ॥

तदाहुः । यां वै तत् प्रजापतिरेतेषां पशुनाऽ  
शुचं पाप्मानं मपाहस्तु ऽएते पञ्च पशवो ऽभवस्तु  
ऽएत ऽउत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयन्नियास्तेषां ब्राह्म-  
णो नाश्रीयात्तानेतस्यां दिशि दधाति तस्मादे-  
तस्यां दिशि पर्जन्यो न व्यर्षुको यवैते भवन्ति \*  
॥ ३७ ॥

प्रत्येत्याग्निं मुपतिष्ठते । एतद्वां ऽएतदयथा-  
यथं करोति यद्ग्नौ सामिचिते बहिर्व्येद्येति तस्मा  
ऽएवैतन्निष्ठुते ऽहिंसाया ऽआग्नेय्यान्मय ऽएवै-  
तन्निष्ठुते गायत्र्या गायत्र्योऽन्निर्यावानन्निर्याव-  
त्यस्य मावा तावतैवास्मा ऽएतन्निष्ठुतेऽनिरु-  
क्तया सूर्वे वा ऽअनिरुक्तऽ सूर्वेथैवास्मां ऽएत-  
न्निष्ठुते यविष्ठवत्यैतद्वास्य † प्रियं धाम यद्यविष्ठ

\* 'भवन्ति'—इति क ।

† 'यविष्ठवत्यैतद्वास्य'—इति क, ख ।

इति यद्दे जात इदं सर्वं मयुवत तस्माद्यविष्ठः ॥

॥ ३८ ॥

त्वं यविष्ठ दाशुष इति । यजमानो वै दा-  
श्वान् नृः पाहीति \* मनुष्या वै नरः शृशुधी गिर  
इति शृशु न इमां स्तुति मित्येतद्द्रष्टा तोक  
मुतत्मनेति प्रजा वै तोकं रक्ष प्रजां चात्मानं  
चेत्सेतत् † ॥ ३९ ॥

आरुद्धानि जघनेन स्वयमादृशां परीत्यापस्या  
उपदधाति । आप एता यदपस्या अथ वा ऽए-  
तेभ्यः पशुभ्यः आप उत्क्रान्ता भवन्ति तद्यदपस्या  
उपदधात्येवैतत्पशुष्वपो दधात्यनन्तर्हिताः पशुभ्य  
उपदधात्यनन्तर्हितास्तत्पशुभ्योऽपो दधाति पशु-पशु-  
पदधाति पशु च्छेते पशुवः सर्व्वत उपदधाति  
सर्व्वत एवैवेतदपो दधाति ॥ ४० ॥

तथाः पशुदश पूर्वाः । \* ता अपस्या व्यञ्जो

\* 'दाश्वान् पाहीति'—इति क, ख ; इदं च केनरमहोपदेशमपि ।

† 'चेत्सेतत्'—इति ग, ख ।

वा ऽद्यापो व्यञ्चः पञ्चदशस्तम्भाद्येनापो .यन्त्वपैव  
तत्र पाप्मानं घ्नन्ति व्यञ्चो ह्यैव तस्यार्हस्य .पाप्मानं  
मपहन्ति तस्माद्दुर्षत्यप्राहतो व्यञ्जेदयं मे व्यञ्चः  
पाप्मानं मपहनदिति \* ॥ ४१ ॥

अथ याः पञ्चोत्तराः । ताम्बुच्छन्दस्याः . पशवो  
वै छन्दोऽस्यन्नं पशवोऽन्नं मु पशोर्भास मथ वा  
ऽएतेभ्यः पशुभ्यो मांसान्युत्क्रान्तानि भवन्ति तद्य-  
च्छन्दस्या उपदधात्येष्वैतत् पशुषु मांसानि दधा-  
त्यनन्तर्हिताः पशुभ्यः उपदधात्यनन्तर्हितानि तत्  
पशुभ्यो मांसानि दधात्यन्तरा अपस्या भवन्ति  
वाङ्माच्छन्दस्या अन्तरा द्यापो वाङ्मानि .मांसानि  
॥ ४२ ॥

तदाहुः । यदिमा आप एतानि मांसान्युच्य-  
न्त त्वक् क्व लोमेत्यन्नं व्याव पशोस्त्वगन्नं लोम तद्य-  
च्छन्दस्या उपदधाति सैव पशोस्त्वक्कलोमाथो यान्य-  
मून्युखात्वा मज्जोमानि तानि लोमानि वाङ्गोखा

भवत्यन्तःशब्धिं पशुशीर्षाणि वाञ्छानि हि लोमान्य-  
न्तर आत्मा यदीतरेण यदीतरेणेति इ स्माह  
शाण्डिल्यः सर्वानिव द्वयं क्वात्स्नान् पशुनसंस्कुर्वन्  
इति ॥ ४३ ॥

यद्देवापस्या उपदधाति । प्रजापतेर्व्यस्रस्ता-  
दाप आयस्तास्वितास्वविशद्यद्विशसत्स्माद्विष्मतिस्ता  
अस्याहुलिभ्यो ऽध्यस्त्रवन्नतो वा ऽभङ्गुलयो ऽन्तत्  
एवास्मात्ता आप आयन् ॥ ४४ ॥

स यः स प्रजापतिर्व्यस्रस्त । अय मेव स  
योऽय मन्निष्ठीयतेऽय या अस्मात्ता आप आयन्ने-  
तास्ता अपस्यास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्मात्ता  
आप आयस्ता अस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति तस्मादेता  
अतोपदधाति \* ॥ ४५ ॥

अपा + त्वेमन्सादयामीति । व्यायुर्वा ऽपपा  
मेम यदा छेवेष इतश्चेतश्च व्यात्यथापो यन्ति व्यायी  
तात् सादयति ॥ ४६ ॥

\* 'अतोपदधाति' -- इति 'अ' ॥ ४५ ॥

† 'आपा' -- इति 'अ' ॥

अपां खोद्गन्त्सादयामीति \* । ओषधयो वा  
 ऽअपा मोक्षं यत्र द्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो  
 जायन्त ऽओषधिषु तां सादयति ॥ ४७ ॥

अपां त्वा भस्मन्त्सादयामीति † । अश्वं ‡ वा  
 ऽअपां भस्माधे तां सादयति ॥ ४८ ॥

अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति । विद्युद्वा  
 ऽअपां ज्योतिर्विद्युति तां सादयति ॥ ४९ ॥

अपां त्वायने सादयामीति । इयं वा ऽअपा-  
 मयन मस्यां द्यापो यन्त्यस्यां तां सादयति  
 तद्या अस्त्रैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्ने-  
 तत् प्रतिदधात्यथो ऽएतान्नेवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति  
 ॥ ५० ॥

अर्षवे त्वा सदने सादयामीति । प्राणो वा  
 ऽअर्षवः प्राणे तां सादयति ॥ ५१ ॥

समुद्रे त्वा सदने सादयामीति । मनो वै

\* , † 'यामीति'—इति न , ष ।

‡ 'अश्वं'—इति , 'यामीत्यश्वं'—इति च इटं वेचरमहोदयेन ।

समुद्रो मनसो वै समुद्राद्वाचाभ्या देवास्त्रयीं  
 विद्यां निरखनस्तदेष श्लोको ऽभ्युक्तो ये समुद्रान्नि-  
 रखनन्देवास्तीक्ष्णाभिरभिभिः सुदेवो ऽपद्य तद्विद्या-  
 द्यत्र निर्व्वपणं दधुरिति मनः समुद्रो व्याक् तीक्ष्णा-  
 भिस्त्रयी विद्या निर्व्वपण मेतदेष श्लोकोऽभ्युक्तो  
 मनसि तां सादयति ॥ ५२ ॥

सरिरे त्वा सदने सादयामीति । व्याव्यै सरिरं  
 व्याचि तां सादयति ॥ ५३ ॥

अपां त्वा क्षये सादयामीति । चक्षुर्वा ऽअपां  
 क्षयस्तत्र हि सर्व्वदेवापः क्षियन्ति चक्षुषि तां  
 सादयति ॥ ५४ ॥

अपां त्वा सधिसि सादयामीति । श्रोत्रं वा  
 ऽअपां सधिः श्रोत्रे तां सादयति तद्या अस्त्रै-  
 तेभ्यो रूपेभ्य अपा अयंस्ता अस्त्रिजेतत् प्रति-  
 दधात्व्यो ऽएतान्भेवास्त्रिजेतद्रूपाणि दधाति ॥ ५५ ॥

अपां त्वा सदने सादयामीति । द्यौर्वा ऽअ-  
 पां सदने दिवि आपः सन्ना दिवि तां साद-  
 यति ॥ ५६ ॥

अपां त्वा सधस्ये सादयामीति । अन्तरिक्षं  
वा अपां सधस्य मन्तरिक्षे तां सादयति ॥ ५७ ॥

अपां त्वा योनो सादयामीति । समुद्रो वा  
ऽअपां योनिः समुद्रे तां सादयति ॥ ५८ ॥

अपां त्वा पुरीषे सादयामीति । सिकता  
वा ऽअपां पुरीषे सिकतासु तां सादयति ॥  
॥ ५९ ॥

अपां त्वा पाथसि सादयामीति \* । अन्नं वा  
ऽअपां पाथोऽन्ने तां सादयति तद्यां अस्थैतेभ्यो  
रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्वथो  
ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति ॥ ६० ॥

गायत्रेण त्वा हृन्दसा सादयामि । चैष्टुभेन  
त्वा हृन्दसा सादयामि जागतेन त्वा हृन्दसा  
सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा हृन्दसा सादयामि पांडुक्तेन  
त्वा हृन्दसा सादयाम्नेति तद्यां अस्थैतेभ्यश्चन्द्रोभ्य  
आपं आयंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्वथो ऽएतान्ये-  
वास्मिन्नेतच्छ्रुदांसि दधाति ॥ ६१ ॥



ता एता अङ्गुलयः । ताः सञ्चत उपदधाति  
 सञ्चतो हीमा अङ्गुलयो ऽन्तेषूपदधात्यन्तेषु हीमा  
 अङ्गुलयश्चतुर्हीपदधाति चतुर्ही हीमा अङ्गुलयः पञ्च-  
 पञ्चोपदधाति पञ्च-पञ्च हीमा अङ्गुलयो नानोपद-  
 धाति नाना हीमा अङ्गुलयः सहात्मकत्सादयति  
 समानं तत् करोति तस्मात् समानसम्बन्धनाः ॥

॥ ६२ ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [ ५. २. ] ॥

अथ पशुशीर्षाणां सुपधानं विधाय प्रशंसति— “पशु-  
 शीर्षाणीति \* । पशुशीर्षाणां पञ्चवयवत्वेन पशुत्वम् ; अतश्च  
 तदुपधाने पशूनां मेवोपधानं भवतीत्यर्थः । तेषां सुपधानस्य  
 स्थानविशेषं विधत्ते— “तानीति । “यो वै स प्रजापतिर्ब्रह्म-  
 सतेषां लोकेषु वै लोका उक्तेषु लोकाः प्रजापतिः”—इत्युच्चाया  
 लोकत्रयरूपत्वस्वीकृत्वात् † तस्या सुपधाने ‘लोकेषु’ ‘पशून्’  
 निहितवान् भवति । ‘तस्मात्’ इमे ‘पशवः’, ‘एषु लोकेषु’  
 भवतिइत्येते ॥ १ ॥

प्रकारान्तरीचाप्युच्चाया सुपधानं प्रशंसति— “यद्देवीच्याया  
 मिति । उच्चायाः सकाशादभ्युत्पत्तेः ‘यीन्ः उच्चा’, अतस्ततो-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १३ ।

† पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे १७ क० (२३४ ४७) इत्यस्यम् ।

पधाने योनावेव 'पशून्' निदधाति । 'तस्मात्' 'ब्रूयमानाः' उपभुञ्जमानाः, 'पथ्यमानाः' जीर्यमाणा अपि 'पशवः' 'न क्षीयन्ते' । उपभोगात्परिपाकाच्च विनाशे सत्त्वपि 'योनी' प्रतिष्ठितत्वात् नोच्छ्रियन्ते, किन्तु पुनरुत्पद्यन्त इत्यर्थः । 'पथ्यमानाः'—इति कर्मकर्त्तरि यक् प्रत्ययः ॥ २ ॥

अथ तानि पशुशीर्षाणि श्रीरूपत्वेन प्रगंसति— "यद्देवेति । 'याः' खलु प्रागुक्ताः 'त्रियः', 'ताः' एव 'एतानि' 'पशुशीर्षाणि'; अत एतेषां सुपधाने त्रिया मेवोपधानं भवति । उखायाः परम्परया कबन्धात्मकत्वम् । तत्रोपधाने कबन्धशिरसां सन्धानं भवतीति दर्शयति— "अथ यानीति । 'तानीति' अश्वःसश्वरणावसरपरामर्शः । 'यानि ताति' 'कुम्भिन्यानि' कबन्धानि, तानि 'एताः' अत्र सम्पाद्यमानाः 'पञ्च चितयः' । वित्वात्मकत्वन्तु कबन्धानां पञ्चत्वसङ्ख्यासामान्यात् । ततस्तथाविधाः 'याः पञ्च चितयः', 'ताः' 'इमे' पृथिव्यादयो 'लीकाः' । चित्तीनां प्रजापत्यवयवात्मकत्वात्, लोकानां मपि तथाभावादिति । तथा च 'त्रे' 'ते' एते 'इमे लोकाः', ते 'एषा उखा'; तस्माः लोकत्रयात्मकत्वस्य प्रागुक्तत्वात् । अतश्च 'उखायां' पशुशीर्षाणां सुपधानेन † 'एतैः' कबन्धानि संयोजयति ‡ । 'शीर्षभिः'—इति "शीर्षच्छन्दसि"—इति ॥ शीर्षवादेशः ॥ ३ ॥

\* पा० सू० ३. १. ८७ । \*

† इका० सू० २. ३०. ७७० ( ३ भा० ५४ पृ० ) दृष्टयाः ।

‡ 'सुपधाने'—इति ज-पाठः ।

§ 'संयोजयति'—इति ज-पाठः । | पा० सू० ३. १. ६० ।

उखायां सुपधानं पुरस्तादारभ्य प्रत्यगपवर्गं कर्त्तव्यं मित्वाह—  
 “तानिति । पशुशीर्षाणां अपि पशुत्वात् ‘तान्’-इति पुञ्जिङ्गवच-  
 नम् । विहितप्रकारे उपधाने कारणं वक्तुं प्रतिजानीते— “एतद्वा  
 इति । तत्रैतत् कारणं स्वस्वित्थर्थः । तदेव दर्शयति— “यत्रै-  
 तानिति । ‘यत्र’ यस्मिन् प्रस्तावे ‘प्रजापतिः’ ‘एतान्’ पशून्  
 ‘आलिखत’ आलिख्यु मेष्यत् । ततः ‘आलिख्यमानाः’ ते पशव  
 उत्क्रमितु मेष्यन् । उत्क्रमिसंबुंश ‘तान्’ ‘प्राषेबु’ शीर्षगतेषु \*  
 ‘सर्वप्राषाधारत्वाच्छिरसां प्राषत्वम् । प्राषा इति इन्द्रियास्तु-  
 च्चन्ते, ‘तान् प्राषेबु’ सङ्कृष्ट, ‘पुरस्तात्’ पूर्वव्यादेशात् ‘प्रतीवः’  
 प्रत्यङ्मुखाणां कथं, ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘अधत्त’ स्वाधीनीकृतवान् ।  
 पलायनेच्छूनां † पशूनां शिरांसि गृहीत्वा स्वाभिमुखं माकथं  
 वशीकृतवानित्थर्थः ॥ ४ ॥

“तद्वेति । तथा सति ‘देवा यदकुर्वन्’, ‘तत्’ एवैतस्मिन्नपि  
 काले कियते<sup>१</sup> खलु । अतश्च यजमानो ‘देवा यदकुर्वन्’, ‘तत्’  
 ‘करवाचि’-इति अभिप्रायेण ‘एतत्’ उत्क्रमकारं सुपधानं ‘करोति’  
 -इति ‘यत्’, ‘इदम्’ ‘अस्मात्’ एव निमित्तात् ‘ते पशवः’ ‘अस्माद्’  
 यजमानात् ‘नोचिक्रमिषन्ति’ । न केवलं तथा सुप्राप्त्येष्वेष्टा-  
 भावः, अपि तु ‘एतान्’ पशून् ‘प्राषेबु’ सङ्कृष्ट, ‘पुरस्तात्’  
 ‘प्रतीवः’ आकथं, स्वस्वित्थितवान् भूवति ॥ ५ ॥

उखायां पशुशीर्षाणां सुपधानं प्रजापत्युदरे अन्नं दधातीति  
 दर्शयितुं मास्त्रायिका मन्तारयति— “यद्वेवेति । ‘पशुशीर्षा-

\* ‘शीर्षं गतैषु’-इति ज-पाठः ।

† ‘पलायने’-इति ज-पाठः ।

पशुपदधाति'-इति 'यत्', तत्कारणं मुच्यते इत्यर्थः । 'अग्ने' सृष्टेः पूर्वं 'प्रजापतिः एक एवासीत्' खलु, 'सः' प्रजापतिः 'अन्नं सृजय', प्रजारूपेण जायेयेति 'अकामयत' । 'प्रजायेय' इति अन्न-सृष्ट्युपायप्रदर्शनम् । 'सः' एवं जातेच्छुः प्रजापतिः 'प्राचेभ्य एव पशुभिरमिमोत' । तदेव विवृणोति— "मनसः पुरुष मिति । "प्राणादिति । प्राणसञ्चारसंस्नानत्वाद् प्राचेन्द्रिय मुच्यते । यतः 'एनान्' पशून् 'प्राचेभ्यो निर्मितवान्', 'तस्मात्' लोके 'प्राणाः पशव इत्याहुः' जनाः । किञ्च । 'सर्वेषा मिन्द्रियाणां 'मनः' खलु 'प्रथमं श्रेष्ठम्'; तदुपधानादेव सर्वेषां स्वस्थ्यापारक्षमत्वात् । अतश्च मनसः पुरुषस्य निर्माणात् लोके 'पुरुषः पशूनां' मध्ये श्रेष्ठः 'वीर्यवत्तमः'-इति 'आहुः' । अपि च 'मनस्येव सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः'-इति, तदेव खलु 'सर्वे प्राणाः'; अतश्च सर्वप्राणात्मकात् 'मनसः पुरुषं निरमिमोत'-इति 'यत्', 'तस्मादाहुः पुरुषः सर्वे पशवः'-इति । यतः 'पुरुषस्य' श्लेषेति 'सर्वे पशवः' भवन्ति; सर्वपशुसम्पादनक्षमत्वात् पुरुषस्य; अतः 'पुरुषः सर्वे पशवः'-इति 'आहुः' । सर्वेन्द्रियप्रतिष्ठाकृपात् मनसः सकामात् पुरुषस्य निर्माणेन तस्य पशुसम्पादनक्षमत्वात् पुरुषः सर्वे पशवः इत्याहु-रित्यर्थः ॥ ६ ॥

• "तदेतदिति । 'एतत्' पुरुषादिपशुलक्षणम् 'अन्नं सृष्ट्वा', स प्रजापतिः 'पुरस्तात्' प्रतीचीनं मात्स्यं 'अधत्त' । 'तस्मात्' लोकेऽपि कश्चनापि 'अन्नं' सम्पादयति, एतत् सम्पादनं 'पुरस्तादेव' प्रतीचीनं मात्स्यं धारयति; मुखप्रदेशादेवाकल्य प्रती-

चीन मभ्यवहारात् । अतश्च 'तत्' पुरस्तात् प्रतीचीनं तेषां पशुशीर्षाणां सुपधानं सुखायां क्रियत इति यत्, तेषां प्रजापतिरुदररूपायाम् 'उखायां' पुरस्तात् प्रतीचीनं मन्त्रं निहितवान् भवति ॥ ७ ॥

अथ तेषु पशुशीर्षेषु सुवर्णशकलानां प्रक्षेपं विधाय प्रशंसति—  
 "अथैषिति \* । प्राणसाधनत्वाद्दिरण्यस्य प्राणात्मकत्वम् । "अथ वा इति । 'अथ' खलु 'संस्तुयमानेभ्यः' एभ्यः 'प्राणा उत्क्रामन्त्वेव' । अतश्च 'दिरण्यशकलान् प्रत्नस्य'-इति यत्, एतेन 'प्राणानेव' 'एषु' पशुषु नि-'दधाति' ॥ ८ ॥

सुवर्णशकलानां सङ्ख्याविशेषं विधत्ते— "सप्त प्रत्नस्यतीति † । शिरसि ‡— धागेका, नेत्रे द्वे, श्रोत्रे द्वे, नासाभिवरे च द्वे, इति सप्त प्राणाः । तथा सप्तदिरण्यशकलनिधानेन सप्तप्राणवान् भवतीत्याह— "सप्त वा इति । पञ्चपशुपक्षः, एकपशुपक्षः, इति पक्षद्वयमस्ति † तत्र पञ्चपशुपक्षे 'पञ्चकस्यः' 'सप्त-सप्त' दिरण्यशकलान् प्रतिशीर्षं प्रत्नस्यति ॥ ९ ॥

"तद्वैक इति । 'यदि एकोऽपि पशुर्भवति', तदापि 'पञ्चकस्य एव' 'सप्त-सप्त' सुवर्णशकलान् प्रत्नस्येदिति 'एके' ग्राहिन आहुः । तथा बहताश्च तेषां मय माशयः ।— पशानां मपि धशूनां खानि एकस्योपधानादसावहृत्युः 'पञ्च' खस्येतान् 'पशून्' 'उपदधाति' । तथा 'च' 'एकैकस्मिन् पशौ' 'सप्त-सप्त प्राणाः' विधत्ते । तस्मात् 'तावता' दिरण्यशकलानां प्रत्न-

\* का० श्री० ख० १७. ५. ७ ख ।

† का० श्री० ख० १७. ५. ७ क ।

सनेन 'एतेषु सर्वेषुपि प्राणान् दधः'-इति दूषयति— "न तथा कुर्यादिति ।

कथं तर्हि सर्वेषां पशूनां प्राणसङ्घटनेति तत्राह— "एतस्मिन् वा इति । 'एतस्मिन्' उपधीयमाने 'पशौ एकस्मिन्' एव 'सर्वेषां पशूनां रूपम्' अस्ति ; तेषां सर्वेषां अपि कार्ये एतस्यैव सामर्थ्यावधारणात् । तस्मात् 'एतस्मिन्' सप्तसङ्ख्याविशिष्टहिरण्यकलप्रत्यसनेन 'सर्वेषुपि' पशुषु प्राणप्रतिबन्धानं सम्पादितवान् भवति ॥ १० ॥

तत्र प्रथमं सुखे शकलस्य प्रत्यसनं विधत्ते— "सुखे प्रथममिति # । तत्र मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे— "सम्यक् स्रवन्तीति"† । 'धेना इति अक्षम्' उच्यते । 'तदिदम्' अन्नं 'सुखम्' 'अभि'-लक्ष्य 'सम्यक् संस्रवति' । कथं भिव ? 'सरितो न' सरित इवेति । अन्नमर्धो मन्त्रभागेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । द्वितीयं पादं व्याचष्टे— "अन्तर्दृदेति । 'घः' 'ऋणुः' अङ्गुटिलाङ्गः, 'तस्य' 'अन्तः' अरीरमध्ये 'हृदा' हृदयदेशेन 'मनसा' च 'सता' विद्यमानेन 'अन्नं पूतं भवति', सारासारमेदेन विवेचितं भवति । हृदयदेशस्य त्वन्नावतरणप्रदेशत्वात् शोधकत्वम् । 'घः' 'ऋणुः' अङ्गुटिलः शोभनकर्मा यजमानः, 'तस्य' मनसेति । तृतीयं पादं व्याचष्टे— "हृतस्य धाराः"-इत्यनेन । होषमाणाङ्गुल्यभिधानमभिप्रेत मित्वाह— "हृतस्य धारा इति । चतुर्थपादे

\* का० श्रौः सू० १७, ५, ७ अ ।

† का० श्रौः सू० १७, ५, ७ अ ।

अन्विमध्यावस्थितहिरण्ययपुरुषाभिधानं क्रियत इति व्याचष्टे—  
“हिरण्यय इति ॥

तदयं भस्मस्वाहः \* ।— अङ्गुटिसावयवस्य अन्तर्मध्ये शरीरे,  
हृदयेन विद्यमानेन, मनसा च शोध्यमाना, धेना अस्मानि;  
इदं सुखं मभिलक्ष्य स्ववन्ति; यथा नद्यः समुद्रम्, तदत् ।  
तथाविधे अस्मिन् सुखे शक्यं निदधामि । निश्चितं शक्य-  
त्वेदं ‘अन्तर्मध्ये यो हिरण्ययो वेतसः इति’ संज्ञवन्ती ‘हृतस्य  
धाराः’ ‘अभिवृत्तशीमि’ अभिपश्यति । चाकशीमोति पुरुष-  
व्यत्ययः, यद्भुक्तस्य रूपम् † । ‘हिरण्यय’-शब्दः ‘ऋष्य-  
वार्द्धवात्वादिना निपातितः ‡ ॥ ११ ॥

अथ दक्षिणनासावित्रे समन्वयं शक्यनिधानं विधत्ते—  
“ऋचे त्वेतीति § । ‘इय’-इति दक्षिणनासावित्रस्याभिनयेन  
निर्दिश्यः । व्याचष्टे— “प्राची वा इति । यतः ‘प्राची वा’  
‘अर्चति’ प्राप्नोति; प्राचवतेव सर्वस्य प्राप्तेः । अनेकार्थत्वात्  
धातूना मर्षतिरत्र प्राचर्षः । अतश् ऋगिति प्राचः । तथा  
इति ‘ऋचे’ प्राचाय सचरभाचाय प्रत्यस्यामीति मन्वाहः ॥ ।  
सव्यनासावित्रे मध्यभिनयेन निर्दिश्य समन्वयं शक्यनिधानं  
विधत्ते—“इचे त्वेतीति ¶ । ‘इह’-इति सव्यनासावित्रस्याभिनयेन

\* वा० सं० १३. ३८ ।

† पा० छ० २. ४. ७४ ।

‡ पा० छ० ४. ४. १७ ।

§ वा० श्रौ० १७. ५. ८, ९ ।

॥ वा० सं० १३. ३९. १ ।

¶ वा० सं० १३. ३९. २ ।

निर्देशः । 'प्राची वै' 'इक्' दीव्यसानः ; 'प्राचेन हि' शरीरा-  
दिकं दीव्यते । प्राचार्यं मेव 'सर्वम्' 'इदं' जगत् प्रियं भवति ॥

दक्षिणेत्र मभिनवेन निर्दिष्ट समन्त्रकं शकलनिधानं  
विधत्ते \*—'भावेस्वेतीति † । 'इह' दक्षिणेत्रे । "ज्योतिषे  
त्विति ‡ । 'इह' सव्ये नेत्रे प्रत्यस्वति । यतः 'इमे' चक्षुषी  
'भासती' चर्षप्रकाशनलक्ष्यतेजोविशिष्टे, 'ज्योतिषती' स्वयञ्च  
ज्योतिर्विशिष्टे, अतस्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रयोः 'भावे' ज्योतिषे  
इति प्रवृत्तम् ।

श्रोत्रयोः समन्त्रकं शकलप्रत्यसनं विधत्ते §— "अभूदिति ॥ ।  
'इदं' दक्षिणश्रोत्रं 'विष्णुस्य भुवनस्य' समस्तस्य लोकस्य 'वाजिनं'  
शब्दोपलब्धिसाधनम् 'अभूत्' । न केवल मस्त्रैकभूत्, अपि  
तु 'वैष्णानरस्य' अभूत् । अपि तु 'वैष्णानरस्य' सर्वजानां  
जनकत्वेन सम्बन्धिनः । "तस्त्रेदम्"—इत्यच् प्रत्ययः षा, "नरे सञ्ज्ञा-  
याम्"—इति \*\* पूर्वपदस्य दीर्घः । तस्य 'अन्नेः' प्रजापतेरपि  
शब्दोपलब्धिसाधन मभूत् । तादृशे तत्र त्वां प्रत्यस्वामीत्यर्थः ।  
"अग्निज्योतिषेति †† । 'ज्योतिषां ज्योतिषान्' प्रशस्तज्योति-

\* का० जौ० ख० १७. ५. १० ।

† वा० सं० १३. ३६. ३ ।

‡ वा० सं० १३. ३६. ४ ।

§ का० जौ० ख० १७. ५. १६ ।

॥ वा० सं० १३. ३६. ५ ।

¶ पा० ख० ४. ३. १२० ।

\*\* पा० ख० ६. ३. १२६ ।

†† वा० सं० १३. ३६. ६ ।



ज्ञान्, प्रशस्त्यौतिर्विशिष्टोऽग्निरिव । 'वर्षसा वर्षसान्' प्रशस्त्य-  
वर्षोविशिष्टोऽग्निरिव । 'इव'-शब्दोऽध्याहार्यः । 'इदं' यद्विद्येतरं  
श्रीचं प्रकीर्यते, तथाविधे तत्र त्वां प्रक्षिपामीत्यर्थः ॥

मध्ये विश्वपदप्रयोगस्वाभिप्राय माह— "विश्ववतीभ्या  
मिति \* । यद्यप्येकस्मा मेव विश्वपदप्रयोगः, तथापि प्राच्य-  
श्रावेण लिङ्गसमवायादुभयोरपि विश्ववतीभ्या मित्त्वभिधानं सुप-  
पद्यते । यतः श्रोत्रं 'विश्वं' विश्वव्यापकाकाशान्मकत्वात् ; अत-  
स्तत्र शकलप्रत्यसनमध्ये विश्वपदप्रयोगः ॥ १२ ॥

पशुश्रीर्षाणां सुपधानम्, तस्य स्थानविशेषम्, उपधाने  
प्रकारभेदम्, तदुत्पत्त्यादिकञ्च प्रदर्शयान्तरम्, उपधानार्थं  
पुरुषशिरस 'उद्ग्रहणं' विधत्ते— "अथेति † । उद्ग्रहणस्वीप-  
योग माह— "महयत्येवैनदेतदिति । एतेनोद्ग्रहणेन 'एतत्'  
पुरुषशिरसि 'महयति', पूजयति सत्कृतवान् भवति ; अत  
एव धजमानदेवत्वत्वाज्जुह्वयन्वते, अतश्चदेवत्वत्वाद्गुणव्यभि-  
यन्वते ।

विहिते उद्ग्रहणे मन्त्रं विधाय, व्याचष्टे— "सहस्रदा  
इति ‡ । "सर्वं वा इति । यतः 'सहस्रं सर्वं' ; तस्मिन्नेव शता-

\* तत्पाठस्त्वैवम्—

"अभुद्विदं विश्वस्य सुवन्स्य वाजिन मन्त्रेर्वेत्तावरस्य च"—

इत्येका ; अथापरा,—"अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिषान् सप्तौ

वर्षसा वर्षसान्"—इति । वा० सं० १३. ३६. ५, ४०. १ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. १४ ।

‡ वा० सं० १३ ४०. २ ।

दीना मन्तर्भावात्, अतः 'सर्वस्य दातासि' । 'तस्मात्' 'सर्वस्ये  
त्वा' उदृष्ट्यामि 'इत्येतत्' उक्तं भवतीत्यर्थः । "सहस्रदा इति,  
विच्-प्रत्ययान्तं पदम् । "सर्वस्य दातासीति, पुरुषविवक्षया  
पुक्तिप्रत्ययम् ॥ १३ ॥

अथेतेषां पशूना सुपधान मनुष्य, तत्र पुरुषस्य प्राथम्यं  
विधत्ते — "अथेति † । उपधाने पुरुषस्य प्राथम्यात् वीर्येण  
पुरुष मतिशयितं करोतीत्याह — "पुरुषं तदिति ।" उखाया  
सुपधानस्य विहितत्वात् तस्यां मध्ये पुरुषोपधानं तत्पा-  
र्यायोरितरपशूना सुपधानं कुर्यादित्यर्थः । "मध्ये पुरुषम्"—  
इति विहितस्य सन्निवेशस्य प्रयोजनं माह — "पुरुषं तदिति ।  
'तत्' तेन सन्निवेशेनोपधाने पशूनां 'मध्ये' 'पुरुषम्' 'अत्तारं'  
भोक्तारं करोति ; भोक्तुः पार्श्वं भोग्यस्वावस्थानात् । 'तस्मात्'  
सम्प्रत्ययि 'पशूनां' मध्ये 'पुरुष एव' 'अत्ता' भोक्ता भवति ॥ १४ ॥

सामान्येनाभित इतरान् पशूनिति † विधानात् कस्य कुच  
पार्श्वं उपधान मिति विशेषजिज्ञासाया माह — "अथस्वा-  
विच्छेति ‡ ॥ १५ ॥

"गाञ्जाजच्छेति § ॥ १६ ॥

"मध्ये पुरुष मिति, पुरुषोपधानस्य मध्यस्थानं विहितम् ॥ ,

\* का० श्रौ० सू० १७०५. ११—१७ ।

† इतः पूर्वस्या मेव कण्डिकायां ( ३७१ प० ) दृश्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७०५. ५. १५ ।

§ का० श्रौ० सू० १७०५. ५. १६ ।

॥ इत्येव चतुर्दशकण्डिकायां ( ३७१ प० ) दृश्यम् ।

तत्रैव विभक्तं विधत्ते— “पयसीति † । उक्तामध्ये पयःपुरिते ।  
पुत्रव सुपदधात् । एवञ्च सति यजमानस्य पुत्रवत्त्वात् पयसः  
पशुकार्यत्वेन पशुत्वात् तत्र ‘यजमान’ प्रतिष्ठापयति ।

विहिते उपधाने मन्त्रं विदधानः पदयो विभज्य व्याचष्टे—  
“आदित्यं गर्भं मिति † । पुत्रव इति यत्, ‘एष आदित्यो गर्भः’  
श्लु, अदितिः सकामादिवस्त्रदास्य आदित्योऽजायत । तथा च  
श्रूयते— “ततो विवस्त्रानादित्योऽजायतेति ‡ । विवस्त्रकम्बन्धिनश्च  
सर्वे पुत्रवा इति पुत्रवत्त्वात्प्रादित्यगर्भत्वम् । तथा सति  
‘पुत्रवम्’ एव ‘पपसा सम्बन्धोत्वेतत् उक्तं भवति । द्वितीय-  
पादेऽपि ‘सहस्रस्य प्रतिमा’-इत्यनेन पुत्रव एव विवक्षित  
इति दर्शयति— “सहस्रस्येति । यतः पुत्रवस्यैव पशूनां  
‘सहस्रं भवति’, अतोऽयं सहस्रस्य सहस्रः । अत एव  
तैत्तिरीयके श्रूयते— “सहस्रं वै प्रति पुत्रवः पशूनां यच्छ-  
तीति § । तृतीयपादे ‘हरः’-शब्देनार्थिहस्यते । ‘माभिसंस्त्रा  
इति’ अनेन हिंसन मिति दर्शयति— “परिहृत्स्वीति ।  
चतुर्थपादे ‘अतायुव’ कञ्चि-इत्येतदुच्चारणेन पुत्रवस्य अता-  
युव सन्वाद्यतोत्पाद— “अतायुव मिति ॥

हे अन्ते ! ‘वीयमानः’ त्वं पूर्वोक्तप्रकारेणादित्यगर्भरूपं ‘सह-  
स्रस्य’ प्रतिमां सहस्रम् ; अत एव ‘विश्वरूपम्’ पुत्रवं ‘पपसा’

• का० श्रौ० सू० १०. ५. १० ।

† वा० सं० १३ ४१—४५ ।

‡ ते० सं० ५. ५. ६. २ । इत्यापि ३. १. ३. ४-प्रत्ययम् ।

§ ते० सं० ५. २. ६. ५ ( ५भा० ५१८० ) ।

‘आर्त्तं कुर्व’ । किञ्च ‘एनं’ परितो वर्ज्यम्, ‘अर्षिणा मां हिंसीः’,  
‘यतायुवञ्च कृच्छ्रि’ इति मन्वार्थः \* ॥ १७ ॥

उत्तरतोऽश्वस्योपधानं मनुष्यं, तत्र मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे  
“अथेति † । ‘अश्व इति यत्, एव वा तस्य जूतिः’ खलु ।  
‘जूति’-शब्देन वेग उच्यते, तद्रूपत्वात् अश्वोऽपि तच्छब्देन,  
वायुवेग इत्यर्थः । अपा मधिपतेः ‘वदस्व’ सम्बन्धित्वात्  
‘अश्वः’ ‘वदस्व नाभिः’ । अत एव श्रूयते— “प्रजापतिर्वह-  
वायाश्च मनयदिति ‡ । ‘सरिरम्’-इति § अपा उच्यन्ते, ‘अश्व-  
वायुजः’ खलु ; समुद्रमध्ये वडवारूपेणीत्यत्रत्वात् । अत एव  
“असुयोनिर्वा अश्वः”-इत्यन्यत्र श्रुतम् ॥ । “अद्रिबुध मितेति ।  
‘अद्रिः’ इति, ‘गिरिः’ उच्यते ; ‘आपः’ ‘बुध्नाः’ गिरिमूलाः खलु ;  
ततोत्पद्यमानत्वात् । तथा च तथाविधजलसमुद्भूतत्वात् अश्वो-  
ऽपि गिरिबुध इत्यर्थः । “इमे वै लोकाः परमं व्योम”  
-इत्यनेन मन्त्रगतं व्योमपदं मितरलोकयोरप्युपलक्षणं मिति  
तदर्थितम् ।

हे ‘अन्ते !’ वायुवेगविशिष्टम्, ‘वदस्व’ ‘नाभिं’ नाभिस्थानौ-  
यम्, ‘सरिरस्व मध्ये’ उत्पन्नम्, अत एव ‘नदीनां शिष्टम्’,

\* वा० सं १३. ४१ ।

† का० शौ० ख० १७. ५. ४५ । ‘पूर्वं मन्त्रस्यापरं मवेः ।

उक्षाया मेवोत्तरभागे शिरसी उपधेये’ ।

‡ तै० सं० ३. ३. १२. १ (२भा ४५५८०)

§ ‘सरिरम्-इति’-इति कश्च-पुस्तकयोः ।

॥ उपरिष्ठात् १३का०-१५० ११भा० १६क० दृश्यम् ।

‘अद्रिबुध्नं’, गिरिर्मूलोत्पत्तिस्नानम्, ‘हरिम्’ आरोढुर्हर्तारम्, ‘अश्वम्’ ‘परमे व्योमन्’ उत्तमेषु पृथिव्यादिषु ‘लोकेषु’ ‘मा हिंसोः’-इति मन्वार्थः ॥ १८ ॥

दक्षिणदेशे गोरुपधान मनुष्य, सुतिवत् मन्व्यं विधत्ते—  
 “अथेति ॥ “इन्दुरिति । ‘सोमो हि इन्दुः’-इति, यतः ‘स एषः’  
 ‘अश्वः’ सोमो हि ; सर्वदा पयोसञ्चयस्वामृतस्य स्वन्दनात्,  
 इत्योसु कंदाचिदुपचयो विद्यत इति तदभिप्रायेषाजस्र मित्यु-  
 क्तम् । ‘भुरष्णु मिति’ दोहनादिभिः ‘भर्तार मित्वेतत्’ उक्तं  
 भवति, गोजातीयस्य घृतात् । अथ वा ‘गौः’ पुङ्गवः,  
 ‘अश्वः’ सोमः ; सर्वदा आह्लादकत्वात् ; क्वसिद्धसाधनत्वेन  
 भर्तृत्वाद् ‘भुरष्णु मिति’ ।

“अग्नि मीड इति । यतो ‘गौः’ आग्नेयः’, ततोऽसावग्निः ।  
 यतः ‘अग्निं प्राञ्च सुहरन्ति’, ‘प्राञ्चम्’ एव होमादिना ‘उप-  
 चरन्ति’, अतः अग्निः ‘पूर्वचित्तिः’ पूर्वस्मिन् प्रदेशे ‘चित्तिः’  
 अनुष्ठेयस्य प्रतीतिर्यस्य, स तथोक्तः । “यद्वा इति । ‘एषः’  
 अग्निः चीयत इति यत्, तेनेवः ‘पर्वभिः’ इष्ट्याचितिसञ्चयेः  
 ‘अतुमः’ तेन तेन अतुना ‘कल्पते’ ; चित्तिसञ्चयानां पर्वणा  
 अतुरूपत्वादित्यर्थः ।

“विराड् वा इति । अन्नसाधनत्वाद् विराजोऽन्नत्वम् ॥

००भा० सं० १३ ४२ ।

† भा० श्री० क० १०. ५. १४ । ‘पूर्वं’ गोरुपर मन्वस्य । उज्ज्वला  
 दक्षिणे भागे ० ।

‡ ‘तस्मै अर्तं तस्मै प्ररः’-इति ( १३भा० १४५९० ) इष्टयोर्दुर्भिरावम् ।

गोरपि तथेवात्र स्व मिति, 'विराड्'-इति 'गीः' एवेत्त्वर्थः । सर्वदाङ्गादकत्वेन 'अजस्र मित्दुम्', 'अरुधम्' आरोचमानम्, कृष्णादिसाधनत्वेन भर्त्तारम्, 'पूर्वचित्तिम्' पूर्वत्रानुष्ठेयप्रतीति-विशिष्टम्, 'अग्निं' तदीयत्वेन तदात्मकं, 'गाम्' अत्रोपधानाय 'नमोभिः' नमस्कारैर्युक्तम्, 'अग्निम्' ईडे । हे अग्ने ! 'पूर्वभिः' चितिलक्षणेः 'अतुयः कल्पमानः' तथाविधस्त्वं 'अदितिम्' अखण्डनीयं 'विराजम्', 'अन्नम्' अन्नसाधनम्, 'गां' मां हिंसीः इत्यर्थः \* ॥ १८ ॥

अथोत्तरप्रदेशे अवेरुपधान मनुद्य मन्त्रं विधत्ते—  
“अथेति । “वारुणो च हीति । यतोऽविः 'वरुणस्य' अग्निष्ट-  
निवारकस्यान्वेर्नाभिस्त्वानीया ; रूपाणां निर्माता यः त्वष्टा,  
तस्यानुपहृणोयरूपयुक्ता ; अतोऽविः 'त्वष्टुर्वरुणी', 'वरुणस्य  
नाभिः' च ॥

“ओषं वा इति । 'ओषं' अतु 'परं रजः' उष्णष्टो  
लोकः । तदेवोपपादयति— “दिशो वा इति । ओषं च  
दिशः अतु ; तस्य तत्कार्यत्वात् । 'दिशः परं रजः' दिग्भ्य-  
च्चावय उच्यते ; दिशां सर्वोत्पत्तिमग्निमित्तकारणात् । 'महीं  
साहसीम्'-इत्यत्र, महोपदस्य महतीत्वर्थ इति दीर्घत्वम्—  
“महती मिति ।

मन्त्रार्थसु †, — हे 'अग्ने !' 'त्वष्टुः' वरुणीयरूपयुक्ता,  
'वरुणस्य' नाभिस्त्वानीया, 'परं रजः' दिग्भ्यो जाता,

\* वा० अं० १३ ३३ ।

† वा० अं० १३ ३४ ।

‘महती’, सहस्रमूर्त्त्यांर्हाम्, ‘असुरस्य मायां’ सुवर्भानोरसुरस्य सम्बन्धित्वेन निर्मिताम् । अत एव तैत्तिरीयके— ‘सुवर्भानुर्वा असुरः सूर्यं तमसाविध्यत्, तस्मै देवाः प्रायश्चित्ति मेच्छन्स्य यत् प्रथमं तमोऽपघ्नन् सा कृष्याविरभवदिति \* श्रूयते । तादृशीम्, ‘अविं’ पृथिव्यादित्येतेषु लोकेषु ‘मा हिंसीः’ ॥ २० ॥

अथ दक्षिणदेशे अजस्रोपधान मनुष्य, मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “अयेति । “अम्निर्ज्ञा इति । ‘एषोऽग्निः’ अजः, ‘अग्नेः’ प्रजापतेः ‘अध्यजायत’ अग्नेः सकाशादुत्पन्नत्वादजस्राम्नित्वम् । अग्नेः सकाशादुत्पत्तिरेव प्रदर्शयते— “शोकादिति । ‘यहै प्रजापतेः शोकादजायत’, ‘तद् दिवः’, ‘पृथिव्यै’ पृथिव्याच्च ‘शोकादजायत’; प्रजापतेस्तदात्मकत्वात् । अम्निरिति प्रजापतिरेवोच्यते, ‘यत् येनेत्वर्यः । ‘विश्वकर्मा’ प्रजापतिः ‘वाचः’ सकाशात् ‘प्रजाः’ ‘जजान’ । जनिरन्तर्भावित्त्वर्यः, उत्पादितवन् । अजस्र वागात्मकः, ततश्च ‘येन’ ‘विश्वकर्मा’ प्रजाः ‘जजान’ । ‘यथैव यस्तुः तच्चा वस्तुः’-इति मन्त्रो यथैव, तथैव व्याख्यानं स्पष्टार्थं इत्यर्थः ।

इ ‘अग्ने !’ उपधोयमानो ‘यः’ अम्ब्यात्मकोऽजः ‘अग्नेः’ प्रजापतेः ‘अध्यजायत’ । तत् कथम् ? यतः ‘पृथिव्याः शोकात्’, अपि च ‘दिवः’ शोकाद्, अध्यजायत । किञ्च, ‘विश्वकर्मा जजान’, ‘येन’ ‘प्रजाः’ उत्पादयामास । तम् अजं ते ‘इडः’ कोपः ‘परिहृत्तु’ अपवर्जयतु ॥ २१ ॥

\* ते० सं० २. १. २. ४ ( २भा० २६४२० ) ।

† वा० सं० १४ ४५ ।

प्रकृतानां पशूनां नानात्वात् पृथग्विधोपधानसूदनानि  
कर्त्तव्यानीत्याह— “त एते पशव इति ॥ २२ ॥

उपधानानन्तरं पुरुषशिरसि होमं विधत्ते— “अथेति ।  
अभिहोमस्योपयोग माह— “आहुतिरिति । यत् एषा खलु  
आहुतिः, तदात्मको ‘यज्ञः’ स्वात्, तथा सत्वभिहोमेन  
‘पशूनां’ मध्ये ‘पुरुषं’ ‘यन्नियं’ यन्नाहं ‘करोति’ । ‘तस्मात्’  
‘पुरुष एव पशूनां’ मध्ये ‘यजते’ ॥ २३ ॥

न केवलं अभिहोमस्य यन्नियत्वं मेव प्रयोजनम्, अपि तु तस्य  
वीर्यत्वं मपीत्याह— “यद्देवेति । ‘एतत्’ पुरुषशीर्षम् ‘अभि’-  
सत्त्वं ‘जुहोति’ इति ‘यत्’, तेन ‘शीर्षम्’ शीर्षि ‘वीर्यं दधाति’ ।  
“शीर्षंश्च हसोति \* शिरःशब्दस्य शीर्षवादेशः । तत उच्चरस्वाः  
सप्तम्याः “सुपां सुलुगित्यादिना † लुक् ॥

एतदेव वीर्यनिधानं अभिहोमसाधनभूताज्यसुवादीनां मध्ये  
प्रत्येकसाध्यतया दर्शयति— “आज्येनेत्यादिना ‡ आज्यस्य  
वज्रत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्— “ष्टमं खलु वै देवा वज्रं कृत्वा  
सोमं मन्त्रमिति § । वज्रस्य ब्रह्मरूपत्वाद्दीर्यत्वम् । “वृषा वै  
सुवः”—इति § वृषा पुरुषः । सुवस्य पुत्रित्वाद् वृषत्वम् ।  
वृष्यो वीर्यत्वाद्दीर्याधानहेतुस्य मिति स्वाहाकारस्वाप्येक

\* पा० सू० ६. १. ६० ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ तै० सं० ५. २. ७ ( ६भा० ३६८० )

§ “योषा.वे संक्, वृषा सुवः”—इतीहैव १. ३. ०१. ६ ( १ भा०

१७६ पृ० ) ब्रह्मणम् ।



मेव वीर्यत्वम् । 'बन्धो वै विष्टुविति । विष्टुभो ह्यनसाध-  
नस्वसाहश्चाद् वक्ष्यता । तथा च वक्ष्यस्य वीर्यरूपत्वात्  
त्रिष्टुभोऽपि वीर्यतया विष्टुवाक्येन 'वीर्यैव' हेतुना 'अस्मिन्'  
पुरुषशिरसि 'वीर्यं दधाति' ॥ २४ ॥

चित्रं देवानां मुदगादित्त्वस्त्राभिष्टोममन्त्रस्य पूर्वेषादेनैका-  
हुतिः क्लियते, अपरेषु चान्या ; अत एव कात्यायनः,—  
“चित्रं देवानां मित्त्वर्धेन सुवाहुतिरिति \* । तत्र पूर्वार्ध-  
साध्या माहुतिं दर्शयति—“स वा अर्धं मिति । 'सः' सस्त्वर्धुः  
'अर्धं मनुदुत्स', स्वाहाकारेणैका माहुतिं सम्पादयेदित्यर्थः ।  
ननु किमर्थं अर्धं स्वाहाकरव मित्यत आह—“अस्मि  
वा ऋगिति । ऋचोऽस्मान्कालं पादवन्धेन दार्ढ्ययोगात् ।  
ऋचो दार्ढ्यं तैत्रिरीयकोऽधीयते—“यदृचा तद् दृढ मिति † ।  
तथाच सति ऋचो विभागेन तद् 'इदं' पुरुषसम्बन्धि 'शीर्ष-  
कपालम्' 'विहाप्य' विभिय । “ओ हाक् त्वागि” ‡, अन्तस्य  
अपि रूपम् । 'शीर्षः' शिरसोऽन्तरे 'यदिदम्' अत्र विद्यमानं  
'वीर्यम्' 'तदस्मिन्निदधाति' ; चाञ्चस्वाहाकारयोर्वीर्यात्मकत्वा-  
दित्यर्थः ॥ २५ ॥

अधोत्तरार्धसाध्या माहुतिं दर्शयन् तत्राप्युपयोग आह—  
“अथेति । “इदं तदिति । पूर्वम्, अन्तरे वीर्यनिधानार्थं कपाल-

\* का० शी० ख० १७. ५. १८ ।

† ते० चं० ५. ५. १०. १९० ।

‡ मु० प० ८ धा० ।

भेदनात्, पुनः 'तत्' 'कपालं' 'सम्भार्य' गिरस उपरितम्  
'वीर्यम्' चत निहितवान्, "स वा चर्चर्च मनुहुत्वेत्यादिना \*  
सूचितम् ॥ २६ ॥

मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे— "चित्रं देवाना मिति ॥ 'एषः'  
उपधोयमानः 'पुरुषः', 'असौ' परिदृश्यमानः 'आदित्यः'  
खलु; आदित्यस्य सर्वात्मकत्वात् । आदित्यमण्डलञ्च 'देवानां'  
रश्मीनां 'चित्रं मनोकं' समुदायः । तथा सति 'अस्य' पुरु-  
षस्योपधाने 'तदेतत् चित्रं देवानां मनोकम्' 'उदेति'; अत  
उच्यते— "चित्रं देवाना मुदगादनीकम्"—'इति', मन्त्रेषेत्यर्थः ॥  
"चक्षुर्मिषस्य वरुणस्याम्नेः"—'इति', एवमित्वादि देवताप्रत्यय-  
सन्धेया मध्युपलक्षणम् । उभयान् प्रत्यस्य प्रकाशकत्वं साधा-  
रस्वादिति दर्शितम्— "उभयेषा मिति । "उच्यन् वा इति ।  
उद्दश्यमानः सन् 'एषः' आदित्यः 'इमान्' पृथिव्यादीन् लोकान्  
'आपूरयति' प्राचेः समर्थयति, चेष्टयतीत्यर्थः । एतच्च तैत्ति-  
रीयके श्रूयते— "असौ य आपूर्यति, स सर्वेषां भूतानां प्राणै-  
रापूर्यति"—इति § । अत उक्तम्— "आप्राः"—इति, "प्रा पूरचे" ॥,  
लिटि रूपम् । "सूर्य आत्मा जगतस्तस्युषस्य"—'इति', अनेन  
आवरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य जगतोऽयं सूर्यश्चेष्टकीलेन अन्तर-  
आत्मेति विवक्षित मित्याह— "एष हीति । 'जगत्' गच्छत्, जङ्ग-

\* एतत्पूर्वस्या मेव कण्डिकायां ( ३७५ पृ० ) इत्यथम् ।

†, ‡ वा० सं० १३. ४६ ।

§ तै० अरि० १. १४. १. ६ ।

॥ अ० पृ० ७७ धा० ।

मात्मकं जगत् ; तिष्ठत् , स्वावरात्मकम् । “अन्येभ्योऽपि दृश्यते”-  
इत्यत्र \* “स्युतिगमिसुहोतीनां द्विर्वचनम्”-इत्यनुशासनात् †  
क्षिपि द्विर्वचने जगदिति भवति ॥ २७ ॥

अभिहोमानन्तरं सुपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशु-  
शिरसा सुक्षरगनामकैर्मन्त्रैरुपस्थानं विधत्ते — “अथेति ‡ । वि-  
हितमन्त्रसाध्यस्वोपस्थानस्य प्रयोजनाभिधानं प्रतिजानीते—  
“एतद्वा इति । ‘एतत्’ खलु प्रयोजनं मित्वर्थः । तदेव दर्शयति  
— “यत्रैतानिति । ‘यत्र’ यस्मिन् प्रस्तावे ‘प्रजापतिः’ ‘एतान्’  
पुरुषसुस्थान् ‘पशून्’ आलम्ब्य मैच्छत् , तदा ‘आलिख्यमा-  
नास्ते अशोवन्’ ; आलम्बस्य शोकहेतुत्वात् । ततः ‘तेषां’ ‘शुचं’  
शोकरूपं पापम् ‘एतैः’ वक्ष्यमाणैः उक्षरगमन्त्रैः अपहतवान् । ‘तथैव’  
‘अयम्’ अपि यजमानः एतेनोपस्थानेन ‘एषां’ शोकरूपं पापम्  
‘अपहन्ति’ । “मयु मारुष्य मनु ते दिशामीत्वादिना § चारुष्य-  
पशुक्षरगप्रतिपादनेन तेषां सुक्षरगत्वम् ; शोकोक्षरगहेतुत्वात् ॥ २८ ॥

अथ पश्चान्ना मपि शीर्षाणां सुपधानानन्तरम् उक्षरगमन्त्रैरुप-  
स्थानं मिति स्वकीयं मतम् ; तथैवोक्तत्वात् । अपरे पुनरचानु-  
ष्ठानक्रमे क्षिपिद्वैषम्यं माचक्षते । तस्मत्तं दूषयितुं मनुवदति  
— “तद्वैक” इति । तथा कुर्व्यताश्च तेषां माशय माह—  
“नेदिति । पूर्वं सुपहितस्य पशोः शोकं सुक्षारितं मभिलक्ष्यैवो-

\* प्रा० सू० ३. २. १७८ । . .

† प्रा० ८. १. १४ सू० वा० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. १६ ।

§ तै० सं० ४. २. १०. १ ।

उत्तरपशोरुपधानं स्यात्, अतस्तन्माभूर्दिति 'तथा कुर्वन्ती-  
त्यर्थः । तन्मतम् दूषयति — "ते हेति । तथाविधाभिप्राय-  
वन्तस्ते खलु याज्ञिकाः शीकरूपं पाप मभिलष्वैव 'उप-  
दधति' । यतः 'पूर्वस्व' पूर्वपशोः 'यां शुच मुत्सृजन्ति', 'ताम्'  
एव 'उत्तरेण सह उपदधति'; निवृत्तसजातीयानुवृत्तिभावा-  
दित्यर्थः ॥ २८ ॥

अथैतेषा मेवोपस्थाने केषाञ्चिच्छास्त्रिणां प्रकारविशेषं  
दूषयितुं मनुवदति— "विपरिक्राम मिति । पशूनां 'शुच  
मूर्षा मुत्सृजाम इति', केचिद् विपरिक्रम्य विपरिक्रम्योपति-  
ष्ठन्ते; उत्क्रमणपूर्वकत्वाद्द्विपरिक्रमणस्येति । तयोपस्थाने शौकः  
जडुं एवोत्सृष्टो भवतीति तेनोपतिष्ठन्त इति भवः । तदपि  
दूषयति — "ते ह ते इति । तथाविधाभिप्रायवन्तः 'ते'  
शाकरूपं पापम् 'अनूद्यन्ति' विपरिक्रमणार्थं मुद्गमने कृते  
शोकं प्रत्यनुगतवन्तो भवन्ति । अतो न तथा कुर्यात् कथं  
तर्हि शोकं जडुं मुत्सृष्टो भवतीति तच्चाह— "जडुं हीति ।  
'एतेन' उपधानलक्षणेन 'कर्मणा' 'जडुः' अर्ह्युरिति; उत्तरोत्तर  
मतेषां शिरसा सुपधानात् । अतस्तेनैवम् 'जडुं उत्सृजन्ति' ।  
व्यत्ययेन बहुवचनम्, प्रयोगबहुत्वापेक्षं वा ॥ ३० ॥"

अन्नेर्बहिर्देशे शोक मुत्सृजेदित्याह— "बाह्येनेति । अन्ने-  
र्बाह्यदेशेनोपलक्षिते शुच मुत्सृजेदित्यर्थः । 'अन्नि मिति,  
षष्ठ्यर्थे द्वितीया व्यत्ययो द्रष्टव्यः । "इमे वै लोकाः"-इत्य-  
स्याय मर्थः— अन्नेः प्रजापत्यात्मकत्वेन 'तत्' पृथिव्यादिलोका-  
त्मनोक्तत्वात् तस्य बहिर्देशे शोकोत्सर्जनेन 'लोकेभ्यः' एव

शोको 'बहिर्द्' भवतीति । बाह्येनैवास्मि मित्त्वमेनास्मि-  
 प्रदेशश्चतिरिक्तदेशे विधानाद् वेदिमध्येऽपि स्नादित्वात् षाड्—  
 “बहिर्वेदीति । वेद्या बहिः । “अपपरिवहिरक्षवः पक्ष्म्या”-  
 इति \* पक्ष्मयीभावसमासः । बहिर्वेदि शोकोक्तं वेद्याः क्त्व-  
 एविश्याम्कत्वात् तस्मा बहिरैव शोक उत्पद्यते भवतीति  
 दर्शितम्— ‘इयं वा इत्यादिना । ‘उदङ्’ उत्तरस्यां दिशि  
 वक्ष्यमाणा मयुप्रभृतयः पश्यतोऽवतिष्ठन्त इति तत्र शोकनिधा-  
 नाय उदङ्मुखस्तिष्ठन्मुख्यदित्याह— “उदङ् तिष्ठन्ति ॥ ११ ॥

उत्सर्गमन्त्रैरुपस्थानम्, तत्र स्नाभिमतप्रकारं, देशविशेषम्,  
 षड्विंशोरवस्थानविशेषञ्च प्रदर्शय, उपधानक्रमैश्च पुरुषस्य  
 शोकं पूर्वं मुक्नुजेदित्याह— “पुरुषस्येति † । तत्र मन्त्रविशेषं  
 प्रदर्शयन्, पदयो विभक्त्य व्याचष्टे— “इमं मा हिंसीरिति ‡ ।  
 ‘दिपादिति । “सङ्ख्यासुपूर्वस्येति § पादशब्दान्त्वस्य लोपः ।  
 ‘हिरण्यककशेर्णा एव सहस्राक्षः’ इति, सहस्रशब्दो बहुत्व-  
 स्तोपलक्षणात् ; हिरण्यककशाना मत्र सहस्रसङ्ख्याना मभा-  
 वात् । अथवा उत्तरत्र सहस्रसङ्ख्याकेशिरण्यककशैः प्रीक-  
 मात्वात्, तदभिप्रायेण सहस्रसङ्ख्या । हिरण्यककशानां प्रका-  
 शकत्वेनार्चितोपचारः— “आत्मा वै तनूरिति । तेनाधिष्ठित-  
 त्वादित्यर्थः । अष्ट मन्त्रत् ॥

\* आ० अ० २. १. १२ ।

† का० शो० अ० १०. ५. १६ ।

‡ वा० अ० १३. ३० ।

§ पा० अ० ५. ४. १४० ।

मन्त्रस्वाय मर्यः— हे 'अग्ने!' 'हिरण्यकलौः' 'सह-  
स्राचः' 'मिधाय' 'चीयमानः' त्वं पशूनां मध्ये 'हिपादम्' 'इमं'  
पुरुषं 'मा हिंसोः' । यदि तव भक्ष्यापेक्षास्ति, तर्हि 'भारस्यम्'  
'किम्युरुषम्' उत्सृजामि, 'तेन' किम्युरुषेण 'आत्मानं' 'पोषयत्'  
'संस्तुरुषम्' । 'ते' सम्बन्धिनी 'शुक्' 'मयु' प्राप्नोतु ॥ ३२ ॥

अथाम्नास्य शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन्, पूर्वषट् व्याचष्टे—  
"अथेति † । "कनिक्रदो वा एष इति । 'एषः' अन्वः 'कनिक्रदः'  
अत्यर्थं क्रान्दिता 'वाजिनेषु' वेगवत्सु 'वाजी' अत्यर्थं वेगयुक्तः,  
अतो युक्तं कनिक्रद मितौत्वर्थः ॥

'गौरः' सिंहः । स्यथार्थं मन्वत् † ॥ ३३ ॥

अथ गोः शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे— "अथ गौ-  
रिति ‡ । "साहस्रो वा इति । गौरिति यत् 'एषः' 'साहस्रः'  
सहस्राक्षः, सजातीयधेनुद्वारा यत्सहस्राक्षचीरधारासम्पन्नः ।  
अत एव 'उक्तः' । कुतः ? तस्मान्नेकजलधारावाहित्वादस्य द्वानेक-  
चीरधारावाहित्वात् उक्त इवोपचारः । "घृतं वा एषेति ।  
'अदितिः' अस्तुत्तनीया, अदीना वा 'एषा' गौः, 'जनाय' 'घृतं'  
दुहे' चीरादिद्वारा तस्य सम्पादनात् । अत्रापि सजातीय-  
धेनुद्वारा घृतदोहनम् । तदपेक्षं वाच स्त्रीलिङ्गम् † 'दुह इति  
"लोपस्त आत्मनेपदेष्विति ‡ तकारलोपः । स्यष्ट मन्वत् ॥ ३४ ॥

\* , † का० शौ० ख० १७. ५. १६ ।

† वा० सं० १३. ३८ ।

‡ पा० ख० ७. १. ४१ ।

| वा० सं० १३. ४६ ।

“अथावेरिति । शौकीकर्ममन्त्रं प्रदर्शयन् आचष्टे—“उभवेवा  
 देव इति \* । ‘एषः’ अविरूपः पशुः ‘उभवेवा पशूनां’ द्विपदां  
 मनुष्यानाम्, ‘चतुष्टयदां’ अस्त्रादीनाञ्च त्वष्टूपम् भवति ;  
 स्वकीयत्वचा तेवा माच्छादनात् । मनुष्यास्तावच्छीतनिवा-  
 रवायाविजिन कम्बलेन शरीरं माच्छादयन्ति । चतुष्पादो-  
 ऽस्त्रा बलीवर्दाञ्च स्वभारवहने मार्दवाय वृष्टे कम्बलेना-  
 च्छादिता भवन्ति । “एतडेति । ‘त्वष्टा’ प्रजानां निर्माचा-  
 देव प्रजानां, मध्ये ‘एतद्रूपम्’ अविरूपम् पशुं ‘प्रथमं’  
 ‘विचकार’ उत्पादितवान् । अत उक्तं “त्वष्टुरिति । विप्रदार्य  
 मन्वत् ॥ २५ ॥

‘अथाजस्र मन्त्रं दर्शयन् आचष्टे—“अथेति । “यदे  
 प्रजापतेः शोकादजायतेति । ‘यत्’ तेनाज्जेरेव शोकादजायत,  
 तस्य तदात्मकत्वात् ; अत एव प्रागुक्तम्—“अग्निर्वा एषो-  
 ऽज्जेरेवजायतेति । “प्रजापतिर्वा इति । सर्वोत्पादकत्वात्  
 ‘प्रजापतिर्जनिता’ अस्तु । अ जातो अजः प्राक् प्रजापति  
 मपश्यत्, अत उक्तं “शोऽपश्यदिति † । “ब्रह्मत्वान्तःपाद  
 मन्वपरे”—इति ‡ प्रकृतिभावात्, “इष्टः पदान्तादतीति ॥  
 पूर्वरूपत्वं च भवति । “तेन देवा इति । अजस्र वामाजस्र-

\* का० मी० अ० १०. ५. १५ ।

† वा० अ० १३. ५० ।

‡ मन्वे तु ‘शोऽपश्यत्’ इत्येष मन्वृष्टवर्षपुत्रकर्मिणः ।

§ पा० अ० ५. १. ११५ ।

॥ पा० अ० ५. १. १०६ ।

स्वित्त्वं ; तज्जन्मत्वात् । तत् पुनः प्रागुक्तम्— “वाचोऽन्न मिति ।  
 'देवाः' खलु 'अग्ने' वाच मिमा माश्रित्य देवत्वं प्राप्नुवन् ।  
 'वाचः' इति ऋग्वेदोपे प्रथमो \* । स्तोत्रयज्ञादिरूपया वाचा  
 यज्ञनिष्पत्तेः , यज्ञस्य च देवत्वप्राप्तिहेतुत्वाद् वाच माश्रित्य  
 देवत्वं प्राप्नुवन्नित्यर्थः † ।

“उपमेध्याश्च इतीति । मेधार्हाः यज्ञार्हाः इत्यर्थः ।  
 “अन्नवेरद्वयमिति ‡ ऋगुगागमः । शरभो नाम सिंहघातकः  
 कश्चिन्मृगविशेषः § । अष्ट मन्वत् ॥ २६ ॥

अथानुवेद्यानां मयुप्रभृतीनां पशूनां शोकादेवोत्पत्तिम् ,  
 ब्राह्मणस्य तदभक्षताश्च दर्शयन् , दिग्बिषये .तेषां निधानं ब्राह्म  
 — “तदाहुरिति ॥ । 'तत्' तदा , पञ्चालम्भानन्तरम् , 'प्रजा-  
 पतिः' 'एतेषां' पुरुषादीनां 'पशूनां' 'कां हृषं' पशुपापरुवा  
 मपहतवात् , 'ते' एव 'इते' मयुप्रभृतयः 'अथ पशवो' भवन्ति ।  
 'तत्' तत्र पशुविषये वेदविदः 'आहुः' , अतः 'ते' , पशवः  
 'उन्नास्तमेधाः' , तस्मैवाद्यप्रदर्शनम् 'अमेध्या इति , एतस्मैव विष-  
 रणम् 'अयश्चिवा इत्यपि । अतश्च 'तेषां' मध्ये क मपि पशुं  
 'ब्राह्मणो नान्नीयात्' । तथाकिधाननाद्यान् पशून् 'एतस्मां  
 दिशि' । इतस्मा मिति चभिन्नवेनोत्तरदिशो निर्देशः । तत्र

\* पा० १. ४. ३१ अ०१, २ वा० ।

† वा० सं० ३. ५१. ।

‡ पा० अ० ७. १. ५० ।

§ “शरभोऽपारुष्यविशेषः सिंहघाती” — इति वा० नृ० भा० मञ्जीधरः ।

॥ का० जी० १७. ५. २० ।



निदधाति । 'तस्मात्' 'एतस्याम्' उत्तरस्थां 'दिशि' 'पर्जन्यः' 'भ' वर्षुकाः' न वर्षति, 'यच्च' 'एते' पशवोऽवतिष्ठन्त इति कृत्वैत्वर्थः । उत्तरस्थां दिशि क्वचिन् मरुभूमौ पर्जन्यो न वर्षतीति प्रकृता सृगा अपि तत्रैव प्रचुरा इति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

उपस्थानानन्तरम्, पुनरन्विसमीप भागत्वोपतिष्ठत इत्याह — "प्रत्येत्येति † । तत्र कारणम् प्रतिजानीते— "एतद्वा इति । "एतदयथेति । 'अन्वी' 'सामिचिते' अर्हचिते । 'बहिर्वेत्थेति 'यत्', 'तत् कर्म' यथायथम्, यथास्वम् ; 'अयथायथम्' यथायथं न 'भवतीत्यर्थः', तथा कृतवान् भवति । अत उपस्थानेनऽर्हिसार्थं 'तस्मात्' 'अन्वये' 'एतत्' निष्कवनं करोति । निष्कवन मपनयः ‡, बहिर्वेदिगमननिबन्धन मपराधं परिमार्ष्टीत्यर्थः ॥

उपस्थानमन्व आन्वेयो गायत्रीऽनिरुक्तो यविष्ठशब्दयुक्तश्च भवेदित्याह— "आन्वेय्येत्वादिना । अन्वेर्गायत्रत्वं षष्ठकाण्डे प्रदर्शितम् † । "अनिरुक्तयेति । अविस्मष्टदेवतया । यच्च देवताविशेषवाचकं पदं नास्ति, तदनिरुक्तम् । 'यविष्ठ'-शब्दसु गुणवचनः, न पुनरिन्द्रादिशब्दवत् कस्यचिद्देवताविशेषस्य वाचकः । अनिरुक्तत्वादेवास्यान्वेयत्वम् । अनिरुक्तो 'मन्व आन्वेयः प्राजापत्यो वा भवतीति अनिरुक्तस्य सर्वत्वम्, साधारण्यात् ; तत् पुनर्देवताविशेषाप्रतिपादकत्वात् ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ६. १ ।

† अत्र नानापुस्तकेषु नानाविधाशुद्धपाठा दृश्यन्ते ।

‡ "तस्मादपिर्गायत्र इति" - इति † का० १. १. १५ ।

“एतद्वेति । ‘अस्य’ अग्नेः ‘यविष्ठ इति यत् एतत्’ पदम् ; तत् ‘प्रियं’ ‘धाम’ नामधेयम् । अथान्नी यविष्ठपदप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति — “यद्वा इति । यतोऽय मग्निर्विराड् रूपत्वात् ‘इदं सर्वं’ क्तञ्च मपि जगत् ‘अयुवत’ मिश्रितवान्, व्याप्तवानित्यर्थः । ‘तस्माद्’ असौ अग्निः ‘यविष्ठः’ । ‘अयुवतेति “यु मिश्रणामिश्रणयोः”-इत्येतस्य \* क्तिञ्च व्यत्ययेन शक्तिकरणे रूपम् । ‘यविष्ठ इति, “यु मिश्रणे” †, तस्य पचाद्यचि ‡, युवशब्दादिष्ठन्प्रत्यये § रूपम् । इष्ठन्प्रत्ययस्य तद्धितत्वात्, तद्धितानाञ्च प्रातिपदिकादित्वधिकारात्, प्रातिपदिकात् स्वाद्युत्पत्तेः । इदं सर्वं मयुवत, तस्माद् यविष्ठ इत्यर्थः । प्रदर्शनमात्रे तात्पर्यम्, यु-धातोरिष्ठनि ‘यविष्ठ’-शब्द इति ॥ प्रतिपाद्यते ॥ ३८ ॥

मन्त्रं व्याचष्टे—“त्वं यविष्ठेति ¶ । इविरादेर्दाढत्वाद्यजमानो ‘दाश्वान्’ । “दाश्वान् साह्वानित्यादिना \*\* “दाशु दाने”-इत्यस्माद् †† दाश्वान् शब्दो निपातितः । ‘वृष्’पाहीति “वृन् ये”-इति ‡‡ नकारस्य वः, “अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा”-

\* † अदा० प० २३ धा० ।

‡ पा० ख० ३. १. ११४ ।

§ पा० ख० ४. ६. १५६ ।

॥ पा० ख० ५. ३. ६४ ।

¶ वा० सं १३. ५२ ।

\*\* पा० ख० ६. १. १२ ।

†† अदा० उं० १८२ धा० ।

‡‡ पा० ख० ८. ३. १० ।

इत्यनुनासिकादेशः † । 'शुशुधीति', "शुशुषुपूज्जहभ्यश्चद्वसि"  
-इति † † ईर्षिरादेशः । "रक्षा तोक मिति । 'रक्षेति "इयचो-  
ऽतस्त्रिङ्" -इति † † दीर्घः । 'अनेति "मन्नेषाद्यादेरात्मनः"-  
इत्यादिलोपः † । हे 'यविष्ठ !' अन्ने ! त्वं 'दासुषे' यजमानस्य ।  
पठयन् चतुर्थी ॥ । 'नृन्' मनुष्यान् 'पाहि', 'नः' चस्माकं 'गिरः'  
स्तुतिरूपा वाचः 'शुशु' । न केवलं यजमानसम्बन्धिमनुष्यपालनं  
त्वया कार्यम्, अपि तु चात्मना सहितं 'तोकं' प्रजासन्ततिं  
'रक्ष' 'इति' मन्वार्थः ॥ १८ ॥

उपस्थानानन्तर मन्त्रिं पश्चाद्भागेनाह्वय, स्वयमाहवां  
प्रदक्षिणोक्तत्वं, मत्वा, अपस्यास्त्वा इष्टका उपदधादित्वाह  
— "आह्वयाम्नि मिति ॥ । अपस्योपधाने प्रयोजनं दर्शयितुं  
तावदेतासा मवात्मकत्वं माह— "आप एता इति ।  
तप्रयोजन माह— "अथ वा इति । 'अथ' खलु आत्मन्-  
समवे 'इतेभ्यः' पुरुषादिभ्यः 'पशुभ्यः' 'आप उत्क्रान्ता  
भवन्ति', अतएवापस्याया सुपधाने तासा मवात्मकत्वात् एतेषु  
'पशुष्वेव' 'अपः' निहितवान् भवति । तासां पशुगिरःसु अव्यवधा-  
नेनोपधान माह— "अनन्तर्हिता इति । एकोकस्मिन् प्रदेशे

० पा० ख० घ० १. २ ।

† पा० ख० १. ४. १०२ ।

‡ पा० ख० १. २. ११५ ।

§ पा० ख० १. ४. १४१ ।

॥ पा० २. ३. ६२ ख० १ वा० ।

¶ का० मी० ख० १०. १. २ ।

पञ्च-पञ्चीपदव्यादित्वाह — “पञ्च-पञ्चेति । पञ्च-पञ्च सर्वासु  
दिक्षूपधेया इत्याह — “सर्वत इति ॥ ४० ॥

प्रतिदिशं पञ्चानां सुपधाने विंशतिः सम्पद्यन्ते, तत्र  
याः पञ्चदश पूर्वा इष्टकाः, ता अपस्याख्या भवन्तीत्याह  
— “तद्या इति । पञ्चदशसङ्ख्यानां निवापस्यात् सुपपाद-  
यति — “वञ्चो वा इत्यादिना । अपां वञ्चत्वं नैशित्याद्यर्थं  
तल्लेचनात् † । तदेव श्रूयते — “तस्मादिन्द्रोऽविभक्त प्रजापति  
सुपाधावञ्चत्तुमेऽजनीति, तस्मै वञ्चं सिक्ता प्रायश्च्येदेतेन  
अहीति ‡ । पञ्चदशस्य वञ्चात्मकत्वं वीर्यवत्त्वात् । तत् पुनः  
प्रजापतेर्वीर्यवत्प्रदेशादुत्पत्तेः । अत एव श्रूयते — “उरसो  
बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमोतेत्यारभ्य, “तस्मांते वीर्यवन्तो  
(भवन्ति †) वीर्यावत्त्वञ्चन्तेति § । यत एवम्, तस्माद्येन मार्गेण  
आपो यन्ति, तत्र पापानं हन्त्येव; अपां वञ्चत्वात् ।  
वञ्च एव खलु तस्य भागस्य पापानं मपहन्ति । ‘तस्मात्’  
पापहन्नादेव ‘वर्धति’ पञ्चन्यः । ‘वञ्चः पापानम्’ ‘अपहन्त’  
मपहन्तु इति ‘अप्राहतः’ एव ‘व्रजेत्’ ॥ ४१ ॥

अपस्याभ्यः पञ्चदशभ्य उत्तराः पञ्चेष्टका विद्यन्ते, ताः छन्दस्या  
इत्याह — “अवेति । छन्दस्यानां सुपधानेन पञ्चपूर्वज्ञान्तमास-  
प्रतिनिधानं भवतीत्याह — “पञ्चो वा इत्यादिना । पञ्चर्त्वा

\* अथ हि सर्वेष्वेव मन्त्रेषु पुस्तकेषु अष्टाहः पाठः ।

† ते० सं० ४. ५. २. ३ ।

‡ तत्र संज्ञितायां भेतत् पदं नाधीयत इति ध्येयम् ।

§ ते० सं० ७. १. ३. ७ ।

हृन्दस्व' यज्ञसाधनत्वात् ; अथवा जगत्यानीतत्वात् । एतसैत्ति-  
रीयन्ने श्रूयते— “जगती सुदपतच्चतुर्हशाचरा सती, साप्राप्य  
न्यवर्त्तत, तस्मै हे अक्षरे अमीदेतात्, सा पशुभिश्च दीक्षया चा-  
गच्छदिति \* । “अत्र सु पशोर्मांस मित्यनेनाद्यं पशव इत्ये-  
तदुपपादितम् । एवञ्च सति हृन्दस्थानां पञ्चात्मकत्वेन मांस-  
रूपत्वात् आलम्भावसरे उक्तान्तानि मांसानि पुनरिदेषु  
प्रतिनिहितवान् भवति । तासां मय्यपस्त्रावदव्यधानेनोपधान  
माह— “अनन्तर्हित मिति । अपा सुदरमध्ववर्त्तित्वेन अन्तर-  
त्वात् मांसानां ततो बाह्यत्वम् । तथैवापस्त्रा अन्तराः, हृन्दस्था  
बाह्या भवेयुरित्याह— “अन्तरा अपस्या इति । उक्तप्रकारेण  
पशुव्यापरे मांसानि च सम्पादितानि ॥ ४२ ॥

नेतावता तेषां कारकं सम्यद्यते ; किन्मुनस्ततोऽपि बाह्यो-  
स्त्वन्धोऽपि कारकत्वेनात्रत्वात् । हृन्दस्थानां चात्रात्मकत्व-  
स्योक्तत्वात् उपधानेनैव तयोरव्युपधानं सम्पादित मिति,  
तदाह— “तदाहुरित्यादि । तत्रोत्तरं दर्शितम्— “अन्नं वाव  
पशोरिति । प्रकारान्तरेण पशूनां क्षीमसम्पत्ति माह— “अथो  
इति । अथाजिनक्षीमानुवहया अदा सूत्राया निर्माणात्,  
उखायाश्चाक्षीमानि † सन्तीति, तास्येव पशूनां क्षीमानि  
भवन्ति । क्षीमाधारत्वेनोखाया अभिधानात् उखाक्षीमानीत्वभि-  
प्रेत्य “बाह्योखा भवतीत्यादिनोक्तस्यैवाद्यं उपपादनम् ॥

\* ते० ब००५. १. ६. ४ । '

† 'उखायां वाणि क्षीमानि'—इति अ-पाठः ।

त्वन्मोससम्पादने उक्तं पञ्चदश मपि अभिमतं मित्वाह — “य-  
दीति । ‘यदि’ ‘इतरेष’ अन्येन प्रकारेण तत्सम्पादनं भवति, तर्हि  
तथैवाह । अथ वा ‘इतरेष’ प्रकारान्तरेण यदि भवति, तर्हि तथै-  
वास्त्विति, अन्योन्यापेक्षया उभयोरपीतरत्वम् । अपस्याद्युपधानिना-  
द्यादिसम्पादनं केन विवक्षितं मिति, तत्राह — “इति ह आह  
शास्त्रिण इति । केनापि तेनाभिप्रायेणैव मुक्तं मित्यत आह —  
“सर्वानेवेति । ‘सर्वानेव पशून्’ ‘ज्ञात्स्वान्’ कात्स्वयेन ‘संस्तुर्मः’  
सर्वावयवसम्पादनेन सृष्ट्वान् ‘कुम्भः’ ‘इति’ अभिप्रायेण, तद्योक्तं  
मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

प्रकारान्तरेणाप्यपस्वाना उपधानं प्रशंसति — “यदेवेति ।  
विस्वस्तावयवात् ‘प्रजापतेः’ ‘चापः’ ‘चायन्’ निर्गताः † ततः  
‘तासु’ निर्गतासु ‘अविद्यत्’ अपविष्टवान् ‡ । अपां निर्गमनेन  
दौर्बल्याद् गन्तु मन्मनः ¶, तथैवापविष्टवानित्यर्थः । ततश्चाप-  
वेशनसाधनत्वात् अपस्वा ‘विद्यतिः’ सम्पन्नाः § । यद्यपि  
“तथाः पञ्चदश पूर्वास्ता अपस्वाः”-इत्युक्तम् ¶, तथापि छन्द-  
स्वासाहित्येनाथ विद्यतिरित्युक्तम् । सर्वासां वापस्वाशब्दे-  
नाभिधानं भूयोल्लिङ्गात् “छट्टीरपदधातीतिवत् § । अथ वा  
“तथा अस्मैतन्मन्मन्दीभ्य चाप चायन्ति ॥ वृक्षमाणत्वात्, सर्वा

•• ‘उपविष्टवान्’—इति उ-पाठः ।

† ‘मन्मनो भूत्वा’—इति म-पाठः ।

‡ इत्येव पुरस्तात् ४२-कठिकारम्भे ( ३८९ पृ० ) इत्युक्तम् ।

§ ‘छट्टीरपदधाति यथाहृत् मेव अवरन्त्ये’—इति तै० सं० ५. ३. ४. १६ ।

|| इत्येवोपरिहात् ४१-कुम्भां ( ४६७ पृ० ) प्रत्ययम् ।

अव्यपस्था भवन्तीति । आपो निर्गमनावसरे 'अस्य अङ्गुलिभ्यो ऽध्वस्त्रवन्' । निर्गच्छन्तीना मपा मस्य प्रजापतेः अन्तते निर्गमनाद् , अङ्गुलीनां चान्तत्वादिति ॥ ४४ ॥

एवं सति "स यः स प्रजापतिर्व्यंक्षंसतेति । 'सोऽय मेव', 'स' इदानीम् 'अग्निश्चीयते' । 'अथ' प्रजापतेः सकाशाद् 'याः' आपः निर्गताः , 'ता अपस्थाः' । ततश्चैतासा मत्रोपधाने ततो निर्गत अप एव 'प्रतिदधाति' ॥ ४५ ॥

अथ क्रमिण तासा सुपधाने मन्वान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे-  
"अपां त्वेमन्नित्यादिना \* । यदा हि एष वायुरितश्चेतश्च वाति तदा 'आपः' 'यन्ति' चलन्ति ; अतश्च वायुरनेन यन्त्वाप इ' व्युत्पत्त्या 'एम' † । "इष् गतौ"-इत्यस्मात् ‡ "अन्धेभ्यः दृश्यन्ते"-इति § मनिन् प्रत्ययः । स च व्यत्ययेन करणे इष्टः "एमन्नादिषु ह्रस्वसि पररूपम् वक्तव्यम्"-इति ॥ प त्वम् ॥ ४६ ॥

"अपां त्वोन्नक्ति ष । "यच्च हीति । आपो यत्र प्रदेशे स त्वस्तिष्ठन्ति , तच्च ओषधयो जायन्ते इति , अधिकारणव्युत्पत्तौ 'अपा मोन्नओषधयः' । "उन्दो त्वेदने"-इत्यस्मात् \*\* पूर्व

\* का० श्रौ० सू० १७. ६. २ ।

† वा० सं० १३. ५३. १ ।

‡ अदा० प० ३५ धा० ।

§ पा० सू० ३. २. ७५ ।

॥ पा० ६. १. ७० सू० वा० ।

¶ वा० सं० १३. ५३. २ ।

\*\* इ० प० १० धा० ।

निन् प्रत्ययः । ह्यान्दसे अगुनासिकलोपे, गुणे च षोष्-  
कृति भवति । पूर्ववत् पररूपत्वम् \* ॥ ४७ ॥

“अपां त्वा मिति † । “अभ्रं वा अपां भस्मेति । “अभ्रं”  
पेचः, स चासु निर्गतासु निस्सारत्वादपाभस्मेत्युच्यते । एवं  
सन्न मेघः । “भस्मकृति “सुपां सुलुगित्वादिना ‡ सप्तम्या  
ङ्क्, “न डिस्त्वद्गोः”-इति § न-लोपाभावः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

“अपां त्वायन इति ॥ । “इयं वा अपा मयन मिति । सर्वा  
पय्यापः पृथिवी मधिष्ठायैव प्रवहन्तीति । “तद्या इति ।  
तत् तदा विस्त्रंसनावसरे खलु ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘एतेभ्यः’  
वाय्वादिभ्यो ‘रूपेभ्यः’ ‘आपः’ निर्गताः, तथाविधाः ‘ताः’  
एव ‘अस्मिन्’ प्रजापती प्रतिदधाति । न केवल मपा स्वे  
तधानम्, अपि तु ‘एतेभ्यः’ येभ्यः ‘रूपेभ्यः’ ‘सुपः’ निर्गताः,  
मपि तदा निर्गतत्वात् तान्यपि पुनरस्मिन् योजयति ॥

उक्तमन्त्रसाधोपधानाः पञ्चेष्टकाः पूर्वस्थां दिशि उप-  
स्थात् । एवं वक्ष्यमाणमन्त्रसाधोपधाना अपौष्टकाः पञ्च-  
अष्ट दक्षिणादिषु दिक्षु उपस्थेयाः ॥ ५० ॥

“अर्षवे त्वेति ¶ । “प्राणो वा अर्षवः इति । अर्षो जलम् ,

\* इत्येव ४६-कण्ठीभाष्येणो द्रष्टव्यः ।

† वा० सं० १३. ५३. ६ ।

‡ पा० सू० ७. १. ३६ ।

§ पा० सू० ८. २. ८ ।

॥ वा० सं० १३. ५३. ५ ।

¶ वा० सं० १३. ५३. ६ ।



तद्दान् । अर्थः शब्दात् मत्वर्थादे व-प्रत्यये “अर्थसो लोपश्च” इति \* सकारलोपः । अर्थवत्त्वं च प्रायेण अस्य चोयमानत्वादिति ॥ ५१ ॥

“समुद्रे त्वेति † । “तदेव श्लोकोऽभ्युक्त इति । “मनसः समुद्राहावाभ्रया देवास्त्रयीं विद्यां निरखनन्”-इत्यस्मिन्नर्थे ‘एवः’ वक्ष्यमाणो मन्त्रः ‘अभ्युक्तः’ इति प्रतिज्ञा । तत्र “ये समुद्रादित्वारभ्य, यत्र निर्वपचं दधुः”-इत्यन्तो मन्त्रः ‡ । एतस्मिन् मन्त्रे स्वयं मेव प्रकृतोपयोगीनि पदानि व्याचष्टे— “मनः समुद्र इति । ‘समुद्रप्रदिति पञ्चम्यन्तस्य पदस्वार्थो ‘मनः’ । तीष्णाभिरन्ध्रिभिरित्यस्य वागर्थः— “वाक् तीष्णाभिरिति । ‘निर्वपच मित्यस्य च ‘त्रयी’ ऋष्यशुक्लामलकचपा विद्या’ अर्थः । पुनः “तदेव श्लोक इत्युपसंहारः । अत उक्तप्रकारेण ‘समुद्रो मन इति, मनस्वेव ‘ताम्’ इष्टकां ‘सादयति’ ॥ ५२ ॥

“सरिरे त्वेति § । “वाग्ये सरिरे मिति । सरस्वत्येन वाक् सखिलां शतुः ; अतो वाचि तां सादितवान् भवति ॥ ५३ ॥

“अपां त्वेति ॥ । “तत्र ऽहीति । ‘तत्र’ चक्षुषि, ‘सर्वदेव

\* पा० ५. २. १०६ अ० वा० ।

† वा० सं० १३. ५३. ७ ।

‡ “ये समुद्रान्निरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरन्ध्रिभिः ।

सुदेवो ऽथवा तद् विद्याद् यत्र निर्वपचं दधुः ॥”

—इतीहैव मूले ( ३८६ ए० ) प्रकृतम् ।

§ वा० सं० ३३. ५३. ८ ।

॥ वा० सं० १३. ५३. ९ ।

‘आपः’ ‘सिधिमि’ निवसन्ति खलु, अतः ‘अक्षरपां अयः’ ॥ ४५ ॥

“अपां त्वा सधिषीति \* । अप अपां सधिः-इति सधिसन्धेन खान्मुच्यते; ओषस्वान्तरार्द्धाभावात् । एतच्च जैसिरीयके श्रूयते—“तस्मादादार्द्रा अन्तरतः प्राया इति † ॥ ५५ ॥ ५६ ‡ ॥

“अपां त्वा सधस्य इति § । ‘सधस्य इति, “सध मादस्यो-  
स्य दसि”-इति ॥ सह-शब्दस्य सधादेशः । आपोऽस्मिन् सभूय  
तिष्ठन्तीति अन्तरिच मपां सधस्यम् ॥ ५७ ॥

“अपां त्वा योनाविति ¶ । “समुद्रो वा अपां योनिरिति ।  
समुद्रस्य सकाशादपा मुत्पत्तेः ‘अपां यीनिः समुद्रः’ ॥ ५८ ॥

“अपां त्वा पुरीष इति \*\* । “सिकता वा अपां पुरीष मिति ।  
सुतस्य निस्सारोऽंशो लोके पुरीषशब्दवाच्यः; तद्वत् सिकतानी  
मपि निस्सारत्वात्पुरीषत्वम् ॥ ५९ ॥

“अपां त्वा पायसीति †† । “अन्नं वा इति । ‘पायः’ सारांशः,  
पेयस्य तत्काम्याद्यत्वेन तत्सारत्वाच्च मपाम्नाद्यः ॥ ६० ॥

“गायत्रेणेति ‡‡ । “गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामीत्वादिभिः

\* वा० सं० १३. ५३. १० ।

† ते० सं० ६. २०. ११. ८ ।

‡ वा० सं० १३. ५३. ११ ।

§ वा० सं० १३. ५३. १२ ।

॥ पा० छ० ६. ३. ६६० ।

¶ वा० सं० १३. ५३. १३ ।

०० वा० सं० १३. ५३. १४ ।

†† वा० सं० १३. ५३. १५ ।

‡‡ वा०, शौ० छ० १०. ६. ३ ।

पञ्चभिर्मन्त्रैः \* उत्तरस्त्रीं दिशि हृन्दस्या उपदधात् । गायत्रे-  
त्वादिषु स्त्रीर्षिकोऽण् प्रत्ययः । स्वष्टार्थं मन्यत् ॥ ६१ ॥

अथारा मपस्याना मङ्गुल्यात्मकत्व माह — “ता एता अङ्गु-  
लय इति । “ता अस्याङ्गुलिभ्योऽध्यस्त्रवन्”-इत्युक्तत्वात् † ‘ताः’  
अपस्याः ‘अङ्गुलयः’ इत्यर्थः । उक्त मीवाङ्गुल्यात्मकत्व सुपपाद-  
यति — “ताः सर्वत उपदधातीत्यादिना । तत्र ‘नानोपद-  
धातीति, पृथक्-पृथगुपदधाति, उपधानमन्वाः पृथक्-पृथग्  
भवेयुरित्यर्थः । “सक्तदिति । पञ्चानां पञ्चानां सक्तत् सादन-  
मन्वः ; न तु उपधानमन्ववत् प्रतीष्टक मित्यर्थः । एवं च  
सति तद्विष्टकानां स्वरूपं, समानसम्बन्धं करोति । ‘तस्मात्’  
अङ्गुलयः पञ्च ‘समानबन्धनाः’ एकस्मिन्नेव हस्ते पञ्च-पञ्च  
सम्बध्यन्त इत्यर्थः ॥ ६२ ॥ २ [५. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमोऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो षाडं निवारयन् ।

पुमर्थाङ्गुरो देयाद् विद्यातीर्थमङ्घ्रिधरः ॥ ५ ॥

\* वा० सं० ३३. ५३. १६-२० ।

† इत्येव ४४-कण्ठी ( ३८४ पृ० ) द्रष्टव्या ।

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूर्वेषु स्वर्णगर्भम् ,  
 सप्तम्बीन् \* पञ्चसीरीं†-स्त्रिदशतत्कलताधेनुसौवर्णभूमिः ।  
 रत्नीस्रां रत्नवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः ‡ सिङ्गणार्यौ § ,  
 व्यश्राणोद्विखचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णसुख्यः ,  
 कार्पासोयं कृपावान् गुडकृत मज्जडो ॥ राजतं राजपूष्यः ।  
 षाण्ण्योत्थं प्राण्यजन्मा ¶ लवणज मन्वृणः शार्करं चांकीतेजाः ,  
 रत्नाब्जो रत्नरूपं गिरि मज्जत मुदा पात्रसात्सिङ्गणार्यः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्णप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमीऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः ॥ ॥

\* 'पञ्चम्बीन्'—इति ठ-पाठः । † 'सप्तसीरीं'—इति ठ-पाठः ।

‡ 'सायकः' स्यात् ?

§ स्यात् 'सिङ्गणार्यौ' ?

¶ 'मज्जडं'—इति ठ-पाठः ।

‡ 'प्राण्यद्विद्वि'—इति ठ-पाठः ।

०० इत उत्तर मिह क-पुस्तके, "कृत्तिकासङ्घा ७५"—इति, ख-पुस्तके-  
 इत्यपत्रं नास्ति, ग-प-पुस्तकयोः "कृत्तिकासङ्घा १००"—इति । तत्र  
 १ ना० १८ क०, २ ना० ११ क० । तदासां सङ्कलनयास्मिन् प्रपाठके  
 १०० कृत्तिकाः सन्त्यहन्ते ।

। इति इतिघट' नाम सप्तमं काण्डं \* समाप्तम् ॥

---

• अथ सप्तमे काण्डे श्रीसत्यव्रथा दार्ढ्ये । तत्र प्रथमे प्रपाठके ४,  
द्वितीये ४७, तृतीये २, चतुर्थे २।० इत्येवमादिषु कविकाः १६८ ।  
तत्र प्रथमे प्रपाठके १०८, द्वितीये १०५, तृतीये ८५, चतुर्थे १०० ।  
तदेतद्वर्षवृत्तयनयन काण्डे ११ श्रीसत्यानि मुक्तानि, तत्र च १६४  
कविकाः यन्तीति विद्वन् ।

